ॐ

परमात्मने नमः

आत्मभावना

परमपूज्य आचार्यश्री पूज्यपाद विरचित समाधितन्त्र ग्रन्थ पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के अध्यात्मरस भरपूर प्रवचन

: गुजराती संकलन :
ब्रह्मचारी हरिलाल जैन
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

: हिन्दी अनुवाद :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

निवेदन

केवल्य सुख के अभिलाषी जीवों के लिये मैं विविक्त आत्मा का स्वरूप कहूँगा— ऐसे ध्येयपूर्वक इस समाधिशतक की रचना श्री पूज्यपादस्वामी ने १४०० वर्ष पूर्व की है; वह वास्तव में देहादिक से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा की भावना कराकर अन्तर में समाधि सुख जगाता है और जिसे ऐसी आत्मभावनारूप समाधि जगी है उसे देह छूटने का प्रसङ्ग तो एक वस्त्र बदलने जैसा अत्यन्त सहज लगता है। आत्मा को पहले से देहादि समस्त वस्तुओं से पृथक् ही जाना है और उसकी ही भावना भायी है वह आत्मभावना सदा ही शान्ति की दातार है।

आहा! एक ओर शान्ति के महासागर चैतन्य तत्त्व का परमसुख; दूसरी ओर देहबुद्धिरूप अज्ञान से चारगति में घोर दुःख.... जिनमार्ग के वीतरागी सन्तों ने भेदज्ञान करके देहबुद्धि छोड़कर अर्थात् अनादि संसार के घोर दुःख से वे छूटे हैं और चैतन्य के महासागर में गहरे उतरकर कोई परम अतीन्द्रिय समाधि सुख की अनुभूति की है। ऐसे सन्तों ने करुणा करके भव्य जीवों को भी उस समाधि सुख का मार्ग उपदेशित किया है।

इस समाधिशतक पर पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रवचन भी वही मार्ग दिखलाते हैं। वीर संवत् २४८२ में जब समाधिशतक पर प्रवचन चल रहे थे तब मानो कि चैतन्य की कोई परम शान्ति का मधुर झरना ही बहता हो! ऐसा लगता था। अध्यात्मरस झरते ये प्रवचन आत्मा को संसार से विरक्त करके चैतन्य की परम शान्त... शान्त... गुफा में सुखमय समाधि जगाते थे। अत्यन्त सुगम, वैराग्य प्रेरक, शान्तिदातार, आत्मभावना से भरपूर ऐसे ये प्रवचन 'आत्मधर्म' मासिक में लेखमालारूप से प्रकाशित हो चुके हैं और ये पुस्तकरूप भी प्रकाशित हो ऐसी बहुत से जिज्ञासुओं की भावना थी, तद्नुसार आज यह 'आत्मभावना' पुस्तक प्रकाशित हो रही है।

समाधितन्त्र शास्त्र गुजराती भाषा में प्रकाशित है उसमें बहुत जगह इन प्रवचनों का उद्धरण भावार्थरूप से या विशेषार्थरूप से लिया गया है (देखो, गाथा ५, ३०, ३१, ३५,

३६, ३८, ३९, ४०, ४७, ४८, ४९, ५३, ५५, ५८, ६२, इत्यादि) शास्त्रकार श्री पूज्यपादस्वामी कैसे महान प्रभावशाली सन्त थे तत्सम्बन्धी कितना ही परिचय इस पुस्तक में प्राप्त हो जायेगा। दक्षिण के पहाड़ों, अनेक प्राचीन शिलालेखों द्वारा आज भी उनके गुणगान गाये जाते हैं। कितने ही महान शास्त्रकारों ने शास्त्र के मङ्गलाचरण में उनका स्मरण किया है। उनका रचित यह शास्त्र आत्मा को संसार के क्लेशों से छुड़ाकर परम शान्तिरूप समाधि जागृत करता है.... निर्विकल्प चैतन्यरस पिलाता है।

मुमुक्षु जीव इस आत्मभावना पुस्तक में दर्शाये गये देहादिक से भिन्न आत्मा की बारम्बार भावना करो और स्वानुभूति तक पहुँचकर निर्विकल्प समाधि के परम आनन्द को प्राप्त करो।

कुन्दकुन्द प्रभु-आचार्यपद जयन्ती
मगसिर कृष्ण अष्टमी
सोनगढ़

ब्रह्मचारी हरिलाल जैन

ॐ

णमो सिद्धाणं

आत्मभावना

परमपूज्य आचार्यश्री पूज्यपाद विरचित समाधितन्त्र ग्रन्थ पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के अध्यात्मरस भरपूर प्रवचन

यह समाधितन्त्र शुरु होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह समाधि है। समाधि कहो या आत्मा की शान्ति कहो, उसकी प्राप्ति कैसे हो ? ऐसी 'आत्मभावना' का वर्णन श्री पूज्यपादस्वामी ने इस समाधिशतक / समाधितन्त्र में किया है।

श्री पूज्यपादस्वामी परम दिगम्बर सन्त थे। उनका दूसरा नाम देवनन्दि था। लगभग १४०० वर्ष पहले वे इस भरतभूमि में विचरण करते थे और जैसे श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव, भगवान श्री सीमन्धर के पास विदेहक्षेत्र गये थे, वैसे यह पूज्यपादस्वामी भी विदेहीनाथ के दर्शन से पावन हुए थे - ऐसा उल्लेख श्रवणबेलगोल के प्राचीन शिलालेखों में है। इन्होंने सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थसूत्र की टीका) तथा जैनेन्द्र व्याकरण इत्यादि महान ग्रन्थों की रचना की है। इनकी अगाधबुद्धि के कारण योगियों ने इन्हें 'जिनेन्द्रबुद्धि' कहा है। ये परम ब्रह्मचारी तथा विशिष्ट ऋद्धियों के धारक थे। ऐसे महान आचार्यश्री पूज्यपादस्वामी रचित समाधितन्त्र अथवा समाधिशतक का वाचन शुरु होता है।

सकल विभाव अभावकर, किया आत्मकल्याण।
परमानन्द-सुबोधमय, नमूँ सिद्ध भगवान॥ १॥
आत्मसिद्धि के मार्ग का, जिसमें सुभग विधान।
उस समाधियुत तन्त्र का, करूँ सुगम व्याख्यान॥ २॥

मङ्गलाचरण में सिद्ध परमात्मा को नमस्कार

येनात्माऽबुद्ध्यतात्मैव परत्वेनैव चापरम्।
अक्षयानन्त बोधाय तस्मै सिद्धात्मने नमः ॥१॥

नमूँ सिद्ध परमात्म को, अक्षय बोध स्वरूप।
जिन ने आत्मा आत्ममय, पर जाना पररूप ॥१॥

अन्वयार्थ :- (**येन**) जिसके द्वारा (**आत्मा**) आत्मा, (**आत्मा एव**) आत्मारूप से ही (**अबुद्ध्यत**) जाना गया है (**च**) और (**अपरं**) अन्य को-कर्मजनित मनुष्यादिपर्यायरूप पुद्गल को (**परत्वेन एव**) पररूप से ही (**अबुद्ध्यत**) जाना गया है, (**तस्मै**) उस (**अक्षयानन्तबोधाय**) अविनाशी अनन्तज्ञानस्वरूप (**सिद्धात्मने**) सिद्धात्मा को (**नमः**) नमस्कार हो।

जिसके द्वारा आत्मा, आत्मारूप से ज्ञात होता है और पर, पररूप से ज्ञात होता है तथा जो अक्षय-अनन्त बोधस्वरूप हैं — ऐसे सिद्ध-आत्मा को हमारा नमस्कार हो।

हे सिद्धपरमात्मा! आपने आत्मा को आत्मारूप से जाना है और पर को पररूप से जाना है और इस प्रकार जानकर आप अक्षय-अनन्त बोधस्वरूप हुए हैं; इसलिए ऐसे पद की प्राप्ति के लिए मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

देखो! यह मङ्गलाचरण!! मङ्गलाचरण में सिद्ध भगवान को याद किया है। सिद्ध भगवान को जानने से यह आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप से ज्ञात होता है और सिद्ध भगवान से पृथक् ऐसा सब पररूप से ज्ञात होता है।

सिद्ध भगवान जैसे अपने आत्मा को पर से भिन्न जाना, उसमें समस्त शास्त्रों का पठन आ गया। इस आत्मा का स्वभाव, सिद्ध भगवान जैसा है। जैसा सिद्ध भगवान का

आत्मा है, वैसा मेरा आत्मा है और इसके अतिरिक्त जो रागादि हैं, वे मेरे आत्मा का स्वभाव नहीं है। ऐसी पहचान करना, वह समस्त शास्त्रों का सार है।

हे सिद्ध परमात्मा! आप केवलज्ञान की मूर्ति हैं, परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप हैं और रागरहित हैं; ऐसा ही मेरे आत्मा का स्वभाव है, इस प्रकार सिद्ध भगवान को पहचानने पर वैसा अपना आत्मस्वभाव जाना तो उसने अपने आत्मा में ही सिद्ध भगवान को उतारकर, अन्तर्मुख होकर सिद्ध भगवान को नमस्कार किया।

णमो सिद्धाणं — सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार हो। कैसे सिद्ध भगवान? जिन्हें रागादि नहीं और परिपूर्ण केवलज्ञान है; इस प्रकार सिद्ध के आत्मा को जानने से रागरहित और ज्ञानसहित ऐसा आत्मा ज्ञात होता है। सिद्ध का आत्मा शुद्ध है; इसलिए उसे जानने से आत्मा का शुद्धस्वरूप ज्ञात होता है और स्व-पर का भेदविज्ञान होता है। जिसने ऐसा भेदविज्ञान किया, उसने सिद्ध भगवान को परमार्थ नमस्कार किया है।

सिद्ध में जो है, वह स्व;
सिद्ध में जो नहीं, वह पर।

इस प्रकार सिद्ध भगवान को जानने से स्व-पर का भेदविज्ञान होता है; इसलिए मङ्गलाचरण में सिद्ध भगवान को नमस्कार किया है। इस तरह सिद्ध भगवान जैसे शुद्ध आत्मा का निर्णय करना, वह सम्यग्दर्शन है और वह पहला अपूर्व धर्म है।

अहो! देखो यह आदर्श!! आत्मा के आदर्शरूप से सिद्ध को स्थापित किया है और दूसरा सब लक्ष्य में से निकाल दिया है। जिसने ऐसा लक्ष्य किया है, उसने ही सिद्ध को नमस्कार किया है। जिसने सिद्ध का विनय किया, वह राग का आदर नहीं करता और जो राग का आदर करता है, उसने रागरहित सिद्ध भगवान का आदर वास्तव में नहीं किया है। आत्मा का शुद्धस्वरूप और रागादि, इन दोनों के भेदज्ञान बिना सिद्ध भगवान को वास्तव में पहचाना नहीं जा सकता। जिसने सिद्ध भगवान को पहचाना, उसने अपने शुद्धस्वभाव को सिद्ध समान जाना है और राग को स्वभाव से भिन्न जाना है; इस प्रकार राग से पराङ्मुख होकर अपने शुद्धस्वरूप में झुका, उसने सिद्ध को वास्तविक नमस्कार किया है।

सिद्ध भगवान को कभी किसी संयोग में रागादि नहीं होते। जो जीव, राग को भला

/ इष्ट मानता है, उसने रागरहित सिद्ध को वास्तव में इष्ट नहीं माना है। सिद्ध भगवान को इष्ट माननेवाला, अपने शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप को ही इष्ट मानकर, उस ओर ही झुकता है, उस ही का आदर करता है; राग का आदर वह नहीं करता है। सिद्ध भगवान को जानने से आत्मा अपने शुद्धस्वरूप को जानता है; इसलिए माङ्गलिक में सिद्ध भगवान को नमस्कार किया है।

समयसार के माङ्गलिक में भी **वंदित्तु सव्वसिद्धे** कहकर कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने सिद्ध भगवान को नमस्कार किया है क्योंकि सिद्ध भगवान, शुद्ध आत्मा के प्रतिछन्द के स्थान पर हैं; इसलिए उनके स्वरूप को जानने से शुद्ध आत्मा का स्वरूप ज्ञात होता है। इसी प्रकार यहाँ पूज्यपादस्वामी ने भी सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार किया है। 'जो सिद्ध का स्वरूप, वह मेरा स्वरूप; और जो सिद्ध के स्वरूप में नहीं, वह मेरा स्वरूप नहीं।' इस प्रकार सिद्ध को पहचानने से स्व-पर का भेदज्ञान होता है, वह अपूर्व मङ्गल है।

आत्मा की अवस्था में जो मोह-राग-द्वेष के भाव हैं, वे विभाव हैं, उनमें असमाधि है; आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप समाधि द्वारा उन सकल विभावों का अभाव करके जो सिद्ध हुए, उन सिद्ध भगवन्तों को मैं नमस्कार करता हूँ। सिद्ध भगवान कैसे हैं? परम आनन्द और ज्ञानमय हैं, अपना आत्मकल्याण किया है और समस्त विभाव का अभाव किया है।

ऐसे सिद्ध भगवन्तों को पहचानकर यहाँ उन्हें नमस्कार किया है - किस प्रकार? जैसे सिद्ध भगवान हैं, वैसी ही सामर्थ्य मेरे आत्मा में है, ऐसे सिद्धसमान अपने आत्मा को प्रतीति में लेकर, सिद्ध भगवान को नमस्कार किया है। नाटक समयसार में कहते हैं कि **चेतनरूप अनूप अमूरत सिद्धसमान सदा पद मेरो।**

सिद्ध भगवान जैसा परिपूर्ण ज्ञान और आनन्द मेरे आत्मा में भरा है — ऐसे सिद्धसमान आत्मा को प्रतीति में लेना, वह सिद्ध होने का मार्ग है और वही सिद्ध भगवान को परमार्थ नमस्कार है, वह अपूर्व माङ्गलिक है।

इस प्रकार माङ्गलिकरूप से सिद्ध भगवान को नमस्कार करके, जिसमें आत्मसिद्धि के मार्ग का सरल उपाय बतलाया है, ऐसे इस समाधितन्त्र के व्याख्यान का प्रारम्भ किया जाता है।

शास्त्रकर्ता श्री पूज्यपादस्वामी, मोक्ष के इच्छुक भव्यजीवों को मोक्ष का उपाय और मोक्ष का स्वरूप बतलाने की इच्छा से, शास्त्र की निर्विघ्न समाप्ति इत्यादि फल की इच्छा करते हुए विशिष्ट देव श्री सिद्ध भगवान को नमस्कार करते हैं। देखो! सबसे पहले तो मोक्षार्थी जीव की बात ली है; जो जीव मोक्षार्थी है... आत्मार्थी है... मैं कौन हूँ और मेरा हित कैसे हो? – ऐसी जिसे आत्मा के हित की जिज्ञासा जगी है, ऐसे जीव को मोक्ष का उपाय बतलाने के लिये इस शास्त्र का उपदेश है। 'काम एक आत्मार्थ का' अर्थात् जिसे एक आत्मार्थ की ही भावना है, दूसरी कोई भावना नहीं; आत्मा का ही अर्थी होकर श्रीगुरु के समीप हित का उपाय समझने आया है और पूछता है कि प्रभु! इस आत्मा को शान्ति कैसे हो? इस आत्मा का हित कैसे हो? ऐसे आत्मार्थी जीव को, इस आत्मा के मोक्ष का उपाय, आचार्यदेव बतलाते हैं।

जिसे लक्ष्मी कैसे मिले या स्वर्ग कैसे मिले? – ऐसी भावना नहीं परन्तु आत्मा के हित की भावना है, वह जिज्ञासु होकर, श्रीगुरु आचार्य के समीप उसका उपाय समझने आया है। लक्ष्मी में या स्वर्ग के वैभव में आत्मा का सुख नहीं है, यदि उनमें सुख होता तो इन्द्र और राजा भी मुनियों के चरण की सेवा क्यों करते? मुनिवरों के पास तो लक्ष्मी इत्यादि नहीं है और इन्द्र के पास तो बहुत वैभव है, तथापि वह इन्द्र भी मुनि के चरण में नमस्कार करता है; इससे यह निश्चित हुआ कि लक्ष्मी इत्यादि में सुख नहीं है और लक्ष्मी इत्यादि की जिसे भावना है, उसे आत्मा के हित की भावना नहीं है। यहाँ तो अन्य समस्त रुचि छोड़कर एक आत्मा के हित की ही उसे भावना है, ऐसे मुमुक्षु जीव को आचार्यदेव, आत्मा के हित का उपाय बतलाते हैं।

आत्मा ज्ञान-आनन्दस्वरूप है। उसकी श्रद्धा करके, उसमें लीन होने से निर्विकल्प शान्ति हो, उसका नाम समाधि है। यह समाधि, मोक्ष का उपाय है और इसका फल, मोक्ष है।

यहाँ ग्रन्थकर्ता, तथा श्रोताओं को आत्मा की मुक्ति की अभिलाषा है; इसलिए मुक्ति प्राप्त ऐसे सिद्ध भगवान को नमस्कार किया है। इस मङ्गलाचरण के श्लोक में मोक्षमार्ग का तथा मोक्ष का उपाय बतलाया है। सिद्ध भगवान को जानने से 'आत्मा,

आत्मारूप से ज्ञात होता है और पर, पररूप से ज्ञात होता है' — ऐसा भेदज्ञान, वह मोक्ष का उपाय है और परिपूर्ण ज्ञान एवं आनन्दरूप दशा प्रगट हो, वह मोक्ष है।

सिद्ध के स्वरूप को जानने से आत्मा, आत्मारूप से ज्ञात होता है; — कैसा आत्मा? कर्म, शरीर और कर्म की उपाधि से हुए विभावभाव, इन सबसे रहित ज्ञान-आनन्दस्वरूप आत्मा है, वही मैं हूँ; इस प्रकार आत्मा, आत्मारूप से ज्ञात होता है। रागादि विभाव या नर-नारकादि विभावपर्यायें, वे आत्मा का स्वभाव नहीं परन्तु आत्मा के स्वरूप से भिन्न है, क्योंकि सिद्ध भगवान को वे नहीं हैं; इस प्रकार सिद्ध भगवान को जानने से आत्मा का स्वरूप ज्ञात होता है और शरीरादि, पररूप ज्ञात होते हैं। विकार, वह जीव की पर्याय होने पर भी, सिद्ध के आत्मा में वह नहीं है इसलिए वह पर है; जीव का स्वरूप नहीं है। जीव का स्वरूप तो अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख और वीर्य सम्पन्न है। ऐसे निजस्वरूप को जानने से, उसके आश्रय से मोक्षमार्ग तथा मोक्ष प्रगट होता है।

जो सिद्ध भगवान में हो, वह स्व;

जो सिद्ध भगवान में न हो, वह पर।

जो मोक्ष का अभिलाषी हो, वह जीव, सिद्ध भगवान को अपने ध्येयरूप रखकर इस प्रकार स्व-पर का भेदविज्ञान करता है।

मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, ज्ञान और आनन्द ही मेरा स्वरूप है। इन्द्रियाँ या शरीरादि मुझसे पर है; विकार भी वास्तव में मेरे स्वरूप से पर है। जड़ से भिन्न और विकार से भिन्न मेरा शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप ही मुझे परम इष्ट है और ऐसे स्वरूप को प्राप्त श्री सिद्ध भगवान भी निमित्तरूप से परम इष्ट हैं। इस प्रकार इष्टरूप से स्वीकार करके सिद्ध परमात्मा को नमस्कार किया है।

यहाँ ऐसा जानना कि सिद्ध भगवान को नमस्कार किया, उसमें पाँचों परमेष्ठी भगवन्त भी आ जाते हैं, क्योंकि आचार्य इत्यादि को भी एकदेश सिद्धपना प्रगट हुआ है। आत्मा के ज्ञान-आनन्द की आंशिक प्राप्ति उन्हें भी हो गयी है; इसलिए वे भी इष्ट हैं।

पञ्च परमेष्ठी भगवन्तों को ज्ञान-आनन्दस्वरूप जो भाव प्रगट हुए हैं, वे आत्मा के हितकारी हैं और मोह-राग-द्वेषादि भाव, आत्मा को अहितकारी-दु:खदायी है। सिद्ध

भगवान के आत्मा में जो भाव हैं, वे भाव, आत्मा को शान्तिकारी / हितरूप है और सिद्ध भगवान में से जो भाव निकल गये, वे भाव, आत्मा को अहितरूप हैं; इस प्रकार पहचानकर अपने ज्ञानानन्दस्वरूप के आदर से मोहादिभाव का नाश करना, वह कर्मबन्ध से छूटकर मुक्त होने का उपाय है, परन्तु अज्ञानी को स्व-पर के भेदज्ञान में कण्टाला आता है, मोक्ष का उपाय करने में उसे दुःख लगता है, वह आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान रमणता का तो उपाय करता नहीं और रागादिभावों को ही हितरूप मानकर सेवन करता है, वह विपरीत उपाय है, उससे चतुर्गतिरूप दुःखों से छुटकारा नहीं होता। सिद्ध भगवान जैसा मेरा आत्मा है - ऐसा जानकर, आत्मा के सन्मुख होना, वह दुःख से छूटकर सुखी होने का उपाय है। आत्मा की निर्विकल्पश्रद्धा, ज्ञान और एकाग्रतारूप रत्नत्रय द्वारा आत्मा, बन्धन से छूटकर मुक्ति प्राप्त करता है। शुद्धरत्नत्रय कहो या समाधि कहो - यही मुक्ति का उपाय है।

ज्ञानी गुरु के उपदेश से ऐसा जाना कि आत्मा का स्वभाव शुद्ध सिद्धसमान है, सिद्ध भगवान जैसा ही आत्मा का स्वभाव है; रागादि या शरीरादि उसका स्वरूप नहीं है। तेरी पर्याय में विकार और दुःख है, वह भी तेरा वास्तविक स्वरूप नहीं है — इस प्रकार गुरु के उपदेश से जानकर अथवा पूर्व में सुना हो, उसके संस्कार से, जीव जब अपने शुद्धस्वरूप की प्रतीति करता है, तब मिथ्यात्वादि कर्मों के उपशमादि हो जाते हैं तथा सम्यग्दर्शन होने पर तत्त्वों की विपरीतबुद्धि छूट जाती है और अपने शुद्ध आत्मस्वरूप के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं आत्मबुद्धि नहीं होती। इस प्रकार शुद्ध आत्मा को आत्मारूप से; विकार को विकाररूप से; और पर को पररूप से जानता है; इसलिए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है। पश्चात् आत्मस्वरूप में स्थिर होने से पर से उदासीनतारूप चारित्र होता है — ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह मोक्ष का उपाय है। स्व को स्व-रूप से और पर को पर-रूप से जानकर, पर से उदासीन होकर, स्व में स्थिर होना, वह मोक्ष का उपाय है। सिद्ध भगवान को पहचानने पर ऐसा मोक्ष का उपाय होता है; इसलिए माङ्गलिक में इष्टदेव के रूप से सिद्ध भगवान को नमस्कार किया है।

परम ज्ञान और आनन्दस्वरूप जो परिपूर्ण शुद्धदशा, वह मोक्ष है। क्षायिकभाव से

परिपूर्ण ज्ञान–आनन्द जहाँ खिल गये हैं और कर्मों का सर्वथा क्षय हो गया है — ऐसी शुद्धदशा का नाम मोक्ष है। उस मोक्षदशा को सिद्ध भगवन्त प्राप्त हुए हैं। उन सिद्ध भगवन्तों को आत्मा के परिपूर्ण आनन्द में कोई विघ्न नहीं; ज्ञान में कोई आवरण नहीं; रागादि विकार या कर्म का सम्बन्ध उन्हें रहा नहीं — ऐसे अनन्त सिद्ध भगवन्त लोक के अग्रभाग में विराजमान हैं। अपने अतीन्द्रिय आनन्द के भोगने में ही लीन हैं — ऐसी सिद्धदशा, वह आत्मा का ध्येय (साध्य) है, वही आत्मा का इष्ट है। शास्त्रकर्ता श्री पूज्यपादस्वामी तथा व्याख्याता और श्रोताओं को भी ऐसा शुद्ध आत्मपद प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा है; इसलिए ऐसे शुद्धपद को प्राप्त सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करके शुरुआत की है।

जिसे जो प्रिय हो, उसे ही वह नमस्कार करता है। शास्त्रकर्ता को, व्याख्याता को, तथा श्रोताओं को सिद्धपद की प्राप्ति की ही भावना है और उसके लिए ही अनुष्ठान / उपाय करते हैं; इसलिए सिद्ध भगवान का बहुमान करके नमस्कार किया है। अहो! हमें तो एक सिद्धपद ही परम प्रिय है; इसके अतिरिक्त रागादि या संयोग हमें प्रिय नहीं है; इसलिए शुद्धपद को प्राप्त सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करके हम आत्मा का ही आदर करते हैं।

जिस प्रकार धनुर्विद्या सीखने का अभिलाषी पुरुष, धनुर्विद्या जाननेवाले का बहुमान करता है; उसी प्रकार मोक्ष का अभिलाषी जीव, मोक्ष प्राप्त सिद्ध भगवान का तथा अरिहन्त भगवान इत्यादि का बहुमान करके उन्हें ही नमस्कार करता है।

इस प्रकार पहले श्लोक में सिद्ध भगवान को नमस्कार करके मङ्गलाचरण किया है। ●

मुनिराज का दर्शन : हमारा धन्य भाग्य

अहो! भावलिङ्गी मुनि अर्थात् चलते-फिरते परमेश्वर, जो अन्दर में आनन्दकन्द का झूला झूलते हैं और पञ्च महाव्रत के राग को जहर जानते हैं। अहो! जिनके दर्शन अहो भाग्य से होते हैं। जो आनन्द की क्रीड़ा करते हैं, वह धन्य दशा अलौकिक है। अरे! गणधरों का नमस्कार जिसे पहुँचे, उस दशा की क्या बात!

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, दृष्टि ना निधान, बोल १५७

अरिहन्तदेव को नमस्कार

जयन्ति यस्यावदतोऽपि भारती विभूतयस्तीर्थकृतोप्यनीहितुः।
शिवाय धात्रे सुगताय बिष्णवे जिनाय तस्मै सकलात्मने नमः ॥२॥

बिन अक्षर इच्छा वचन, सुखद जगत् विख्यात।
धारक ब्रह्मा विष्णु बुध, शिव जिन सो ही आप्त॥२॥

अन्वयार्थ :- (**यस्य तीर्थकृतः**) जिस तीर्थङ्कर की (**अनीहितुः अपि**) बिना इच्छा के, अर्थात् इच्छा के अभाव में भी एवं (**अवदतः अपि**) बिना बोले भी, अर्थात् तालु–ओष्ठ आदि द्वारा शब्दोच्चारण नहीं किये जाने पर भी, (**भारती विभूतयः**) दिव्यध्वनि, अर्थात् ओंकाररूप जिनवाणी की विभूति (**जयन्ति**) जयवन्त वर्तती है–सदैव जय को प्राप्त होती है, (**तस्मै शिवाय**) उस शिवस्वरूप परमकल्याणकारक या अक्षयसुखस्वरूप परमात्मा के लिए (**धात्रे**) ब्रह्मस्वरूप सन्मार्ग के उपदेश द्वारा, लोक के उद्धारक विधाता के लिए (**सुगताय**) सद्बुद्धि एवं सद्गति को प्राप्त परमात्मा के लिए (**विष्णवे**) अपने केवलज्ञान द्वारा समस्त चराचर पदार्थ में व्याप्त होनेवाले, विष्णुस्वरूप सर्वदर्शी सर्वज्ञ परमात्मा के लिए एवं (**जिनाय**) संसार परिभ्रमण के कारणभूत मोह–राग–द्वेष तथा इन्द्रिय के विषयों को जीतनेवाले वीतरागी जिनेन्द्र भगवान के लिए और (**सकलात्मने**) ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों का अभाव करनेवाले अरहन्त परमात्मा के लिए (**नमः**) नमस्कार हो।

आत्मा की पूर्ण शुद्ध ज्ञान–आनन्दमय दशा, वह सिद्धपद है और ज्ञान आनन्दस्वरूप आत्मा को श्रद्धा–ज्ञान में लेकर उसके संवेदन में एकाग्रता का उद्यम करना, वह मोक्ष का अनुष्ठान है। पूर्ण शुद्धपद को प्राप्त सिद्ध और अरिहन्त परमात्मा, वे देव हैं और उन्हें साधनेवाले आचार्य, उपाध्याय, मुनि, वे गुरु हैं तथा अरिहन्त परमात्मा इत्यादि की वाणी, वह शास्त्र है, उसे नमस्काररूप यह माङ्गलिक चलता है।

पहले श्लोक में मङ्गलरूप से श्री सिद्ध भगवान को नमस्कार किया। उस सिद्ध-स्वरूप का तथा उसकी प्राप्ति के उपाय का उपदेश, श्री अरिहन्त भगवान ने दिव्यध्वनि द्वारा दिया है; इसलिए अब दूसरे श्लोक में सकल परमात्मारूप उन अरिहन्त भगवान को उनकी वाणी की महिमासहित नमस्कार करते हैं।

सकल परमात्मा श्री अरिहन्तदेव को नमस्कार हो। कैसे हैं वे परमात्मा ? जो तालु-ओंठ इत्यादि से न बोलते होने पर भी, जिनकी वाणी जयवन्त वर्तती है। भगवान की वाणी सर्वाङ्ग से बिना इच्छा के छूटती है; वाणी में श्रेष्ठ ऐसी वह भारती जयवन्त वर्तती है और वह वाणी, जीवों को तीर्थ अर्थात् मोक्षमार्ग बतलानेवाली होने से उसे तीर्थ भी कहते हैं। भगवान को इच्छा न होने पर भी उन्हें दिव्यध्वनि सर्वाङ्ग से छूटती है और वे समवसरण आदि वैभवसहित हैं तथा तीर्थ के कर्ता हैं। अरिहन्त भगवान, शरीरसहित होते हैं, इसलिए वे सकल परमात्मा हैं और शरीररहित सिद्ध परमात्मा, वे निकल परमात्मा हैं (कल अर्थात् शरीर)।

अरिहन्त भगवान का शरीर महा सुन्दर परमौदारिक होता है - उसमें देखनेवाले को अपने आगे-पीछे के सात भव दिखते हैं (भविष्य के भव जिसे हों, उसे दिखते हैं)। भगवान के समवसरण का वैभव और शोभा अचिन्त्य होती है। ऊपर तीन छत्र सुशोभित होते हैं, मोती के बने हुए उत्कृष्ट छत्र होते हैं तथा भामण्डल इत्यादि होता है; इस प्रकार दिव्यवाणी और छत्रादि वैभवसहित वे जयवन्त वर्तते हैं। ऐसे अरिहन्तदेव को नमस्कार हो।

वे अरिहन्तदेव कैसे हैं ? शिव हैं, धाता हैं, सुगत हैं, विष्णु हैं, जिन हैं, और सकल आत्मा है। किस प्रकार ? यह कहते हैं:—

१- **जिन** अर्थात् आत्मा का कल्याण, उसे स्वयं प्राप्त है और दिव्यवाणी के उपदेश द्वारा भव्य जीवों को शिवमार्ग-मोक्षमार्ग के प्रणेता होने से श्री अरिहन्त भगवान ही शिव हैं, कल्याणरूप है; इनसे विरुद्ध दूसरा कोई वास्तव में शिव नहीं है।

२- **धाता** - भव्यजीवों को मोक्षमार्ग में धार रखनेवाले होने से वे ही धाता हैं। यथार्थ उपदेश द्वारा भव्यजीवों को सन्मार्ग में धार रखते हैं; इसलिए वे ही विधाता हैं।

जैसे विधाता लेख लिखता है, ऐसा लौकिक में कहा जाता है; वैसे ही भगवान के केवलज्ञान में समस्त जीवों के तीनों काल के लेख लिखे गये हैं; इसलिए वे ही वास्तविक विधाता हैं।

३- **सुगत** - शोभायमान ऐसे दिव्यज्ञान को प्राप्त होने से अरिहन्त भगवान, सुगत है। गत अर्थात् ज्ञान; केवलज्ञान द्वारा ही आत्मा की शोभा है; इसलिए जो ऐसे केवलज्ञान को प्राप्त हुए हैं, वे ही सुगत हैं अथवा सुगत अर्थात् सम्यक् गति-उत्तम गति; पुनरावर्तनरहित ऐसी जो उत्तम मोक्षगति, उसे प्राप्त होने से अरिहन्त भगवान ही सुगत हैं। संसार की चार गति तो कुगति है और सिद्धगति, वही वास्तविक सुगति है — ऐसी सुगति को प्राप्त होने से अरिहन्त भगवान ही सुगत हैं। अथवा सुगत का तीसरा अर्थ इस प्रकार भी है — 'सु' अर्थात् सम्पूर्णरूप ऐसे केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टय, उसे 'गत' अर्थात् प्राप्त — ऐसे सर्वज्ञदेव वे सुगत हैं।

४- **विष्णु** - सर्वज्ञदेव, केवलज्ञान द्वारा समस्त वस्तु में व्यापक होने से (ज्ञायक होने से) विष्णु हैं।

५- **जिन** - अनेक भव-भ्रमण के कारणरूप ऐसे जो मोहादि कर्म (भाव तथा द्रव्यकर्म) के विजेता होने से अरिहन्तदेव जिन हैं। चैतन्यस्वभाव की अधिकता द्वारा जिन्होंने मोहादिक को जीत लिया है - नष्ट किया है, वे जिन हैं।

६- **सकल** अर्थात् शरीरसहित है। ऐसे अरिहन्त परमात्मा को नमस्कार हो।

वे दिव्यभारती द्वारा हित के उपदेष्टा हैं। भगवान की भारती कैसी है ? सर्व जीवों को हितरूप है। वर्णसहित नहीं, अर्थात् निरक्षरी है; जिसने दो ओंठ चलते नहीं, वांछारूपी कलंक नहीं, कोई दोषरूप मलिनता नहीं, श्वाँस के कम्पनरहित होने से जिसमें क्रम नहीं; शान्तमूर्ति ऋषिवरों के साथ-साथ पशुगणों ने भी अपनी-अपनी भाषा में जिसका श्रवण किया है — ऐसी सर्वज्ञदेव की अपूर्व वाणी हमारी रक्षा करो और विपदा हरो। ऐसी अपूर्व वाणीवाले अरिहन्तदेव को नमस्कार हो।

सर्वज्ञ भगवान, शरीरसहित होने पर भी आहार आदि दोष से रहित है। जहाँ आत्मा के अनन्त आनन्द का भोग प्रगट हो गया है, वहाँ क्षुधादि दोष नहीं होते और आहारादि भी

नहीं होता। भगवान को राग-द्वेषादि दोष भी नहीं है। इसके अतिरिक्त अन्य कुदेव तो रागादिसहित हैं, क्षुधादिदोष सहित हैं, इसलिए वे आत्मा के इष्ट नहीं हैं। अतीन्द्रिय आनन्दसहित ऐसा सर्वज्ञपद ही आत्मा का परम इष्ट है; इसलिए उसकी पहचानपूर्वक, उसका आदर करके नमस्कार करते हैं।

अरिहन्त भगवान का उपदेश, आत्मा के हित का कारण है। संग से पार होकर आत्मा के स्वभावसन्मुख हो, यही हित का उपाय है — ऐसा भगवान का उपदेश है। अरिहन्त भगवान ही सर्वज्ञ-हितोपदेशी हैं, वे ही इष्टदेव हैं; इनके अतिरिक्त बुद्ध इत्यादि तो वस्तुस्वरूप को नहीं जाननेवाले अबुद्ध हैं, वे हितोपदेशी नहीं हैं। आत्मा के हित का वास्तविक उपाय क्या है? - वह जिसने स्वयं ही नहीं जाना, वह हितोपदेशी कहाँ से होगा? जगत में तो अज्ञानी जीवों का बड़ा भाग ऐसे कुदेवादि को मानता है परन्तु वे कोई आत्मा के हितोपदेशक नहीं हैं। सर्वज्ञ-वीतराग अरिहन्त परमात्मा ही जगत में हितोपदेशक हैं। वे कहते हैं कि आत्मा स्वयं ही स्वयं का प्रभु है। मैं प्रभु मेरा और तू प्रभु तेरा; मेरी प्रभुता मुझमें और तेरी प्रभुता तुझमें; इसलिए तेरे आत्मा की पहिचान करके उसके सन्मुख हो, उसमें ही तेरा हित है; इस प्रकार सर्वज्ञदेव अरिहन्त परमात्मा ही वास्तविक हितोपदेशी है। वे ही इष्टदेव हैं; इसलिए यहाँ उन्हें नमस्कार किया है।

इस प्रकार परम हितोपदेशी ऐसे तीर्थङ्कर अरिहन्त परमात्मा को नमस्कार किया तथा उनकी दिव्यवाणीरूपी भारती की महिमा की। ●

निद्रा-विजयी मुनिराज

मुनिराज को बहुत निद्रा नहीं होती, छठवें गुणस्थान में अत्यन्त अल्प निद्रा होती है। छहढाला में आता है न! **'भू माहिं पिछली रयनि में कछु शयन एकासन करन'** बस, मुनि एक करवट सोते हैं, वह भी पौन सैकेण्ड की निद्रा होती है, छठा गुणस्थान भी पौन सैकेण्ड की अवधिवाला है, इसलिए इतनी निद्रा आ जाती है, परन्तु इससे अधिक निद्रा उन्हें नहीं होती।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/१३४

मोक्षसुख के अभिलाषी जीवों के लिये
पर से भिन्न आत्मा का शुद्धस्वरूप दिखाते हैं

इस प्रकार पहले श्लोक में सिद्ध भगवान को तथा दूसरे श्लोक में अरिहन्त भगवान को नमस्कार करके, अब तीसरे श्लोक में श्री पूज्यपादस्वामी कहते हैं कि जो केवल सुख का अभिलाषी है — ऐसे मोक्षार्थी जीवों के लिए मैं, कर्ममल से विभक्त ऐसे सुन्दर आत्मा का स्वरूप कहूँगा।

श्रुतेन लिंगेन यथात्मशक्ति समाहितान्तः करणेन सम्यक्।
समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणां विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये॥३॥

चहें अतीन्द्रिय सुख उन्हें, आत्मा शुद्ध स्वरूप।
श्रुत अनुभव अनुमान से, कहूँ शक्ति अनुरूप॥३॥

अन्वयार्थ :- (**अथ**) परमात्मा को नमस्कार करने के अनन्तर (**अहं**) मैं [पूज्यपाद आचार्य] (**विविक्तं आत्मानं**) कर्ममलरहित आत्मा के शुद्धस्वरूप को (**श्रुतेन**) शास्त्र के द्वारा (**लिंगेन**) अनुमान व हेतु के द्वारा (**समाहितान्तःकरणेन**) एकाग्र मन के द्वारा (**सम्यक् समीक्ष्य**) अच्छी तरह अनुभव करके (**कैवल्य-सुखस्पृहाणां**) कैवल्यपद-विषयक अथवा निर्मल अतीन्द्रियसुख की इच्छा रखनेवालों के लिए (**यथात्म-शक्ति**) अपनी शक्ति के अनुसार (**अभिधास्ये**) कहूँगा।

शास्त्रकार श्री पूज्यपादस्वामी कहते हैं कि मैं श्रुत से, अर्थात् कुन्दकुन्द भगवान इत्यादि पूर्वाचार्यों द्वारा रचित शास्त्रों से तथा लिङ्ग से अर्थात् युक्ति-अनुमान से और आत्मशक्ति-अनुसार चित्त की एकाग्रता से सम्यक् प्रकार से जानकर तथा अनुभव कर भिन्न आत्मा का स्वरूप अब कहूँगा। किसके लिए कहूँगा? जो जीव केवल आत्मा के सुख का ही अभिलाषी है, विषयों से पार ऐसे अतीन्द्रिय चेतन आनन्द की ही जिसे भावना

है। केवलज्ञान से होता जो अनन्त सुख, उसके अतिरिक्त दूसरे किसी की जिसे स्पृहा नहीं है, आकाँक्षा नहीं है—ऐसे मोक्षार्थी भव्य जीवों के लिये मैं भिन्न आत्मा का स्वरूप कहूँगा।

देखो! जिनके पाद-कमल देवों से पूज्य हैं — ऐसे पूज्यपादस्वामी स्वयं आत्मा का अनुभव करते-करते यह रचना करते हैं। वे पन्द्रह-पन्द्रह दिन के उपवास करते थे और अनेक ऋद्धियाँ उन्हें प्रगट हुई थीं, महान बुद्धि के समुद्र थे और आत्मा की शान्ति के अनुभव में लीन थे — ऐसे दिगम्बर सन्त कहते हैं कि अहो! जो जीव, आत्मा के अतीन्द्रिय सुख के लिए लालायित हो रहे हैं, उनके लिए मैं कर्म से भिन्न शुद्ध आत्मा का स्वरूप बतलाऊँगा। जिस आत्मा को जानने से अवश्य अतीन्द्रिय आनन्द होता है। आत्मा स्वयं अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है। जगत के अनन्त काल के भवभ्रमण के दु:ख से थककर जिन्हें केवल आत्मा के सुख की ही स्पृहा जगी ही — ऐसे भव्य आत्मा के लिये यहाँ भिन्न आत्मा का स्वरूप बतलाऊँगा।

मुझे मेरे आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करना है और वह मुझे अवश्य प्राप्त होगा — ऐसे आत्मा के सुख को जो प्राप्त करना चाहता है, उसे यह बात समझाते हैं। मैं अभव्य होऊँगा, मुझे आत्मा का आनन्द नहीं मिलेगा — ऐसा सन्देह जिसे मिट गया है और आनन्द का उपाय बतलानेवाले देव-शास्त्र-गुरु की आस्था हुई है; इसलिए आत्मा के सुख का अभिलाषी होकर उसका उपाय जानने आया है, ऐसे आत्मा को यहाँ भिन्न आत्मा का स्वरूप कहकर, सुख का उपाय बतलाते हैं।

दु:ख तो क्षणिक पर्याय में है, उसका नाश होकर सुख प्रगट होगा - कहाँ से? आत्मा के स्वभाव में अतीन्द्रिय सुख है, उसमें से वह प्रगट होगा। सुख वर्तमान में नहीं और त्रिकाल में है — ऐसा अनेकान्त जानकर, जहाँ त्रिकाल स्वभाव के सन्मुख हुआ, वहाँ पर्याय में भी सुख हुआ और दु:ख मिटा। पर से भिन्न आत्मा का स्वरूप जानकर, उसके सन्मुख होना, वही हित का उपाय है; इसलिए हित के अभिलाषी जीव को भिन्न आत्मा का स्वरूप, आचार्यदेव बतलाते हैं।

अहो! इस शास्त्र के श्रोता ऐसे हैं कि जिन्हें मात्र आत्मा के सुख की ही स्पृहा है,

जगत के बाह्य विषयों की अभिलाषा नहीं; 'काम एक आत्मार्थ का, दूजा नहीं मन रोग' — ऐसे पात्र श्रोताओं को सुख का उपाय बतलाते हैं। 'जगत् इष्ट नहीं आत्म से' एक आत्मा के अतीन्द्रियसुख के अतिरिक्त जगत् में दूसरा कुछ जिसे प्रिय नहीं; केवल आत्मा के आनन्द की ही जिसे भावना है — ऐसे भव्य जीवों के लिये भिन्न आत्मा का स्वरूप, मैं बतलाऊँगा — ऐसा श्री पूज्यपादस्वामी कहते हैं।

बारह अङ्गरूप जिनवाणी का सार यह है कि कर्म से भिन्न, संयोग से भिन्न ज्ञान-आनन्दस्वरूप आत्मा है, उसका लक्ष्य करना और उसमें स्थिर होना। जिसने ऐसे आत्मा का लक्ष्य किया, उसका जन्म सफल है। ऐसे लक्ष्य बिना भले द्रव्यलिङ्गी साधु हो तो भी उसका जन्म सफल नहीं। सुख और शान्ति तो अन्दर से आती है या बाहर से ? अन्तर के स्वभाव में शान्ति है, उसमें से ही शान्ति आती है; इसलिए उसका लक्ष्य करना ही सर्व शास्त्रों का सार है और जिसने ऐसा लक्ष्य किया, उसका अवतार सफल है।

समयसार की पाँचवीं गाथा में भी आचार्यदेव कुन्दकुन्द भगवान ने कहा है कि मैं एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा का स्वरूप, निज वैभव से बतलाऊँगा। सर्वज्ञदेव द्वारा कथित आगम के ज्ञान से अनेकान्तमय निर्दोष युक्ति से और मेरे गुरुओं ने अनुग्रहपूर्वक जो शुद्ध आत्मा का उपदेश दिया है, उससे तथा मेरे आत्मा के प्रचुर स्वसंवेदन से जो आत्मवैभव प्रगट हुआ है, उस सर्व वैभव से मैं शुद्ध आत्मा का स्वरूप कहूँगा!

यहाँ भी पूज्यपादस्वामी कहते हैं कि शुद्ध आत्मा को सम्यक्रूप से जानकर, मैं श्रुत से, अनुमान इत्यादि युक्ति से और आत्मशक्ति अनुसार कहूँगा। सुख के अभिलाषी जीवों के लिये इस शास्त्र में मैं, कर्मादि से भिन्न शुद्ध आत्मा का स्वरूप कहूँगा। अशुद्धता को तो जगत् अनुभव कर ही रहा है परन्तु शुद्ध आत्मा को कभी जाना नहीं; इसलिए जो सुख का अभिलाषी है, उसे तो शुद्ध आत्मा का स्वरूप ही जानने योग्य है, शुद्ध आत्मा का स्वरूप ही आराध्य है। इस समाधिशतक में ही आगे ५३ वीं गाथा में कहेंगे कि जिन्हें मोक्ष की अभिलाषा है — ऐसे जीवों को तो ज्ञान-आनन्दस्वरूप आत्मा की ही कथा करना, दूसरे अनुभवी पुरुषों को भी वही पूछना, उस आत्मस्वरूप की ही इच्छा, अर्थात् प्राप्ति की भावना करना और उसमें ही तत्पर होना कि जिससे अविद्यामय ऐसी अज्ञानदशा छूटकर

ज्ञानमय निजपद की प्राप्ति हो। आत्मार्थी को अपने आत्मस्वरूप की बात के अतिरिक्त दूसरी बात में रस नहीं होता... उसे तो सर्व प्रकार से एक आत्मस्वरूप की ही प्राप्ति का उपाय, कर्तव्य है।

योगसार में भी कहते हैं कि विद्वान पुरुषों को यह एक चैतन्यस्वरूप आत्मा ही निश्चल मन से पढ़नेयोग्य है, वही ध्यान करनेयोग्य है, वही आराधना करनेयोग्य है, वही पूछनेयोग्य है, वही श्रवण करनेयोग्य है, वही अभ्यास करनेयोग्य है, वही उपार्जन करनेयोग्य है, वही जाननेयोग्य है, वही कहनेयोग्य है, वही प्रार्थना करनेयोग्य है, वही शिक्षायोग्य है और वही स्पर्श करनेयोग्य है कि जिससे आत्मा सदा स्थिर रहे। इस प्रकार बहुत बोल से एक आत्मा को ही उपादेय कहा है।

श्री पद्मनन्दि मुनिराज भी कहते हैं कि जो जीव बारम्बार आत्मतत्त्व का अभ्यास करते हैं, कथन करते हैं, विचार करते हैं, सम्यक् प्रकार से भावना करते हैं, वे नव क्षायिक लब्धिसहित अक्षय और उत्कृष्ट ऐसे मोक्षसुख को अल्प काल में प्राप्त करते हैं। *(यह श्लोक सोनगढ़ के मानस्तम्भ में उत्कीर्ण है।)*

जगत के जीवों को — जिन्हें सुख चाहिए हो उन्हें, यह पर से भिन्न शुद्ध आत्मा ही जाननेयोग्य है। इसे जाने बिना सुख कभी नहीं होता है। चैतन्यस्वरूप आत्मा के सन्मुख होना, वही सुख का उपाय है और उसके लिये ही शास्त्रों में सन्तों का उपदेश है। सर्व उपदेश का रहस्य क्या? शुद्ध आत्मा के सन्मुख होकर उसे जानना, वही सर्व शास्त्रों का सार है। इसके अतिरिक्त बाहर के दूसरे उपाय से सुख होना जो कहते हों, वे उपदेशक भी सच्चे नहीं हैं और उनका उपदेश, वह हितोपदेश नहीं है; हितोपदेश तो यह है कि तू तेरे शुद्ध आत्मा को जानकर उसके सन्मुख हो।

आगम से, अनुमान से, और अनुभव से शुद्ध आत्मा का स्वरूप जानकर, मेरी शक्ति से मैं उसे कहूँगा। जिसे शुद्धात्मा की जिज्ञासा है — आत्मा के आनन्द की जिज्ञासा है — ऐसे भव्य जीव इस शुद्धात्मा को जानो। मुझे मेरा सुख कैसे हो, मेरी आत्मा में शान्ति का वेदन कैसे हो? — ऐसी जिसे अन्तर की गहरी अभिलाषा है, उस जीव को यहाँ शुद्ध आत्मा का स्वरूप सुनाते हैं।

आगम में शुद्ध आत्मा का स्वरूप कैसा बतलाया है?

एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥१०२॥ *(नियमसार गाथा १०२)*

मेरा आत्मा एक शाश्वत् ज्ञान-दर्शन लक्षणरूप है और बाकी के सर्व संयोग लक्षणरूप भाव मुझसे से बाह्य है।

और कुन्दकुन्दस्वामी समयसार (गाथा-३८) में कहते हैं कि

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि।।३८।।

मैं एक, शुद्ध, सदा अरूपी, ज्ञानदृग हूँ यथार्थ से।
कुछ अन्य वो मेरा तनिक, परमाणुमात्र नहीं अरे!॥३८॥

इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्यदेव इत्यादि सन्तों ने नियमसार, समयसार आदि परमागमों में शुद्धात्मा का स्वरूप जिस प्रकार कहा है, उस प्रकार जानकर, तद्नुसार मैं शुद्धात्मा का स्वरूप कहूँगा।

कहते हैं कि मैं लिंग से, अर्थात् युक्ति और अनुमान द्वारा देहादिक से भिन्न आत्मा का स्वरूप कहूँगा। वह इस प्रकार — शरीरादि से आत्मा भिन्न है, क्योंकि वह भिन्न लक्षण से लक्षित है; जो भिन्न लक्षण द्वारा लक्षित होते हैं, वे भिन्न होते हैं। जैसे जल और अग्नि के लक्षण (शीत और उष्ण) भिन्न-भिन्न होने से वे प्रसिद्धरूप से पृथक् हैं। आत्मा उपयोग स्वरूप से लक्षित है और शरीरादि उससे विरुद्ध ऐसे अनुपयोग जड़स्वरूप से लक्षित है; इसलिए उन्हें पृथक्ता है। इसी प्रकार रागादिक भावों से भी ज्ञान की भिन्नता है, क्योंकि ज्ञान में शान्ति है और राग में आकुलता है; इस प्रकार दोनों के लक्षण पृथक् हैं - इत्यादि प्रकार से युक्ति तथा अनुमान से भी मैं भिन्न आत्मा का स्वरूप कहूँगा। किसे? जो जीव केवल अतीन्द्रियसुख का अभिलाषी है उसे।

जो जीव, आत्मा के अतीन्द्रियसुख का अभिलाषी है, उसके लिये मैं शुद्ध आत्मा का स्वरूप कहूँगा — ऐसी पूज्यपादस्वामी ने इस तीसरी गाथा में प्रतिज्ञा की है। किस

प्रकार कहूँगा? आगम से, युक्ति — अनुमान से और मेरे अन्तर के अनुभव से मेरी आत्मशक्ति अनुसार मैं शुद्ध आत्मा का कर्मादिक से भिन्न स्वरूप कहूँगा। किसके लिये कहूँगा? जिसे आत्मा के सुख की अभिलाषा है, उसके लिये कहूँगा और चित्त की एकाग्रतापूर्वक कहूँगा।

मेरा आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है और मुझे मेरा आनन्द कैसे प्राप्त हो? — ऐसी जिसे धगश जगी हो, ऐसे जीव को सम्बोधन करके, मैं आत्मा का स्वरूप कहूँगा। जिसे संसार की या पुण्य की अभिलाषा है, ऐसे जीवों को तो भिन्न आत्मा का स्वरूप समझने की जिज्ञासा ही नहीं है; इसलिए ऐसे जीवों को श्रोतारूप से लिया ही नहीं है।

मुझे तो आत्मा का आनन्द चाहिए, कर्म के सम्बन्धरहित, इन्द्रियों के विषयों के सम्बन्धरहित केवल आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द मुझे चाहिए — ऐसी जिसे चटपटी हुई है उसके लिए कर्मादिक से भिन्न आत्मा का स्वरूप बतलाते हैं, क्योंकि ऐसे आत्मा का स्वरूप जानने से ही अतीन्द्रियसुख होता है; इसलिए आगम से, युक्ति से और अनुभव से ऐसे शुद्ध आत्मा का स्वरूप जानना योग्य है।

आगम : मेरा आत्मा एक शुद्ध ज्ञान-दर्शन-लक्षण स्वरूप है, इसके अतिरिक्त जो बाह्य भाव-रागादि, शरीरादि हैं, वे सब मुझसे भिन्न संयोग लक्षणवाले हैं; इस प्रकार लक्षण द्वारा पर से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा, आगमों में बतलाया है। तद्नुसार जानकर मैं उसका वर्णन करूँगा।

अनुमान-युक्ति : देह और आत्मा भिन्न है क्योंकि दोनों के लक्षण भिन्न हैं। जिनके लक्षण भिन्न हों, वे चीजें भिन्न होती हैं। जैसे कि अग्नि और पानी; आत्मा तो उपयोग लक्षणी है और देहादिक तो उपयोगरहित अचेतन हैं; इसलिए दोनों भिन्न-भिन्न हैं। किसी का देह छोटी हो, तथापि बुद्धि बहुत होती है और किसी की देह बड़ी हो, तथापि बुद्धि थोड़ी होती है - ऐसा दिखायी देता है। यदि देह और आत्मा एक होवे तो ऐसा नहीं हो सकता; इसलिए दोनों भिन्न हैं। देह तो जड़ है और बुद्धि, अर्थात् ज्ञान, वह तो आत्मा का लक्षण है; इस प्रकार देह और आत्मा भिन्न-भिन्न है। इस तरह युक्ति द्वारा, मैं देहादिक से भिन्न आत्मा का स्वरूप कहूँगा।

देहादिक की क्रिया द्वारा आत्मा लक्षित नहीं होता, उनसे तो जड़ लक्षित होता है; आत्मा तो ज्ञानलक्षण द्वारा लक्षित होता है; इस प्रकार दोनों भिन्न हैं।

अन्दर राग-द्वेषादिक भाव होते हैं, वे भी वास्तव में आत्मा के ज्ञानलक्षण से भिन्न है क्योंकि राग-द्वेष तो आकुलता लक्षणवाले हैं; वे स्व-पर को नहीं जानते; वे बहिर्मुख भाव हैं और ज्ञानस्वभाव तो शान्त अनाकुल है; अन्तर्मुख होने पर वह वेदन में आता है; स्व-पर को जानने का उसका स्वभाव है। इस प्रकार भिन्न लक्षण द्वारा रागादि को और ज्ञान को भिन्न जानकर, उस ज्ञानलक्षण द्वारा आत्मा को पहचानना। सर्व प्रकार के लक्षण द्वारा अनुमान से—युक्ति से आत्मा को देहादिक से भिन्न और रागादि से भिन्न ज्ञान-दर्शनस्वरूप निर्णय करना।

चित्त की एकाग्रता-अनुभव : आगम से और युक्ति से जो ज्ञानस्वरूप आत्मा का निर्णय किया, उसमें एकाग्र होकर उसका साक्षात् अनुभव किया — ऐसे अनुभवपूर्वक सम्यक् प्रकार से भलीभाँति जानकर, मैं भिन्न आत्मा का स्वरूप बतलाऊँगा। किसे ? जो आत्मा के आनन्द का अभिलाषी है उसे।

इस प्रकार आगम से, युक्ति से और अनुभव से शुद्ध आत्मा का स्वरूप कहने की प्रतिज्ञा की है। सुख के अभिलाषी जीव, बहुमानपूर्वक उसका श्रवण करो। ●

प्रचुर स्वसंवेदन ही मुनि का भावलिङ्ग

अहा! मुनिदशा कैसी होती है? उसका विचार तो करो! छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले वे मुनि, स्वरूप में गुप्त हो गये होते हैं। **प्रचुर स्वसम्वेदन ही मुनि का भावलिङ्ग है और शरीर की नग्नता-वस्त्रपात्ररहित निर्ग्रन्थदशा, वह उनका द्रव्यलिङ्ग है।** उनको अपवाद-व्रतादि का शुभराग आता है, किन्तु वस्त्रग्रहण का अथवा अधःकर्म तथा औद्देशिक आहार लेने का भाव नहीं होता।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, जिणसासणं सव्वं, २१४, पृष्ठ १३०

अवस्थादृष्टि से आत्मा के तीन प्रकार

विविक्त आत्मा का स्वरूप कहने की प्रतिज्ञा की है, वहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि आत्मा कितने प्रकार का है ? और उसमें से कैसा आत्मा उपादेय है तथा कैसा हेय है ? आत्मा के कितने प्रकार हैं, जिसमें से आप पर से विभक्त शुद्ध आत्मा को ही उपादेयरूप से बतलाना चाहते हैं ? इस आशंका के उत्तररूप श्लोक आचार्यदेव कहते हैं।

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत् ॥४॥

त्रिविधिरूप सब आतमा, बहिरात्मा पद छेद।
अन्तरात्मा होयकर, परमातम पद वेद ॥४॥

अन्वयार्थ :- (**सर्वदेहिषु**) सर्व प्राणियों में (**बहिः**) बहिरात्मा (**अन्तः**) अन्तरात्मा (**च परः**) और परमात्मा, (**इति**) इस तरह (**त्रिधा**) तीन प्रकार का (**आत्मा**) आत्मा (**अस्ति**) है। (**तंत्र**) आत्मा के उन तीन भेदों में से (**मध्योपायात्**) अन्तरात्मा के उपाय द्वारा, (**परमं**) परमात्मा को (**उपेयात्**) अङ्गीकार करना चाहिए और (**बहिः**) बहिरात्मा को (**त्यजेत्**) छोड़ना चाहिए।

समस्त जीवों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा, ऐसे तीन प्रकार के आत्मा हैं। उनमें से अन्तरात्मारूप उपाय द्वारा, परमात्मपना उपादेय करना और बहिरात्मपना छोड़ना।

★ जो बाह्य शरीरादि पदार्थों को भी आत्मा मानता है, वह बहिरात्मा है।

★ जिसे अन्तर में देहादिक से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का भान है, वह अन्तरात्मा है और

★ चैतन्यशक्ति विकास कर जिसने परम सर्वज्ञपद प्रगट किया है, वह परमात्मा है।

इन तीन प्रकारों में से सर्वज्ञता और परिपूर्ण आनन्दरूप परमात्मपना, परम उपादेय है। उसका उपाय अन्तरात्मपना है और बहिरात्मपना छोड़नेयोग्य है। परमात्मा होने का साधन क्या ? अन्तरात्मपना, वह परमात्मा होने का साधन है। अन्तर में परमात्मशक्ति भरी है, उसकी प्रतीति करके उसमें से ही परमात्मदशा प्रगट होती है। इसके अतिरिक्त बाहर में दूसरा कोई उसका साधन है ही नहीं। आत्मा के अन्तर अवलोकन में कोई बाहर की चीज सहायक भी नहीं और विघ्नकारक भी नहीं — ऐसे अन्तरस्वभाव की दृष्टि करे तो परमात्मपना हो और बाह्य में आत्मबुद्धिरूप बहिरात्मपना छूट जाये।

जो अन्तरात्मा हुआ, वह अब अन्तरशक्ति में एकाग्र होकर परमात्मा हो जायेगा। इस प्रकार हेयरूप बहिरात्मपने को छोड़ने का तथा उपादेयरूप परमात्मपना प्रगट करने का उपाय, अन्तरात्मपना है और वह अन्तरात्मपना, कर्मादि से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को जानने से ही होता है; इसलिए यहाँ भिन्न आत्मा का स्वरूप कहा जाता है।

अरिहन्त और सिद्ध भगवान, साक्षात् परमात्मा हो गये हैं। उन परमात्मा को भी परमात्मदशा प्रगट होने से पहले बहिरात्मपना था। उसे छोड़कर अन्तरात्मा हुए और उस उपाय से परमात्मपना प्रगट किया।

वर्तमान में जो धर्मी-अन्तरात्मा है, उसे भी पूर्व में अज्ञानदशा में बहिरात्मपना था और अब अल्प काल में परमात्मपना प्रगट होगा।

जो जीव, अज्ञानी-बहिरात्मा है, उसे भी आत्मा में परमात्मा और अन्तरात्मा होने की सामर्थ्य है। आत्मा में केवलज्ञानादि परमात्मशक्ति है। यदि शक्तिरूप से केवलज्ञानादि न हों तो उन्हें रोकने में निमित्तरूप केवलज्ञानावरणीय कर्म कैसे हो ? बहिरात्मा को केवलज्ञानावरण है, वह ऐसा सूचित करता है कि उसमें भी शक्तिरूप से केवलज्ञान है।

इस प्रकार आत्मा की बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा—ऐसी तीन अवस्थाएँ हैं। उनमें से चैतन्यशक्ति की प्रतीति द्वारा बहिरात्मपना छोड़ने योग्य है और परमात्मपना प्रगट करने योग्य है।

आत्मा का स्वरूप एक समय में परिपूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप है। उसकी तीन प्रकार की अवस्थाएँ हैं। जो अपने चिदानन्दस्वरूप को भूलकर, बाहर में शरीरादि ही मैं हूँ —

ऐसा मानता है, वह बहिरात्मा है, वह अधर्मी है और अकेले विभाव को साधता है। जिसने देह से भिन्न, राग से पार अपने ज्ञानानन्दस्वभाव से परिपूर्ण आत्मा को अन्तर में जान लिया है, वह अन्तरात्मा है, वह धर्मात्मा है, वह परमात्मदशा का साधक है; और चिदानन्दस्वभाव में लीन होकर केवलज्ञान-अनन्त आनन्द इत्यादि जिन्हें प्रगट हो गये हैं, वे परमात्मा हैं।

इस बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा, इन तीन दशाओं में से एक समय में एक दशा व्यक्त होती है। बहिरात्मदशा के समय अन्तरात्मपना या परमात्मपना व्यक्त नहीं होता; अन्तरात्मदशा के समय परमात्मपना या बहिरात्मपना नहीं होता और परमात्मदशा के समय बहिरात्मपना या अन्तरात्मपना नहीं होता। अरिहन्त और सिद्ध भगवान, वे परमात्मा हैं; चौथे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के साधकजीव, वे सभी अन्तरात्मा हैं और मिथ्यादृष्टि जीव, बहिरात्मा हैं।

बहिरात्मदशा के समय भी आत्मा की शक्ति में परमात्मा होने की सामर्थ्य पड़ी है। भगवान ने समवसरण में ऐसी दिव्य घोषणा की है कि अहो जीवों! तुम्हारे आत्मा में परमात्मशक्ति भरी हुई है, उस शक्ति का विश्वास करो। जो जीव अपनी परमात्मशक्ति का विश्वास करता है, उसे बहिरात्मपना छूटकर, वह अन्तरात्मा होता है और वह अपनी चैतन्यशक्ति में लीन होकर उसमें से परमात्मदशा प्रगट करता है।

जो परमात्मा हुए, उन्हें भी पूर्व में बहिरात्मदशा थी, परन्तु पश्चात् अपनी परमात्मशक्ति का श्रवण करते हुए उसका बहुमान लाकर, उसके सन्मुख होने से वह बहिरात्मपना मिटा और अन्तरात्मपना हुआ और फिर स्वभाव में लीन होकर वे परमात्मा हुए। इस प्रकार जो बहिरात्मा थे, वे ही अपनी शक्ति के अवलम्बन से परमात्मा हुए। ऐसी परमात्मा होने की सामर्थ्य प्रत्येक आत्मा में है। अभव्य में भी वैसी सामर्थ्य है परन्तु वह अपनी शक्ति की प्रतीति नहीं करता; इसलिए वह उसे कभी व्यक्त नहीं होती है।

कोई ऐसा कहे कि अभव्य जीव में केवलज्ञान की शक्ति नहीं है — तो यह बात मिथ्या है। अभव्य को भी केवलज्ञानावरणीय कर्म तो है या नहीं? यदि केवलज्ञान शक्ति न हो तो उसे आवरण करनेवाला कर्म क्यों होगा? अनादि से समस्त जीवों को

केवलज्ञानावरणीय कर्म है और आत्मा में केवलज्ञानादि परमस्वभाव भी अनादि से ही है। उस स्वभाव की प्रतीति करके, जो उसमें लीन होता है, उसे वह केवलज्ञानादि शक्ति प्रगट हो जाती है और केवलज्ञानावरणीय इत्यादि कर्म छूट जाते हैं। यहाँ तो यह बतलाना है कि तेरे आत्मा में अभी भी परमात्मदशा प्रगट होने की सामर्थ्य पड़ी है, उसकी प्रतीति कर और बहिरात्मबुद्धि छोड़!

दर्शनमोह सम्बन्धी सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृति तथा सम्यक्त्वप्रकृति—ये दो प्रकृतियाँ तो अनादि मिथ्यादृष्टि को होती नहीं है। वे तो एक बार सम्यक्त्वप्राप्त अमुक जीव को ही होती है; अनादि मिथ्यादृष्टि को तो अकेली मिथ्यात्वप्रकृति ही होती है, दूसरी दो प्रकृतियाँ उसे नहीं होती है परन्तु उसकी तरह अनादि मिथ्यादृष्टि को या अभव्य को केवलज्ञानावरण तथा मन:पर्ययज्ञानावरण कर्मप्रकृतियों का भी अभाव नहीं है। पहले से ठेठ बारहवें गुणस्थान तक के समस्त जीवों को पाँचों ज्ञानावरण कर्म होते हैं और ठेठ दसवें गुणस्थान के अमुक भाग तक ज्ञानावरण की पाँचों प्रकृतियाँ बँधा ही करती है। इस बन्धन के आधार से यहाँ सिद्ध यह करना है कि सभी आत्माओं में वे केवलज्ञानादि शक्तिरूप से है। 'सर्व जीव है सिद्ध सम' — शक्तिरूप से सभी आत्मा परिपूर्ण सिद्ध भगवान जैसी सामर्थ्यवाले हैं परन्तु 'जो समझें वे होय' अपनी स्वभाव शक्ति को जो समझते हैं, उन्हें उस शक्ति में से परमात्मदशा प्रगट होती है।

मेरे आत्मा में परमात्मा होने की सामर्थ्य है और उसमें से परमात्मदशा प्रगट करना, वह उपादेय है। ऐसी शक्ति की प्रतीति करने से बहिरात्मपना छूटकर अन्तरात्मपना होता है और वह परमात्मा होने का उपाय है। इस प्रकार बहिरात्मपना छोड़ने योग्य है, परमात्मपना प्रगट करने योग्य है और अन्तरात्मपना उसका उपाय है।

देखो! परमात्मा होने का, अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति का उपाय अपने में ही बतलाया है! शुद्धस्वभाव के अनुभवरूप जो अन्तरात्मदशा है, वही मोक्षसुख का उपाय है। इसके अतिरिक्त बाहर के कोई भाव, मोक्षसुख का उपाय नहीं है। अपनी आंशिक शुद्धता ही अपनी पूर्ण शुद्धदशा का कारण है।

दूसरा, कोई बाह्यवस्तु छोड़ने की बात नहीं की परन्तु बहिरात्मपना छोड़ने को कहा

है। बाह्यवस्तु को तो आत्मा ने कभी ग्रहण ही नहीं किया, इसलिए उसे आत्मा छोड़ता ही नहीं; वह तो छूटी हुई ही है परन्तु उस बाह्य वस्तु को अपनी माननेरूप जो बहिरात्मपना है, वह आत्मा की दशा में है और वह बहिरात्मपना छोड़ना है। आत्मा के अन्तरस्वभाव के भान द्वारा बहिरात्मपना छूटता है।

परमात्मशक्ति से परिपूर्ण ऐसे अपने आत्मस्वभाव को भूलकर 'देह, वह मैं; राग, वह मैं' — ऐसी बहिरात्मबुद्धि से, अर्थात् मिथ्याबुद्धि से जीव अनादि काल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है और वह दुःख का ही कारण है; इसलिए वह बहिरात्मबुद्धि छोड़नेयोग्य है।

बहिरात्मबुद्धि छोड़ने का उपाय क्या? अन्तरात्मपना, वह बहिरात्मपने के त्याग का उपाय है। मैं शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, ज्ञान-दर्शनस्वरूप एक शाश्वत् आत्मा ही मेरा है, इसके अतिरिक्त संयोग लक्षणरूप कोई भी भाव मेरे नहीं हैं, वे मुझसे बाह्य हैं - ऐसा भेदज्ञान करके आत्मा के अन्तरस्वभाव में आत्मबुद्धि करना, वह अन्तरात्मपना है। ऐसे अन्तरात्मपनेरूप साधन द्वारा परमात्मदशा प्रगट करने का उपाय करना चाहिए। ●

यह कोई आश्चर्य की बात नहीं

वीतरागी सन्तों को, मुनियों को अन्तरस्वरूप में रहना, स्थिर होना; यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि उनकी तो स्वभाव-परिणति की स्थिति ही ऐसी है। मुनिराज तो दिन में हजारों बार छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हैं। इस प्रकार एक दिन में हजारों बार अप्रमत्त दशा आती है। क्षण में सातवाँ गुणस्थान आने पर आनन्द में लीन हो जाते हैं और क्षण में फिर विकल्प उत्पन्न होने पर छठवाँ गुणस्थान आ जाता है, पुनः सातवाँ गुणस्थान आता है और फिर पुनः छठवाँ गुणस्थान आता है। देखो! यह मुनिदशा! जैनदर्शन / वास्तविक दर्शन के सन्त ऐसे होते हैं। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/५६*

बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का स्वरूप

अब, बहिरात्मपना छोड़कर, अन्तरात्मा होकर, परमात्मपना प्रगट करने के लिये शिष्य पूछता है कि प्रभो! इन तीनों का लक्षण क्या है? उसका उत्तर कहते हैं।

बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः।
चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः परमात्माऽतिनिर्मलः॥५॥

बहिरातम भ्रम वश गिने, आत्मा तन इक रूप।
अन्तरात्म मल शोधता, परमात्मा मल मुक्त॥५॥

अन्वयार्थ :- **(शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिः बहिरात्मा)** शरीरादिक में आत्मभ्रान्ति को धरनेवाला, उन्हें भ्रम से आत्मा समझनेवाला, बहिरात्मा है। **(चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः आन्तरः)** चित्त के, राग-द्वेषादिक दोषों के और आत्मा के विषय में अभ्रान्त रहनेवाला- उनका ठीक विवेक रखनेवाला, अर्थात् चित्त को चित्तरूप से, दोषों को दोषरूप से और आत्मा को आत्मारूप से अनुभव करनेवाला, अन्तरात्मा कहलाता है। **(अतिनिर्मलः परमात्मा:)** सर्व कर्ममल से रहित जो अत्यन्त निर्मल है, वह परमात्मा है।

शरीरादि बाह्य पदार्थों में, जो आत्मा की भ्रान्ति करता है, वह बहिरात्मा है और राग-द्वेषादि दोष तथा चैतन्यस्वरूप आत्मा के सम्बन्ध में जो भ्रान्तिरहित है, वह अन्तरात्मा है। जो रागादि दोष को दोषरूप जानता है, और अपने चैतन्यस्वभाव को स्वभावरूप जानता है, जिसे रागादि में 'आत्मा' की भ्रान्ति नहीं होती और मलिनता से भिन्न अपने शुद्धस्वभाव को जो निःशंकरूप से जानता है, वह अन्तरात्मा है और जो अत्यन्त निर्मल है, जिसके रागादि दोष सर्वथा मिट गये हैं और सर्वज्ञ परमपद जिसके प्रगट हो गया है, वह परमात्मा है। इस प्रकार तीन प्रकार के आत्मा का स्वरूप जानना चाहिए।

यह शरीरादि जड़पदार्थ प्रगटरूप से आत्मा से भिन्न हैं, वे कोई पदार्थ, आत्मा के

नहीं हैं; आत्मा से बाहर ही हैं, तथापि जो उन्हें अपने मानता है, वह जीव, बहिरात्मा है। यह शरीर मेरा, मैं देव, मैं मनुष्य, मैं पुरुष, मैं स्त्री, मैं श्वेत, मैं काला, मैं रागी, मैं द्वेषी, इस शरीर का कार्य मैं करता हूँ और शरीरादि की क्रिया से मुझे हित-अहित होता है - ऐसा माननेवाले जीव, बहिरात्मा / मिथ्यादृष्टि हैं, क्योंकि अपने आत्मा को बाह्य पदार्थ से भिन्न नहीं जानते हैं किन्तु बाह्य पदार्थों को ही आत्मा मानते हैं - ऐसे लक्षण से बहिरात्मपना पहचानकर, वह छोड़नेयोग्य है।

देह से भिन्न और रागादि से पार मेरा आत्मा, ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, ऐसा अन्तर में आत्मा के परमार्थस्वरूप को जो पहचानता है, वह अन्तरात्मा है। ऐसे लक्षण से अन्तरात्मपना पहचानकर, वह प्रगट करने योग्य है।

समस्त दोष से रहित, आत्मा का पूर्ण ज्ञान-आनन्दस्वरूप प्रगट हो, वह परमात्मदशा है, वह परम उपादेय है।

यह श्री पूज्यपादस्वामी रचित समाधिशतक पढ़ा जा रहा है। आत्मा को समाधि कैसे हो और मोक्षसुख की प्राप्ति कैसे हो? - उसका उपाय बतलाते हैं।

अनादि काल से जीव, संसार में परिभ्रमण कर रहा है, उसका कारण अज्ञान और असमाधि है। वह कैसे छूटे तथा सुख और समाधि कैसे हो? यह बतलाते हैं। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है। उसे भूलकर, बाहर में देह-मन-वचन तथा रागादि, वही मैं हूँ - ऐसी बहिरात्मबुद्धि के कारण ही अज्ञानी, अनादि काल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। मैं देहादिक से भिन्न और रागादि से दोषों से पृथक् शुद्धज्ञानानन्दस्वरूप हूँ - ऐसी आत्मा की पहचान करके अन्तरात्मा होना, वह भवभ्रमण से छूटने का उपाय है।

गृहस्थाश्रम में रहनेवाला जीव भी, ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का भान करके अन्तरात्मा हो सकता है; अभी राग-द्वेष होने पर भी, आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है - ऐसा सम्यक्भान हो सकता है। समकिती धर्मात्मा, जीव-अजीवतत्त्वों को भ्रान्तिरहित यथार्थरूप से जानता है। जीव को जीवरूप से जानता है; रागादि को रागादिरूप से जानता है; देहादिक को अजीवरूप से जानता है। देहादिक को और रागादिक को वह आत्मा का स्वरूप नहीं मानता है।

★ जीव तो ज्ञान-दर्शन-आनन्दस्वरूप है।

★ देह इत्यादि तो अजीव हैं, वह जीव से भिन्न हैं।

★ राग-द्वेष-अज्ञान, वे दुःखरूप भाव हैं, अर्थात् वे आस्रव और बन्धरूप हैं।

★ सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप भाव, वे जीव को सुखरूप हैं, वे संवर-निर्जरा-मोक्ष का कारण हैं।

- इस प्रकार समस्त तत्त्वों को ज्यों का त्यों जानकर, एक ज्ञानानन्दरूप अपने आत्मा में ही आत्मबुद्धि करता है, देहादिक को अपने से बाह्य जानता है, राग-द्वेष-अज्ञान को दुःखरूप जानकर छोड़ता है और सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र को सुखरूप जानकर आदर करता है - ऐसे जीव को अन्तरात्मा कहते हैं। ऐसा अन्तरात्मपना चौथे गुणस्थान से शुरु होकर बारहवें गुणस्थान तक होता है।

ज्ञानस्वरूप जीव और शरीरादि अजीव, ये दोनों पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं, तथापि अज्ञानी जीव, भ्रान्ति से इन दोनों को एक मानता है; शरीरादि के कार्यों को आत्मा का मानता है और आत्मा को शरीरादि बाह्य पदार्थों से हित-अहित मानता है; ज्ञान वैराग्यरूप भाव, आत्मा को हितरूप होने पर भी, उसमें वह प्रवृत्ति नहीं करता, उसमें तो अरुचि और झुंझलाहट करता है तथा राग-द्वेष-मोहरूप भाव, जीव को अहितरूप होने पर भी, उनमें निरन्तर प्रवर्तता है - उनकी रुचि नहीं छोड़ता; इस प्रकार जीव-अजीव इत्यादि तत्त्वों के स्वरूप में भ्रान्ति से प्रवर्तता है, वह अज्ञानी बहिरात्मा है।

धर्मी तो जानता है कि मैं जड़ से भिन्न हूँ, देहादिक मेरे नहीं हैं, मैं उनका नहीं हूँ; मेरा तो एक ज्ञान-दर्शन लक्षणरूप शाश्वत् आत्मा ही है, इसके अतिरिक्त संयोग लक्षणवाले जो कोई भाव हैं, वे सब मुझसे बाह्य हैं। चैतन्य के आश्रय से ज्ञान-वैराग्यरूप भाव प्रगट हों, वे मुझे हितरूप हैं और बाह्य पदार्थ के आश्रय से रागादि भाव हों, वे मुझे अहितरूप हैं; इस प्रकार जीव-अजीव इत्यादि तत्त्वों की प्रतीति करके, अन्तर्मुख चैतन्यस्वरूप में वर्तता है, वह अन्तरात्मा है।

राग-द्वेष-मोह का सर्वथा क्षय करके केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द और अनन्त वीर्य जिनके प्रगट हो गये हैं, वे परमात्मा हैं। उनमें अरिहन्त परमात्मा, वे सकलपरमात्मा है और सिद्ध परमात्मा, वे निकलपरमात्मा हैं। चार घातिकर्मों के क्षय

से केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टय तो दोनों को समान हैं। अरिहन्त परमात्मा को चार अघाति कर्म शेष हैं, उनका प्रतिक्षण क्षय होता जाता है; बाहर में समवसरण आदि दिव्य वैभव होता है; वे परम हितोपदेशक हैं। अभी शरीर के संयोगसहित होने से वे सकलपरमात्मा हैं।

सिद्ध परमात्मा, आठों कर्मों से रहित होकर लोक के शिखर पर विराजमान हैं। अनन्त आनन्द के अनुभव में कृतकृत्यरूप से सादि-अनन्त काल तक विराजते हैं। शरीरादि का संयोग छूट गया है; इसलिए उन्हें निकलपरमात्मा कहते हैं।

सिद्ध भगवान जैसी ताकत से भरपूर इस आत्मा का स्वभाव है। उसे भूलकर अज्ञानी जीव, बाह्य विषयों में सुख-दुःख की बुद्धि से दिन-रात जल रहा है। बाह्य में अनुकूल-प्रतिकूल संयोग मिलना, वह तो पुण्य-पाप के बन्ध का फल है। पूर्व में पुण्य-पाप से जो शुभ-अशुभकर्म बँधे, उनके फल में बाह्य में अनुकूल-प्रतिकूल संयोग मिलते हैं। वे संयोग तो आत्मा से भिन्न हैं, तथापि उन्हें सुख-दुःख का कारण मानना, भ्रान्ति है। उस भ्रान्ति के कारण अज्ञानी जीव, अपनी आत्मशान्ति को खो बैठा है और बाह्य विषयों की प्रीति से दुःखी हो रहा है।

अतीन्द्रिय चैतन्य विषय को चूककर बाह्य इन्द्रिय विषयों में मूर्च्छित हो गया है; इसलिए बहिरात्मा निरन्तर दुःखी है। मेरे परमानन्द की शक्ति मेरे आत्मा में ही भरी है। इन्द्रिय के बाह्य विषयों में मेरा सुख नहीं है — ऐसी अन्तर-प्रतीति करके धर्मात्मा, अन्तर्मुख होकर आत्मा के अतीन्द्रियसुख का स्वाद लेता है। जैसे, छोटी पीपर के दाने-दाने में चौसठ पहरी चरपराहट की ताकत भरी है; उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा का स्वभाव परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द से भरपूर है परन्तु उसका विश्वास करके, उसमें अन्तर्मुख होकर एकाग्र होवे तो उस ज्ञान-आनन्द का स्वाद अनुभव में आवे। आत्मा से बाह्य विषयों में कहीं आत्मा का आनन्द नहीं है। धर्मी अपने आत्मा के अतिरिक्त बाहर में कहीं स्वप्न में भी आनन्द नहीं मानते हैं। ऐसे अन्तरात्मा अपने अन्तरस्वरूप में एकाग्र होकर, परिपूर्ण ज्ञान व आनन्द प्रगट करके स्वयं ही परमात्मा होते हैं। सर्वज्ञ होने पर भी, जब तक शरीरादि सहित है, तब तक वे अरिहन्त, सकलपरमात्मा हैं और फिर शरीररहित हो गये, वे सिद्ध, निकलपरमात्मा हैं।

इस प्रकार बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का स्वरूप कहा है, उसे जानकर मोक्षार्थी को अन्तरात्मारूप उपाय द्वारा परमात्मपना साधना और बहिरात्मपना छोड़ना चाहिए।

यह समाधिशतक है। समाधि अर्थात् क्या ? आधि-व्याधि और उपाधिरहित आत्मा की सहज शान्ति, वह समाधि है अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह समाधि है अथवा निर्विकल्प आनन्द के अनुभव में लीनता, वह समाधि है। वह समाधि कैसे हो ? देहादिक से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का भान करके, उसमें एकाग्रता से समाधि होती है। आत्मा को देहादिक से भिन्न न जाने और रागादिवाला ही जाने तो उसे समाधि नहीं होती है परन्तु भ्रान्ति होती है; ऐसी भ्रान्ति, वह बहिरात्मदशा है।

जिसे सिद्ध-समान ज्ञान-आनन्द से परिपूर्ण, देहादिक से भिन्न आत्मा की अन्तर्दृष्टि है, वह अन्तरात्मा है। 'देह मैं, राग मैं' — इस प्रकार पर में आत्मा के संकल्प-विकल्प से जो रहित है, वह निर्विकल्प प्रतीतिसहित है, वह अन्तरात्मा है; फिर चैतन्य में लीन होकर, जिन्होंने केवलज्ञान और परिपूर्ण आनन्द प्रगट किया है, वे परमात्मा हैं। ऐसी परमात्मदशा, परम उपादेय है।

चैतन्यस्वभाव को देहादिक से भिन्न जानकर, उसके अवलम्बन से सर्वज्ञता और आत्मा का स्वाधीन अतीन्द्रिय आनन्द, भगवान ने प्रगट किया है। वे भगवान परमात्मा, सर्वज्ञ-वीतराग और परम हितोपदेशक हैं; आनन्द से भरपूर निजरस का पान करते हैं। आत्मा में से ही उत्पन्न ऐसे परम स्वाधीन अनन्त सुख के भोगने में सदा ही लीन है। देखो, भगवान परमात्मा कैसे हैं ? सर्वज्ञ-वीतराग, परम हितोपदेशी हैं। स्वयं सर्वज्ञ-वीतराग हुए और दूसरे जीवों को भी अन्तरंगस्वरूप के अवलम्बन से सर्वज्ञ-वीतराग होने का ही उपदेश दिया। महाविदेह में अभी सीमन्धर परमात्मा साक्षात् विराजमान हैं। समवसरण में उनका ऐसा उपदेश है कि तुम्हारा स्वभाव परिपूर्ण ज्ञान और आनन्दस्वरूप है; राग का एक अंश भी ज्ञानस्वभाव में नहीं है - ऐसे स्वभाव का अवलम्बन करो।

भगवान का उपदेश, वीतरागता का है; राग रखने का भगवान का उपदेश नहीं है। यदि राग से लाभ होता तो भगवान स्वयं राग छोड़कर वीतराग क्यों हुए ? और जो वीतराग हुए हैं, वे राग से लाभ होना कैसे कहें ? राग से लाभ होता है - ऐसा भगवान का उपदेश

है ही नहीं। राग से लाभ होता है – ऐसा उपदेश, वह हितोपदेश नहीं, परन्तु अहितोपदेश है क्योंकि राग तो अहित है; हित तो वीतरागता ही है।

आत्मा, पर का कर्ता है – ऐसा जो मानता है, वह पर का राग कैसे छोड़ेगा ? अथवा पर से आत्मा को लाभ माने तो वह पर का राग कैसे छोड़ेगा ? और राग से लाभ माने तो वह भी राग को छोड़ने योग्य कैसे मानेगा ? जो राग को आदरणीय मानता है, वह रागरहित वीतरागी–सर्वज्ञ परमात्मा को पहिचानता ही नहीं; सर्वज्ञदेव द्वारा प्रदत्त हितोपदेश को वह समझता नहीं है।

भगवान तो परम हित का ही उपदेश देनेवाले हैं। बन्ध के और अहित के कारणों का ज्ञान कराते हैं परन्तु उनका ज्ञान कराकर, उन्हें छुड़ाते हैं और हित के कारणरूप सम्यग्दर्शन आदि प्राप्त कराते हैं।

देखो, आज ग्रन्थाधिराज समयसार की प्रतिष्ठा का दिन है, अठारह वर्ष पहले (अर्थात् वीर संवत् 2464 में) * इस जैन स्वाध्यायमन्दिर का उद्घाटन हुआ, तब यहाँ इस समयसार की विधिपूर्वक प्रतिष्ठा (बहिनश्री चम्पाबेन के हस्ते) हुई है। समयसार, अर्थात् शुद्ध आत्मा; शक्तिरूप से प्रत्येक आत्मा शुद्धस्वभाव से परिपूर्ण कारणसमयसार है, उसे कारणपरमात्मा कहते हैं। इस कारणसमयसारस्वरूप शुद्ध आत्मा का स्वरूप यह समयसार बतलाता है और इस कारणसमयसार की दृष्टि करने से, इसके आश्रय से अनन्त चतुष्टयस्वरूप कार्यपरमात्मपना खिल जायेगा, वह कार्यसमयसार है। ऐसे कारणसमयसार शुद्ध आत्मा की जिसने श्रद्धा, ज्ञान और रमणता की है, उसने अपने आत्मा में भगवान समयसार की स्थापना की है। उसके निमित्तरूप समयसार की स्थापना का यह दिन है। भगवान की दिव्यध्वनि में कथित उपदेश, कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने इस समयसार में गूँथा है। सीमन्धर परमात्मा महाविदेह में तीर्थंकररूप से साक्षात् विराजमान हैं, उनकी तथा उनके समवसरण की यहाँ स्थापना है और उन भगवान ने दिव्यध्वनि में जो कहा, वह इस समयसार में कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने भरा है। भव्य जीवों पर उन्होंने महान उपकार किया है।

कुन्दकुन्दाचार्यदेव यहाँ (भरतक्षेत्र में) हुए, विदेह में गये, दिव्यध्वनि लाये और यह समयसार रचा। यह अन्तर के कारणसमयसार का वाचक है और उस कारणसमयसार

के आश्रय से कार्यसमयसार हुआ जाता है। इस प्रकार तीन समयसार हुए — एक, कारणसमयसार; उसके आश्रय से होनेवाला कार्यसमयसार; और उसके वाचकरूप यह परमागमसमयसार। ऐसे शुद्ध समयसार को पहचानकर, आत्मा में उस समयसार की स्थापना करे तो उसके आश्रय से मोक्ष के कारणरूप सम्यग्दर्शनादि प्रगट हों, उस सम्यग्दर्शनादि पर्यायरूप मोक्षमार्ग को भी कारणसमयसार कहा जाता है क्योंकि वह मोक्ष का कारण है। वह अपूर्व है, अर्थात् पूर्व में कभी ऐसे आत्मा की श्रद्धा या पहचान नहीं की है। अरिहन्त परमात्मा हुए, वे तो कार्यपरमात्मा हैं और उस कार्य का जो कारण है, वह त्रिकाली कारणपरमात्मा है। पहली ही बार यह बात सुनते हुए बहुमान लाकर हाँ करे और उसका निर्णय करके विश्वास करे, वह धर्म की अपूर्व शुरुआत है। ज्ञानस्वभाव का लक्ष्य करना ही परमहित का मार्ग है और ऐसे हित का ही उपदेश, भगवान ने किया है, अर्थात् ज्ञानस्वभाव के सन्मुख झुकने का ही भगवान का उपदेश है। पराश्रय का भगवान का उपदेश नहीं है, उसे तो छुड़ाने का भगवान का उपदेश है। पहले ऐसा निर्णय करे, उसने भगवान परमात्मा को और उनके हितोपदेश को जाना है, किन्तु जो रागादि से लाभ मानता है, उसने हितोपदेशी सर्वज्ञ-वीतराग परमात्मा को माना नहीं है, उनके उपदेश को जाना नहीं है।

अरिहन्त परमात्मा अभी देहसहित हैं, वे दिव्यध्वनि से उपदेश देते हैं और सिद्ध परमात्मा देहरहित हो गये हैं, वे लोकाग्र में विराजमान हैं। अरिहन्त और सिद्ध परमात्मा, इन्द्रिय-विषयोंरहित निजानन्द का अनुभव करते हैं। ऐसे भगवान के आनन्द को पहिचाने तो आत्मा के आनन्दस्वभाव की प्रतीति हो जाये और इन्द्रिय-विषयों में से सुखबुद्धि उड़ जाये। भगवान सादि-अनन्त अपने अतीन्द्रिय आनन्दरस का पान करते हैं; कृतकृत्य परमात्मा हैं; अपने अतीन्द्रियज्ञान और आनन्द के भोग के अतिरिक्त दूसरा कोई कार्य उन्हें नहीं रहा है। आत्मा की शक्ति में से आनन्द उछला है, उसके अनुभव से परमात्मा कृतकृत्य है। ऐसी कृतकृत्य परमात्मदशा ही जीव को परमहितरूप है और वही सर्व प्रकार से उपादेय है।

इस प्रकार बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का स्वरूप कहा; उसे जानकर, बहिरात्मपना छोड़ो और भिन्न आत्मा के भान द्वारा अन्तरात्मा होकर, परमात्मपद को साधो – ऐसा तात्पर्य है।●

परमात्मस्वरूप के दिग्दर्शक अनेक नाम

पाँचवीं गाथा में परमात्मपना उपादेय कहा; उसकी विशेष पहचान कराने के लिये, अब छठवीं गाथा में अनेक नामों से उसकी पहचान कराते हैं।

निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥६॥

शुद्ध, स्पर्श-मल बिन प्रभू, अव्यय अज परमात्म।
ईश्वर निज उत्कृष्ट वह, परमेष्ठी परमात्म ॥६॥

अन्वयार्थ :- (**निर्मलः**) निर्मल—मलरहित, (**केवल**) केवल—शरीरादि परद्रव्यों के सम्बन्ध से रहित, (**शुद्धः**) शुद्ध—रागादि से अत्यन्त भिन्न हो गये होने से परमविशुद्धिवाले, (**विविक्त**) विविक्त—शरीर और कर्मादिक के स्पर्श से रहित, (**प्रभुः**) प्रभु—इन्द्रादिक के स्वामी, (**अव्यय**) अव्यय—अपने अनन्त चतुष्टयरूप स्वभाव से कभी च्युत नहीं होनेवाले, (**परमेष्ठी**) परमेष्ठी—इन्द्रादिक से वन्द्य परमपद में स्थित, (**परात्मा**) परात्मा—संसारी जीवों से उत्कृष्ट आत्मा, (**ईश्वर**) ईश्वर—अन्य जीवों में असम्भव, ऐसी विभूति के धारक, अर्थात् अन्तरङ्ग अनन्त चतुष्टय और बाह्य समवसरणादि विभूतियों से युक्त, (**जिनः**) जिन—ज्ञानावरणादि सम्पूर्ण कर्मशत्रुओं को जीतनेवाले, (**इति परमात्मा**) ये परमात्मा के नाम हैं।

भगवान परमात्मा, मोहादि द्रव्यकर्म तथा भावकर्मरूप मल से रहित होने से **निर्मल** है। शरीरादि के सम्बन्धरहित होने से **केवल** है। अरिहन्त परमात्मा भी वास्तव में शरीरादि के सम्बन्धरहित हैं क्योंकि शरीर या इन्द्रियों जनित सुख-दुःख या ज्ञान उन्हें नहीं है; वे अतीन्द्रिय हो गये हैं। द्रव्यकर्म-भावकर्म का अभाव होने से वे **शुद्ध** है। चार घातिकर्म मिटे, वहाँ शेष रहे चार अघातिकर्मों का भी क्षय ही होता जाता है, वे रागादि अशुद्धता उत्पन्न

नहीं करते; इसलिए अरिहन्त भगवान भी परम विशुद्धि को प्राप्त हुए होने से शुद्ध हैं। रागादि से अत्यन्त भिन्न हो गये होने से भगवान, **विभिक्त** है। इन्द्र इत्यादि के भी स्वामी होने से **प्रभु** है अथवा केवलज्ञानरूप प्रभुता प्रगट हुई होने से प्रभु हैं। केवलज्ञानादि जो अनन्त चतुष्टय प्रगट हुए, उनसे कभी च्युत नहीं होते; इसलिए **अव्यय** हैं। इन्द्रादिक से वन्द्य, ऐसे परम चैतन्यपद में स्थित होने से वे **परमेष्ठी** हैं। संसार के जीवों से पर, अर्थात् उत्कृष्ट आत्मा होने से वे **परात्मा** है; और वे ही उत्तम होने से **परमात्मा** हैं। इन्द्रादिक को भी न हों, ऐसे अन्तरङ्ग केवलज्ञानादि और बहिरङ्ग (समवसरणादि) दिव्य ऐश्वर्यसहित होने से वे ही **ईश्वर** हैं और समस्त द्रव्यकर्म-भावकर्म का उन्मूलन कर डाला होने से वे ही **जिन** हैं। इस प्रकार ये सभी नाम शुद्ध आत्मारूप परमात्मा के वाचक हैं।

परमात्मा के ऐसे स्वरूप को पहचानकर, अपने आत्मा को भी ऐसे स्वरूप से चिन्तवन करना, यह परमात्मा होने का उपाय है।

इन्द्र, एक हजार आठ नामों से भगवान की स्तुति करता है और सन्त मुनिवर भी अनेक-अनेक नामों से भगवान की स्तुति करते हैं। सन्त, अन्दर में कर्म के सम्बन्धरहित और रागादिरहित अपने शुद्ध परमात्मस्वरूप को लक्ष्य में लेकर उसे साधते हैं। वहाँ परमात्मस्वरूप को प्राप्त ऐसे अरिहन्त-सिद्ध भगवन्तों के प्रति बहुमान का भाव आने पर अनेक प्रकार से स्तुति करते हैं। जिसे ऐसे शुद्ध आत्मा का लक्ष्य हो, वही परमात्मा की वास्तविक स्तुति कर सकता है।

परमात्मा को किसी भी गुणवाचक नाम से पहचाना जा सकता है। बोधस्वरूप होने से उन्हें 'बुद्ध' भी कहा जाता है। कल्याणस्वरूप होने से उन्हें 'शिव' भी कहा जाता है। अपने सर्व गुणों में व्यापक होने से उन्हें 'विभु' भी कहा जाता है। मोक्षमार्ग की रचना करनेवाले होने से उन्हें 'ब्रह्मा' भी कहा जाता है; इस प्रकार गुण की पहचानपूर्वक चाहे जिस नाम से कहा जा सकता है।

जिसे शुद्ध आत्मा की दृष्टि है—ऐसा अन्तरात्मा तो परमात्मा की भावना भाता है और बहिरात्मा तो रागादि की भावना भाता है। भगवान परमात्मा को रागादि का या कर्मों का सम्बन्ध छूट गया है; इसलिए वे 'केवल' हैं। इसी प्रकार मेरा आत्मा भी परमार्थ से

रागादि के सम्बन्धरहित और कर्म के सम्बन्धरहित है—ऐसे अपने आत्मा को 'केवल' अर्थात् परसम्बन्धरहित अकेला शुद्ध अनुभव करना, वह परमात्मा होने का उपाय है।

समयसार (गाथा-१५) में भी कहा है कि एकत्व-विभक्त आत्मा का अनुभव, वह जैनशासन है। कर्म के बन्धनरहित और पर के सम्बन्धरहित—ऐसा जो शुद्ध ज्ञायकभाव है, उसके सन्मुख होकर उसका अनुभव करना, वही जैनशासन है; और जो अपने ऐसे आत्मा का अनुभव करे, उसे ही परमात्मा की परमार्थ पहचान होती है कि अहो! राग से पृथक् करके जो अतीन्द्रिय आनन्द का अंश मुझे वेदन में आया, उसी जाति का (परन्तु इससे अनन्तगुना) परिपूर्ण आनन्द परमात्मा को प्रगट हो गया है और वे सर्वथा रागरहित हो गये हैं; इस प्रकार अंश के वेदनपूर्वक पूर्ण का भान होने पर, साधक को उनके प्रति वास्तविक भक्ति और बहुमान आता है। परमात्मा के प्रति जैसा भक्ति-बहुमान, ज्ञानी के अन्तर में होता है, वैसा अज्ञानी को नहीं होता है।

भगवान परमात्मा का 'विविक्त' ऐसा भी एक नाम है। विविक्त अर्थात् भिन्न; आत्मा का स्वभाव रागादि से विविक्त है — ऐसा पहले जानकर; भगवान, राग से खाली अर्थात् विविक्त हो गये। देखो! यह परमार्थ 'विविक्तशय्यासन!' ब्रह्मचर्य की रखा के लिये विविक्तशय्यासन करना अर्थात् स्त्री-पशु इत्यादि से खाली एकान्त स्थान में रहना —ऐसा कहा है, उसमें तो व्यवहार में उस प्रकार का विकल्प होता है, उसकी बात है परन्तु परमार्थ से यह ब्रह्मस्वरूप चैतन्यस्वरूप आत्मा, राग के संग से ही रहित है—राग से भी विविक्त है—ऐसा जो नहीं जानता और राग के संग से लाभ मानता है, उसे वास्तव में 'विविक्तशय्यासन' नहीं परन्तु विकार में ही शय्यासन है। भले ही वह जंगल में एकान्त गुफा में अकेला पड़ा रहता हो तो भी अन्तर्मुख से राग का संग छूटा नहीं, इसलिए उसे वास्तव में विविक्तशय्यासन नहीं होता और परमात्मा, रागादि से कैसे विविक्त हैं, उन्हें भी वह नहीं पहिचानता। आत्मा को पर से विविक्त जानकर, उसमें बसना - एकाग्र होना, वह विविक्तपना है।

यहाँ तो भगवान परमात्मा के स्वरूप की पहचानसहित उनके अनेक नामों की बात है। आत्मा में अनन्त गुण हैं, उनके गुणों की अपेक्षा से उन्हें भिन्न-भिन्न अनेक नामों से

कहा जाता है। उनमें से कितने ही नाम तो ऊपर कहे हैं। तदुपरान्त सर्व के ज्ञाता होने से भगवान को 'सर्वज्ञ' कहते हैं; सहज आत्मिक-आनन्दसहित होने से 'सहजानन्दी' भी कहते हैं। राग-द्वेष-मोहरूप कलंक से रहित होने से 'निकलंक' अथवा 'अकलंक' भी कहा जाता है; रागादि अञ्जनरहित होने से 'निरञ्जन' भी कहा जाता है। जन्म-जरा-मरण से रहित होने से 'अज-अजर-अमर' भी कहा जाता है। तथा वे ही ज्ञानस्वरूप-बोधस्वरूप होने से वास्तविक 'बुद्ध' हैं; अपने ज्ञानानन्दस्वरूप की मर्यादारूप सीमा को धारण करते होने से वे ही 'सीमन्धर' हैं। आत्मा के अनन्त महान पराक्रमरूप वीरता प्रगट की होने से वे 'महावीर' हैं।

व्यक्तिरूप से तो एक नाम से एक भगवान पहचाने जाते हैं परन्तु गुणवाचक नामरूप से एक नाम कहने पर उसमें समस्त भगवान आ जाते हैं। जैसे कि सीमन्धर कहने पर व्यक्तिरूप से तो महाविदेहक्षेत्र के पहले तीर्थंकर 'सत्यवतीनन्दन' पहचाने जाते हैं तथा महावीर कहने से भरतक्षेत्र के अन्तिम तीर्थंकर (त्रिशला नन्दन) पहचाने जाते हैं परन्तु गुणवाचकरूप से तो सभी परमात्मा / जिनवरों को सीमन्धर अथवा महावीर कहा जाता है क्योंकि सभी भगवन्त, स्वरूप की सीमा को धारण करनेवाले हैं और महान वीर्य के धारक हैं; इस प्रकार गुण के स्वरूप से परमात्मा को पहचानने की प्रधानता है।

परमात्मा को जितने नाम लागू पड़ते हैं, वे सभी नाम इस आत्मा को भी स्वभाव अपेक्षा से लागू पड़ते हैं क्योंकि स्वभाव से तो यह आत्मा भी परमात्मा जैसा ही है। परमात्मा के गुणों को पहचानकर; जो परमात्मा का स्वरूप जानता है, उसे आत्मा का स्वरूप भी ज्ञात हुए बिना नहीं रहता। जितने गुण परमात्मा में हैं, उतने ही गुण इस आत्मा में हैं और उनका विकास करके (अर्थात् पर्याय में प्रगट करके) यह आत्मा स्वयं परमात्मा हो सकता है। इस प्रकार आत्मा के ध्येयरूप जो परमात्मपद, उसे भलीभाँति पहचानना चाहिए। पहचान के बिना उसकी प्राप्ति नहीं होती, अर्थात् सुख नहीं होता।

आत्मा का वास्तविक स्वरूप जाने बिना देहादिक को अपनी मानकर जीव अनादि काल से दुःखी हो रहा है, वह दुःख कहो या असमाधि कहो; वह मिटकर सुख अथवा समाधि कैसे हो - उसकी यह बात है।

देखो भाई! दु:ख तो किसे प्रिय है!! जगत् में किसी को दु:ख प्रिय नहीं है। ज्ञानियों को जगत के दु:खी प्राणियों पर करुणाबुद्धि वर्तती है। स्वयं जिस दु:ख से छूटना चाहता है, वह दु:ख दूसरे पावें — ऐसी भावना ज्ञानी को कैसे हो? ज्ञानी को तो ऐसी सहज करुणा आती है कि अरेरे! यह जीव बेचारे अपने स्वरूप को भूलकर, अज्ञान के कारण महान दु:ख में डूबे हुए हैं, उससे छूटने के उपाय का भी उन्हें पता नहीं है! मैं जिस परिपूर्ण सुख को प्राप्त करना चाहता हूँ, वह सुख दूसरे जीव भी प्राप्त करें—ऐसा ज्ञानी का तो अनुमोदन है। उपदेश में तो ज्ञानी धर्मात्मा या वीतरागी सन्त–मुनि भी ऐसा कहते हैं कि जो जीव, धर्म का तीव्र विरोध करेंगे और तीव्र पापभाव करेंगे, वे जीव, मिथ्यात्व के सेवन से नरक–निगोद में भटकेंगे और अनन्त दु:ख प्राप्त करेंगे परन्तु ऐसा कहने में ज्ञानी–सन्तों को कहीं किसी व्यक्ति के प्रति द्वेषबुद्धि नहीं है तथा उन्हें किसी जीव को नरक–निगोद में भेजने की भावना नहीं है, अपितु करुणाबुद्धि है–हितबुद्धि है; इसलिए यथार्थ वस्तुस्थिति बतलाकर जीवों को मिथ्यात्व से छुड़ाना चाहते हैं।

हे भाई! मिथ्यात्व का फल कठोर है—ऐसा जानकर तू उस मिथ्यात्व का सेवन छोड़ दे और आत्मा का स्वरूप समझ, जिससे तेरा हित हो! इस प्रकार हित के लिये ही ज्ञानी का उपदेश है... परन्तु क्या हो!! अरेरे, यह काल! जीव हित की बात सुनने पर भी उल्टा विरोध करते हैं, क्या हो? कोई किसी के भाव दूसरा बदल सकता है? संसार तो ऐसा का ऐसा चलने ही वाला है। जो जीव सत्य समझे, उसकी बलिहारी है... उसके संसार का एक–दो भव में अन्त आ जायेगा। बाकी जगत में तो संसार चलते ही रहना है... और संसार में भटकने के योग्य परिणामवाले जीव भी सदा ही रहनेवाले हैं... जगत के सभी जीव, सत्य समझकर मोक्ष प्राप्त कर जायें—ऐसा कभी होनेवाला नहीं है; इसलिए यह तो स्वयं सत्य समझकर अपना हित साध लेने योग्य है। अज्ञानी पुकार करते हैं तो करो... परन्तु उससे कहीं वस्तु का स्वरूप तो बदल नहीं जायेगा। वस्तुस्वरूप नहीं समझकर जो विरोध करते हैं, उनके प्रति ज्ञानी को करुणा आती है।

देखो, कुन्दकुन्दाचार्यदेव जैसे महावीतरागी सन्त अष्टप्राभृत में कहते हैं कि वस्त्र का एक धागा भी परिग्रहरूप से रखकर अपने को मुनिपना मनवावे तो वह जीव, निगोद

जायेगा, क्योंकि मुनिदशारूप मार्ग को ही उसने विपरीत माना है। ऐसा कहने में आचार्य भगवान को कहीं ऐसी भावना नहीं है कि हमारा विरोध करता है, इसलिए उसे निगोद में भेजना, परन्तु वस्तुस्थिति ही ऐसी है कि मिथ्यात्व का सेवन करनेवाला जीव अपने विपरीत परिणाम के कारण निगोद में जाता है... ऐसा बतलाकर आचार्यदेव करुणाबुद्धि से जीवों को मिथ्यात्व से छुड़ाना चाहते हैं... अरे जीव! मुनिदशा का वास्तविकस्वरूप पहिचान और जिनमार्ग की सच्ची श्रद्धा कर, कि जिससे तेरा आत्मा इन संसार के दुःखों से छूटकर मोक्षसुख प्राप्त करे।

श्रीमद् राजचन्द्रजी भी करुणापूर्वक आत्मसिद्धि में कहते हैं कि —

कोई क्रिया जड़ हो रहे शुष्क ज्ञान में कोई।
माने मारग मोक्ष का करुणा उपजे जोई॥

कोई अज्ञानी जीव तो शरीरादि जड़ की क्रिया में ही धर्म मानकर 'क्रिया जड़' हो रहे हैं; दूसरे कोई अज्ञानी, शुष्कज्ञान में अर्थात् वस्तुस्वरूप समझे बिना मात्र ज्ञान की बातें करने में ही मोक्षमार्ग मान रहे हैं परन्तु वास्तविक मोक्षमार्ग को पहचानते नहीं—ऐसे जीवों को देखकर करुणा आती है।

देखो, यह ज्ञानियों की करुणा! विपरीतश्रद्धा के फल में कैसा अपार दुःख है, यह ज्ञानी जानते हैं; इसलिए जीवों को विपरीत श्रद्धा के अनन्त दुःख से बचाने के लिये ज्ञानी बेधड़करूप से उस विपरीतश्रद्धा का निषेध करते हैं।

शरीर की क्रिया से धर्म होता है अथवा राग से धर्म होता है—ऐसी मिथ्याश्रद्धा का फल घोर संसार है; इसलिए जो दुःख से छूटना चाहते हों, वे ऐसी मिथ्यामान्यता छोड़ो और आत्मा का रागरहित; देह से भिन्न वास्तविक ज्ञानानन्दस्वरूप समझो—ऐसा ज्ञानियों का उपदेश है।

आत्मा तीन प्रकार के हैं। यद्यपि शक्तिरूप स्वभाव से तो सभी आत्माएँ समान हैं परन्तु अवस्था भेद से तीन प्रकार पड़ते हैं — बहिरात्मा, अन्तरात्मा, और परमात्मा।

चैतन्य के आनन्द को चूककर बाहर के विषयों में जो आनन्द मानता है, वह बहिरात्मा है। बाह्य विषयों से रहित अन्तर में चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द को जानकर जो

उसे साधता है, वह अन्तरात्मा है और आत्मा का परिपूर्ण आनन्द जिन्हें प्रगट हो गया है, वे परमात्मा हैं। वे परमात्मा, परिपूर्ण ज्ञानसहित हैं। अनादि-अनन्त काल को जैसा है, वैसा अपने दिव्यज्ञान में प्रत्यक्ष जानते हैं। जिसका कहीं अन्त नहीं—ऐसे अनन्त अलोकाकाश को भी प्रत्यक्षरूप से परिपूर्ण जानते हैं। ऐसी ही दिव्यज्ञान की कोई अचिन्त्य सामर्थ्य है। ज्ञान में अनादि-अनन्त काल को अथवा अनन्त आकाश को प्रत्यक्ष जान लिया; इसलिए ज्ञान में उसका अन्त आ गया, ऐसा कुछ नहीं है। यदि अन्त आ जाये तो अनादि-अनन्तपना कहाँ रहा? इसलिए ज्ञान में तो अनादि-अनन्त को अनादि-अनन्तरूप ही जैसा है वैसा जाना है, यह ज्ञान की कोई अचिन्त्य महिमा है।

अज्ञानी को अनादि-अनन्त काल की महानता भासित होती है परन्तु ज्ञान-सामर्थ्य में उससे अनन्तगुनी महानता है, वह उसे भासित नहीं होती और ज्ञानस्वभाव की महिमा प्रतीति में आये बिना इस बात का किसी प्रकार समाधान नहीं हो सकता है। काल का अनादि-अनन्तपना इसे बड़ा लगता है परन्तु ज्ञान की अनन्त सामर्थ्य इसे बड़ी नहीं लगती; इसलिए ही 'अनादि-अनन्त को ज्ञान किस प्रकार जाने?' ऐसी शंका इसे रहती है, उसमें वास्तव में तो ज्ञान-सामर्थ्य की ही शंका है। काल के अनादि-अनन्तपने से भी ज्ञान-सामर्थ्य महान है, यदि ऐसा विश्वास आवे तो ही उसे अनादि-अनन्त का ज्ञान इस प्रकार होता है, यह ख्याल में आयेगा। आहा! अचिन्त्य ज्ञानसामर्थ्य में अनादि-अनन्त काल तो कहीं समा जाता है और काल से भी अनन्तगुना आकाश भी उसमें परिपूर्ण ज्ञात हो जाता है। ऐसा ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द जिन्हें परिपूर्ण प्रगट हो गया है—ऐसे परमात्मा को केवली कहो, शुद्ध कहो, जिन कहो, ईश्वर कहो, बुद्ध कहो, महावीर कहो, सीमन्धर कहो, समयसार कहो—इत्यादि अनेक नामों से कहा जाता है।

वे परमात्मा क्षुधा, तृषा, रोगादि दोषों से रहित हैं; इसलिए उन्हें 'निर्दोष' भी कहा जाता है। भगवान को परिपूर्ण ज्ञानप्रकाश प्रगट हो गया है; इसलिए उन्हें 'परम ज्योति' अथवा 'चैतन्यसूर्य' भी कहा जाता है तथा भगवान को 'शास्ता' अर्थात् 'शासक' भी कहा जाता है क्योंकि मोक्षमार्गरूप उत्कृष्ट शासन के नायक भगवान हैं। शासन अर्थात् उपदेश-शिक्षा; मोक्षमार्ग का उत्कृष्ट उपदेश देनेवाले होने से भगवान शासक हैं। मोक्षमार्ग का

विधान (प्रतिपादन) करनेवाले होने से भगवान को 'विधाता' भी कहते हैं। 'वि' मोक्षमार्ग विधि धारण से ही 'धाता'—ऐसा भक्तामर स्तुति में भी कहा है। कोई विधाता आकर लेख लिख जाते हैं, यह बात तो असत्य है। ऐसा कोई विधाता इस जगत में नहीं है परन्तु सर्वज्ञ परमात्मा के ज्ञान में, कब क्या हुआ, क्या होता है और क्या होगा ? यह सब लिख (ज्ञात) हो (गया है); इसलिए वे ही विधाता हैं। स्वयं मोक्षमार्ग की विधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को धारण करके मुक्ति को प्राप्त हुए और दूसरे जीवों को भी उस मुक्तिमार्ग का विधान किया, इसलिए हे परमात्मा ! आप ही हमारे विधाता हैं; हमको मोक्षमार्ग में ले जानेवाले नेता भी आप हैं (मोक्षमार्गस्य नेतारं.....)।

इस प्रकार सर्वज्ञता और परिपूर्ण आनन्द को प्राप्त परमात्मा का स्वरूप पहचानकर, उनके पृथक्-पृथक् अनेक गुणों की अपेक्षा से उन्हें पृथक्-पृथक् अनेक नामों से कहा जाता है। यह विशेष ध्यान रखना चाहिए कि जो परिपूर्ण ज्ञान और आनन्द को प्राप्त हुए हों, ऐसे परमात्मा की ही यह बात है। अन्य जगत् के मिथ्यादृष्टि जीव परमात्मा का स्वरूप अनेक प्रकार से विपरीतरूप से मान रहे हैं, वे सब सच्चे हैं—ऐसा नहीं समझना चाहिए।

बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का वास्तविक स्वरूप जो पहचानता है, वह तो बहिरात्मपना छोड़कर, परमात्मपने का साधक हो जाता है अर्थात् अन्तरात्मा हो जाता है। उसे शरीरादि में आत्मबुद्धि नहीं होती है।●

यह है मुनिराज का कर्तव्य

अहा! मुनिपना किसे कहा जाता है? मुनिपना अर्थात् परमेष्ठी पद। मुनि तो अतीन्द्रिय आनन्द में केलि करते-करते, झूलते-झूलते केवलज्ञान पद प्राप्त करते हैं। अन्तरस्वरूप में दृष्टि लगाकर आनन्द में स्थिर हो जाना, वह मुनिपने का कर्तव्य है। अरे! मुनिपने का जो कार्य है, वह यदि हमने नहीं किया, अहाहा! भीतर स्वरूप में स्थिर हो जाना था, वह कार्य यदि हमने नहीं किया, तो हमने कुछ नहीं किया।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, २/१६६

बहिरात्मा जीव की मिथ्याबुद्धि का वर्णन

अब, बहिरात्मपना छुड़ाने के लिये, आचार्यदेव उसका स्वरूप स्पष्टरूप से बतलाते हैं, उसमें पहले यह बतलाते हैं कि बहिरात्मा को देह में ही आत्मबुद्धि क्यों हो रही है ?

बहिरात्मेन्द्रिय-द्वारै-रात्मज्ञान-पराङ्मुखः ।
स्फुरितः स्वात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवश्यति ॥७॥

आत्मज्ञान से हो विमुख, इन्द्रिय से बहिरात्म ।
आत्मा को तनमय समझ, तन ही गिने निजात्म ॥७॥

अन्वयार्थ :- (**बहिरात्मा**) बहिरात्मा, (**इन्द्रियद्वारैः**) इन्द्रिय द्वारों से (**स्फुरित**) बाह्यपदार्थों को ही ग्रहण करने में प्रवृत्त होने से, (**आत्मज्ञान पराङ्मुख**) आत्मज्ञान से पराङ्मुख-वञ्चित होता है; इससे वह (**आत्मनः देहं**) अपने शरीर को, (**आत्मत्वेन अध्यवस्यति**) मिथ्या अभिप्रायपूर्वक, आत्मारूप समझता है।

बहिरात्मा, अपने आत्मज्ञान से पराङ्मुख वर्तता हुआ, इन्द्रियों द्वारा शरीरादि बाह्य पदार्थों को ही जानने में तत्पर है, आत्मा को तो वह देखता नहीं; इसलिए वह शरीर को ही आत्मारूप से मान लेता है, उसे देहाध्यास हो गया है; इसलिए देह से अपना भिन्नपना उसे भासित नहीं होता है। ज्ञान को, ऐसे बाहर में ही जोड़ता है परन्तु अन्तरोन्मुख नहीं करता। बाहर में इन्द्रियों के अवलम्बन से तो जड़ दिखता है, कहीं आत्मा नहीं दिखता; इसलिए उस बहिरात्मा को शरीर से पृथक् आत्मा का अस्तित्व भासित ही नहीं होता। वह तो शरीर को ही आत्मा मानता है। अरे, कैसा भ्रम ! कि अपने अस्तित्व को ही स्वयं भूल गया ! और जड़ में ही अपना अस्तित्व मान बैठा ! उसे समाधि कहाँ से हो ?

यह समाधिशतक है, इसमें आत्मा को समाधि कैसे हो ? - यह बतलाते हैं। समाधि, स्वाधीन है—आत्मा के आधीन है, बाह्य के आधीन नहीं है; देहादिक से भिन्न

अनन्त ज्ञान आनन्द सम्पन्न मेरा अस्तित्व है, इसके भानपूर्वक आत्मा में एकाग्रता रहे, उसका नाम समाधि है परन्तु देहादिक से भिन्न आत्मा को भूलकर, शरीरादि परद्रव्यों को ही जो आत्मा मानता है, उसे बाह्य विषयों में से एकाग्रता नहीं छूटती और आत्मा में एकाग्रता नहीं होती; इसलिए उसे समाधि नहीं होती। उसके आत्मा में तो असमाधि का तन्त्र रहता है। मिथ्यात्वादि भाव, असमाधि है; चैतन्यस्वभाव की सन्मुखता से सम्यक्त्व आदि भाव प्रगट हों, वह समाधि है।

बहिरात्मा जीव, इन्द्रिय द्वारा ही ज्ञान की प्रवृत्ति करता है; इसलिए उसका ज्ञान अकेले बाह्य पदार्थों में ही प्रवर्तता है परन्तु आत्मसन्मुख होकर नहीं वर्तता। आत्मा से पराङ्मुख होकर, इन्द्रियों द्वारा अकेले देहादि पदार्थों को ग्रहण करके 'वही मैं हूँ'—ऐसा अज्ञानी मानता है। शरीर से भिन्न अतीन्द्रिय आत्मा तो उसे इन्द्रियों द्वारा भासित होता नहीं है।

जीवस्वरूप का ज्ञान तो अतीन्द्रिय अन्तर्मुखज्ञान से ही होता है; बहिर्मुख इन्द्रियज्ञान से नहीं होता है। अज्ञानी अपने ज्ञानस्वभाव को नहीं जानता परन्तु इन्द्रियों को ही ज्ञान का साधन मानता है; इसलिए इन्द्रियों द्वारा ज्ञात इन देहादिक को ही अपना स्वरूप मानता है। देहादिक तो जड़ हैं, वे कहीं आत्मा नहीं हैं; आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं परन्तु अज्ञानी को इन्द्रियज्ञान द्वारा देह से पृथक् आत्मा दिखायी नहीं देता; इसलिए देह के अस्तित्व में ही अपना अस्तित्व मानता है। शरीर की क्रियाएँ, वे मानों आत्मा का ही कार्य हों—ऐसा अज्ञानी को भ्रम है। मैं इन्द्रियों से ही जानता हूँ, इसलिए इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं—ऐसा उसे भ्रम है। इस प्रकार अज्ञानी जीव, अपनी देह को ही आत्मा मानता है तथा पर में भी देह को ही आत्मा मानता है, देह से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप अपने आत्मा को वह नहीं पहचानता; इसलिए दूसरे आत्मा को भी वैसे स्वरूप से नहीं पहचानता। स्वयं अपने आत्मज्ञान से पराङ्मुख वर्तता होने से और इन्द्रियज्ञान द्वारा अकेली बहिर्मुख प्रवृत्ति ही करता होने से, अज्ञानी जीव, देहादिक को ही आत्मा मानता है; देह से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा को वह जानता नहीं है।

देखो, अज्ञानी को बहिरात्मपना है। वह बहिरात्मपना, कर्म इत्यादि पर के कारण नहीं है परन्तु स्वयं ही अपने आत्मा से विमुख होकर, इन्द्रियों द्वारा बाह्य पदार्थों को ही

ग्रहण करता है; इसलिए वह देहादिक को ही आत्मा मानता है, इस कारण वह बहिरात्मा है। ज्ञान को अन्तर्मुख करके जाने तो उस अतीन्द्रियज्ञान द्वारा देहादिक से भिन्न चिदानन्दस्वरूप आत्मा का स्वसंवेदन हो, अर्थात् बहिरात्मपना मिटकर अन्तरात्मपना हो।

जो जीव, इन्द्रियों को ज्ञान का कारण मानता है, उसे इन्द्रिय-विषयों के ही पोषण का अभिप्राय है। इन्द्रिय के विषय अनुकूल हों तो इन्द्रियाँ पुष्ट रहे और इन्द्रियाँ पुष्ट हों तो ज्ञान अच्छा हो – ऐसा अज्ञानी मानता है; इसलिए वह इन्द्रियों को ही आत्मा मानता है और इन्द्रिय द्वारा ही उसका ज्ञान प्रवर्तित होने से अकेले बाह्य विषयों में ही वह वर्तता है; इसलिए अन्तर के चैतन्य विषय को जानने के लिये उसका ज्ञान 'नापास' (फेल) है। चैतन्य को जानने की परीक्षा में वह फेल होता है। भले ही मेट्रिक आदि बड़ी परीक्षा में पहले नम्बर से उत्तीर्ण हो परन्तु यदि चैतन्यतत्त्व को नहीं जाना तो उसका ज्ञान अनुत्तीर्ण ही है—मिथ्या ही है; और अनपढ़ हो, लिखना-पढ़ना भी न आता हो परन्तु ज्ञान को अन्तर्मुख करके यदि चैतन्यविषय को ही जानता है तो उसका ज्ञान उत्तीर्ण है, उसका ज्ञान, मोक्ष का कारण है। जो ज्ञान, मोक्ष का कारण हो, वही सच्ची विद्या है। इसके अतिरिक्त लौकिक विद्या चाहे जितनी पढ़े तो भी आत्मविद्या में तो वह अनुत्तीर्ण ही है। उसकी पढ़ाई, कुविद्या ही है।

अरे! अपने चैतन्यतत्त्व को चूककर, देहादिक में ही आत्मबुद्धि से अज्ञानी जीव प्रतिक्षण भयंकर भावमरण में मर रहा है। बाह्य विषयों में से सुख लेना चाहता है परन्तु उसमें तो अन्तर का वास्तविक सुख विस्मृत हो जाता है; इन्द्रियज्ञान द्वारा इन्द्रिय-विषयों को ही जानता है और उनमें से सुख लेना चाहता है परन्तु उसमें तो अपने चैतन्य प्राण का घात होता है-आत्मा के आनन्द का हनन होता है और दुःख होता है, इसका विचार भी अज्ञानी को नहीं है।

चैतन्य के भान बिना व्रतादि भी यथार्थ नहीं होते है। चैतन्य-सन्मुख वृत्ति झुके बिना, बाह्य विषयों के त्यागरूप व्रत भी नहीं होते। चैतन्यस्वभाव की सन्मुखता रहित अज्ञानी, व्यवहार से व्रतादि पाले तो भी वह इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयों में ही वर्तता है, क्योंकि इन्द्रियों से पृथक् आत्मा का स्वसंवेदनज्ञान तो उसे है नहीं।

आत्मा, देहादिक से पृथक् है—ऐसा भले ही शास्त्रादिक से कहे परन्तु इन्द्रियों से, राग से ज्ञान माने तो वह जीव, देहादिक को ही आत्मा मानता है। देह से पृथक् आत्मा को वह नहीं मानता है। देह से भिन्न आनन्दस्वरूप आत्मा, इन्द्रियों द्वारा या राग द्वारा ज्ञात नहीं होता; अन्तर्मुख होकर अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा ही आत्मा ज्ञात होता है और जो ऐसे आत्मा को जानता है, उसे ही चैतन्य के आश्रय से वीतरागी समाधि रहती है। देहादिक की मूर्च्छा छोड़कर चैतन्य में सावधान हुआ, वही समाधि है।

देह में आत्मबुद्धिरूप अज्ञानी की भूल और आत्मा का सम्यक्स्वरूप

आत्मज्ञान से विमुख होने से और इन्द्रियज्ञान द्वारा ही जानता होने से, अज्ञानी जीव, देह से भिन्न अपने आत्मा को नहीं जानता, शरीर को ही आत्मा मानता है; तथा दूसरे में भी इसी प्रकार से शरीर को ही आत्मा मानता है और आत्मा को ही मनुष्यादिरूप मानता है परन्तु आत्मा का वास्तविकस्वरूप ऐसा नहीं है। यह बात अब आठवीं और नौवीं गाथा में कहते हैं—

नरदेहस्थमात्मानमविद्वान् मन्यते नरम्।
तिर्यञ्च तिर्यगङ्गस्थं सुरांगस्थं सुरं तथा॥८॥
नारकं नारकाङ्गस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा।
अनंतानंतधीशक्तिः स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः॥९॥

तिर्यक में तिर्यञ्च गिन, नर तन में नर मान।
देव देह को देव लख, करे मूढ़ पहिचान॥८॥
नारक तन में नारकी, पर नहीं यह चैतन्य।
है अनन्त धी शक्तियुत, अचल स्वानुभवगम्य॥९॥

अन्वयार्थ :- (**अविद्वान्**) मूढ़ बहिरात्मा, (**नरदेहस्थं**) मनुष्यदेह में स्थित (**आत्मानं**) आत्मा को, (**नरम्**) मनुष्य; (**तिर्यङ्गस्थं**) तिर्यञ्चशरीर में स्थित आत्मा

को, (**तिर्यंचं**) तिर्यञ्च, (**सुराङ्गस्थं**) देव के शरीर में स्थित आत्मा को, (**सुरं**) देव (**तथा**) और (**नारकाङ्गस्थं**) नारकी के शरीर में स्थित आत्मा को, (**नारकं**) नारकी (**मन्यते**) मानता है, किन्तु (**तत्त्वतः**) वस्तुतः (**स्वयं**) स्वयं आत्मा (**तथा न**) वैसा नहीं है, अर्थात् वह मनुष्य, तिर्यञ्च, देव और नारकीरूप नहीं; (**तत्त्वस्तु**) किन्तु वास्तविकरूप से यह आत्मा, (**अनंतानंतधी-शक्तिः**) अनन्तानन्त ज्ञान और अनन्तानन्त शक्ति (वीर्य) रूप है, (**स्व -संवेद्य**) स्वानुभवगम्य है-अपने अनुभवगोचर है और (**अचल स्थितिः**) अपने स्वरूप में सदानिश्चल-स्थिर रहनेवाला है।

देखो ! यह अविद्वान जीव की मान्यता ! जो अन्तर्मुख होकर अतीन्द्रिय आत्मा को नहीं जानता और देहादिक को ही आत्मा मानता है, वह भले ही चाहे जितने शास्त्र पढ़ा हो, तथापि अविद्वान है-मूर्ख है-मिथ्यादृष्टि है।

पहले ऐसा कहा कि ज्ञान को स्वसन्मुख करके, जो अपने आत्मा को नहीं जानता, वह अपने शरीर को ही आत्मा मानता है और इस प्रकार जो अपने में शरीर को ही आत्मा मानता है, वह दूसरों में भी मनुष्य, देव इत्यादि के शरीर को ही आत्मा मानता है, अर्थात् देह तथा आत्मा को अभेद मानता है।

जो जीव, बाह्यदृष्टिवाला अविद्वान है, वह नरदेह में रहनेवाले आत्मा को नर मानता है; इसी प्रकार तिर्यंचशरीर में रहनेवाले आत्मा को तिर्यंच मानता है; देवशरीर में रहनेवाले आत्मा को देव मानता है तथा नारकशरीर में रहनेवाले आत्मा को नारकी मानता है परन्तु आत्मा तो इस देह से भिन्न अनन्तानन्त ज्ञानादि शक्तिसम्पन्न स्वसंवेद्य अचल स्थितिवाला है, उसे वह नहीं जानता है। शरीर तो अल्प अवधिवाला जड़ है और आत्मा तो धारावाही स्थितिवाला चैतन्यशक्तिसम्पन्न है; इस प्रकार दोनों की भिन्नता को अज्ञानी नहीं पहचानता है और इस प्रकार चिदानन्द शक्ति-सम्पन्न आत्मा को जो नहीं पहचानता, वह भले ही लाखों शास्त्र पढ़ा हुआ बड़ा विद्वान गिना जाता हो तो भी वस्तुतः वह अविद्वान ही है, उसे चैतन्यविद्या का पता नहीं है।

अन्दर में मेरा आत्मा ज्ञान-आनन्दस्वरूप अतीन्द्रिय भगवान है—ऐसा जो नहीं जानता, वह मूढ़-बहिरात्मा, बाहर में जड़ शरीर को ही आत्मा मानता है; इस मनुष्यदेह में

रहनेवाला आत्मा तो मनुष्यदेह से पृथक् ज्ञानस्वरूप है, उसे नहीं पहचानकर 'आत्मा ही मनुष्य है'—ऐसे शरीर को ही आत्मा मान रहा है। जो, जाननहार स्वरूप आत्मा को नहीं जानता, उसे धर्म बिल्कुल नहीं होता है।

हाथी का शरीर देखे वहाँ 'यह जीव हाथी है' इस प्रकार आत्मा को ही हाथी इत्यादि तिर्यंचरूप मानता है; देवशरीर में आत्मा रहा, वहाँ आत्मा ही मानो देवशरीररूप हो गया—ऐसा अज्ञानी मानता है और इसी प्रकार नारकशरीर में रहनेवाले आत्मा को नारकीरूप मानता है परन्तु आत्मा तो अरूपी, ज्ञान-आनन्दस्वरूप है—ऐसा अज्ञानी नहीं जानता है। आत्मा तो देह से अत्यन्त भिन्न है। भिन्न-भिन्न शरीरों को धारण करने पर भी, आत्मा अपने चैतन्यस्वरूप से ही रहा है। चैतन्यस्वरूप से छूटकर जड़रूप कभी हुआ ही नहीं है।

आत्मा स्वयं तो ज्ञानस्वरूप ही है, वह कहीं मनुष्य आदि देहरूप नहीं हुआ है। मनुष्य-तिर्यंच-देव-नारकी—ऐसे नाम तो इस शरीर के संयोग से है; कर्म की उपाधि से रहित आत्मा के स्वरूप को देखो तो वह ज्ञान-आनन्दस्वरूप ही है। मनुष्य इत्यादि शरीर या उसकी बोलने-चलने की क्रिया, वह कहीं आत्मा नहीं है; वह तो अचेतन जड़ की रचना है। देह से भिन्न, अनन्त चैतन्यशक्तिसम्पन्न अरूपी आत्मा है। वह आँख इत्यादि इन्द्रियों से नहीं दिखता है; वह तो अन्तर के अतीन्द्रिय स्वसंवेदन से ही ज्ञात होता है। ऐसे अपने आत्मा को अनादि काल से जीव ने जाना नहीं है और देह में ही अपनापन माना है; इसलिए वह चार गति में परिभ्रमण कर रहा है।

आत्मा क्या है ? यह जाने बिना, धर्मी नाम धराकर भी देहादिक की क्रिया को धर्म मानकर, मूढ़ जीव संसार में ही भटकता है। मैं तो अनन्त ज्ञान-आनन्दस्वरूप हूँ, देह से पार, इन्द्रियों से पार, राग से पार; ज्ञान से ही स्वसंवेद्य हूँ। अपने स्वसंवेदन के बिना दूसरे किसी उपाय से ज्ञात हो—ऐसा आत्मा नहीं है। स्वयं अपने से ही अनुभव में आवे—ऐसा आत्मा है। ऐसा आत्मा ही आदर करनेयोग्य है, उसे ही अपनाकर बहुमान करनेयोग्य है। देहादिक अपने से भिन्न है, उनरूप आत्मा नहीं है। अज्ञानी, जड़ शरीर को ही देखता है और उसे ही आत्मा मानता है परन्तु जड़ से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा को नहीं जानता, इसलिए वह बहिरात्मा है।

श्रीगुरु, देहादिक से भिन्न चिदानन्दस्वरूप बतलाते हैं। उस स्वरूप को जो समझता है, उसे श्रीगुरु के प्रति बहुमान का यथार्थ भाव आता है कि अहो! चिदानन्दस्वरूप आत्मा, श्रीगुरु ने मुझे परम अनुग्रह करके बतलाया। अपना स्वसंवेदन हो, तब ज्ञानी गुरु की वास्तविक पहचान हो और उनके प्रति वास्तविक भक्ति आवे। अकेले शुभराग द्वारा ही चिदानन्दस्वरूप आत्मा नहीं पहचाना जाता है और अपने आत्मा को पहचाने बिना अन्य आत्मा की पहचान भी नहीं होती है।

सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा अपने आत्मा को देहादिक से भिन्न ऐसा जानता है कि मैं तो अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्दशक्ति से भरपूर हूँ, मेरे ज्ञानानन्दस्वरूप में मैं अचल हूँ, मेरे ज्ञानानन्दस्वरूप से मैं कभी च्युत नहीं होता—ऐसे ज्ञानानन्दस्वरूप की जो सम्यक् श्रद्धा और ज्ञान हुआ, उससे विचलित करने के लिये अब जगत् की कोई प्रतिकूलता समर्थ नहीं है। ज्ञानस्वरूप के आश्रय से जो सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान हुए, वे अब आत्मा के आश्रय से ही अचल टिके रहते हैं; किसी संयोग के कारण श्रद्धा-ज्ञान चलायमान नहीं होते। ऐसे स्वसंवेदन से आत्मा के वास्तविक स्वरूप की पहचान करना, वह बहिरात्मपने से छूटने का और अन्तरात्मा-धर्मात्मा होने का उपाय है और तत्पश्चात् आत्मा के चैतन्यस्वभाव में ही लीन होकर स्वयं परमात्मा बन जाता है।

आत्मा चैतन्यस्वरूप है और यह देह तो जड़ है; आत्मा और शरीर एक जगह में एक साथ रहे हुए होने पर भी, दोनों के अपने-अपने भाव अलग-अलग हैं, अर्थात् भाव से भिन्नता है। जैसे एक कसाई जैसा जीव और दूसरा सज्जन, ये दोनों एक घर में शामिल रहे होने पर भी, दोनों के भाव अलग ही हैं; उसी प्रकार इस लोक में जड़ शरीरादि और आत्मा, एक क्षेत्र में रहे होने पर भी, दोनों के भाव अत्यन्त भिन्न हैं। आत्मा अपने ज्ञान-आनन्द इत्यादि भाव में रहा है और कर्म-शरीरादि तो अपने अजीव-जड़भाव में रहे हैं; दोनों की एकता कभी हुई ही नहीं है—ऐसी अत्यन्त भिन्नता होने पर भी, मूढ़ आत्मा, जड़ से भिन्न अपने स्वरूप को नहीं जानता और देहादिक ही मैं हूँ—ऐसा मानकर मिथ्याभाव में प्रवर्तित होता है—वही संसार दुःख का कारण है।

शुद्धज्ञान और आनन्द के अतिरिक्त अन्य सब मेरे स्वरूप से बाह्य है। ऐसे अन्तरात्मा,

अपने आत्मा को समस्त परभावों से भिन्न शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप अनुभव करता है। पर्याय में रागादि उपाधिभाव हैं, उन्हें जानता तो है परन्तु उन रागादिरूप अशुद्धस्वरूप ही आत्मा हो गया – ऐसा नहीं मानता है। राग से भी पार ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा है, उसे अन्तर्दृष्टि से देखता है, वह अन्तरात्मा है।

अरे भाई! तेरे आत्मा का वास्तविकस्वरूप क्या है? – उसे एक बार जान तो सही! यह मनुष्यदेह तो श्मशान में जलकर भस्म होगी। शरीर तो जड़ परमाणु एकत्रित होकर बना है, वह आत्मा नहीं है; आत्मा तो अनादि–अनन्त ज्ञान–आनन्दस्वरूप से अचल रहनेवाला है। पुण्य–पाप की क्षणिक वृत्तियाँ आयें और जायें, उतना आत्मा नहीं है। देह से पार, राग से पार, अन्तर में ज्ञानादि अनन्त गुणस्वरूप अपना आत्मा है। उसके साथ एकता करके, उसके आनन्द का जहाँ स्वसंवेदन किया, वहाँ बाह्य पदार्थ अंशमात्र अपने भासित नहीं होते और उनमें कहीं सुखबुद्धि नहीं रहती। चैतन्य का सुख, चैतन्य में ही है—उसका स्वाद जाना, वहाँ संयोग की भावना नहीं रहती है।

अज्ञानी को अन्तर के चैतन्य के आनन्द के स्वाद का पता नहीं है; इसलिए बाह्य संयोग में सुख मानकर, वह संयोग की ही भावना भाता है और संयोग प्राप्त करके उनके भोग द्वारा सुख प्राप्त करना चाहता है, परन्तु जड़ संयोग में से अनन्त काल में भी सुख मिले, ऐसा नहीं है क्योंकि आत्मा का सुख बाहर में नहीं है। अज्ञानी जीव, बाह्य संयोग की ओर के राग–द्वेष, हर्ष–शोक का ही वेदन करता है परन्तु संयोग और राग से पार असंयोगी चैतन्यस्वभाव के अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन उसे नहीं है।

यहाँ पूज्यपादस्वामी, आत्मा का स्वरूप बतलाते हैं कि हे जीव! तेरा आत्मा, मनुष्यादि शरीररूप नहीं है; अनन्त ज्ञान–आनन्द शक्तिस्वरूप तेरा आत्मा है, उसे अन्तर में स्वसंवेदन से तू जान।

यह आत्मा, देह से भिन्न ज्ञान–आनन्दस्वरूप है। कर्म, शरीर और विकार, इन तीनों की उपाधि से रहित अपना सहज ज्ञानानन्दस्वभाव है, उसे ज्ञानी स्वसंवेदन से जानता है। आत्मा की मुक्ति करना हो, उसे स्वसंवेदन से ऐसा आत्मा जानना योग्य है। ज्ञानी निरन्तर अपने आत्मा को ऐसा ही अनुभव करता है। अज्ञानी, आत्मा को रागवाला और देहवाला ही मानता है, वह संसार का कारण है।

धर्मी जानता है कि देव-मनुष्य इत्यादि मैं नहीं हूँ, उनमें रहनेवाला जो चैतन्यपना है, वही मैं हूँ। ज्ञानस्वरूप आत्मा तो मैं हूँ और शरीर, कर्म इत्यादि तो जड़स्वरूप है, वे मैं नहीं हूँ। राग भी उपाधिरूप भाव है, वह मेरे ज्ञान-दर्शनस्वरूप से भिन्न है—ऐसे भेदज्ञान के बिना धर्म नहीं होता है।

प्रश्न : यह शरीर इत्यादि सब दिखता है न?

उत्तर : शरीर दिखता है परन्तु वह जड़ है - ऐसा दिखता है। आत्मा कहीं जड़ नहीं है। शरीर को जाननेवाला, शरीर से भिन्न है; वह जाननेवाला स्वयं ज्ञानस्वरूप आत्मा है। ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा को जो जानता है, उसे बाह्य विषयों में गृद्धता नहीं होती है। पुण्य के ठाठ हों, उनमें सुखबुद्धि नहीं होती है और प्रतिकूलता हो, उसे दु:ख का कारण नहीं मानता है। मैं तो संयोग से पृथक् ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ—ऐसा धर्मी जानता है। अल्प हर्ष-शोक हों परन्तु किसी संयोग को अपना मानकर वे हर्ष-शोक नहीं होते। अज्ञानी, चैतन्यस्वरूप को चूककर इस जड़-शरीर को ही अपना मानता है। यह शरीर तो जड़-कलेवर-मुर्दा है। अज्ञानी इस मुर्दे को ही अपना स्वरूप मानकर अनादि काल से मुर्दे को साथ लेकर घुमता है परन्तु 'यह शरीर तो जड़ मुर्दा है और मैं चिदानन्दस्वरूप जीवता जीव हूँ'—ऐसा भान करके, जड़-मुर्दे की मूर्च्छा का परित्याग नहीं करता। उसे शरीर प्रिय लगता है परन्तु चैतन्य भगवान प्रिय नहीं लगता। ज्ञानी को तो एक अपना चैतन्य भगवान ही प्रिय है, इसके अतिरिक्त समस्त बाह्य पदार्थों को अपने से भिन्न जानता है, उसमें कहीं मूर्च्छित नहीं होता है।

देखो! यह रामचन्द्रजी धर्मात्मा हैं, चरमशरीरी (अर्थात्) उसी भव में मोक्ष जानेवाले हैं; उन्हें अन्तर में भान है कि इन लक्ष्मण इत्यादि से मेरा आत्मा भिन्न है, परन्तु अभी राग है; इसलिए लक्ष्मण के मृतक शरीर को छह महीने तक साथ में लेकर घूमते हैं। उनके दो पुत्र (लव और कुश) आकर पिताजी को चरणवंदन कर दीक्षा लेने चले जाते हैं परन्तु राम तो लक्ष्मण की प्रीति के कारण कुछ बोलते नहीं हैं। लक्ष्मण के मुर्दे को खिलाने-पिलाने-नहलाने की चेष्टा करते हैं। वहाँ बाह्य दृष्टिवालों को तो ऐसी ही शङ्का होती है कि क्या यह ज्ञानी! परन्तु उन्हें ज्ञानी की दृष्टि का पता नहीं है। कंधे पर लक्ष्मण का मृतक शरीर पड़ा

है, तब भी दृष्टि चिदानन्दस्वरूप पर ही पड़ी है। हम तो चिदानन्दस्वरूप आत्मा हैं, यह शरीर भी हम नहीं तो फिर दूसरे की क्या बात!! और यह राग भी हमारा वास्तविक स्वरूप नहीं है। हम तो अनन्त ज्ञान-आनन्द की शक्तिस्वरूप ही हैं, ऐसा अन्तरभान ज्ञानी को निरन्तर वर्तता है।

देखो! रावण जब सीता को उठा ले गया, तब सीताजी के विरह में रामचन्द्रजी, वृक्ष को और पर्वत को पूछते हैं कि अरे वृक्ष! तूने कहीं मेरी सीता को देखा? अरे! सीता धर्मात्मा! पतिव्रता! उसका क्या हुआ होगा! अरे पर्वत! तूने कहीं मेरी जानकी को देखा? इस प्रकार पहाड़ को पूछते हैं परन्तु पर्वत कुछ बोलेगा? तथापि इस प्रसङ्ग में भी अन्तर में देह से पार और शोक से पार चिदानन्दस्वरूप का भान उन्हें वर्तता है।

अज्ञानी तो अपने शरीर को आत्मा मानता है और दूसरे में भी शरीर को ही आत्मारूप से देखता है परन्तु शरीर से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा को वह जानता नहीं है। आत्मा तो सदा ज्ञान-आनन्दस्वरूप ही है, ऐसे अपने अन्तरवेदन से ही वह ज्ञात होता है। आत्मा स्वयं अनन्त ज्ञान-आनन्दस्वरूप परिणमित हुआ, तत्पश्चात् अचलरूप से स्थिर रहता है, उसमें से कभी च्युत नहीं होता; इसलिए ऐसे ज्ञान-आनन्दस्वरूप आत्मा को जानना और देह में आत्मबुद्धि छोड़ना।●

जङ्गल में भी मुनिराज परम सुखी

किसी को ऐसा लगे कि जङ्गल में मुनिराज को अकेले कैसे अच्छा लगता होगा? **अरे भाई! जङ्गल के बीच निजानन्द में झूलते मुनिराज तो परम सुखी हैं; जगत के राग-द्वेष का शोरगुल वहाँ नहीं है।** किसी परवस्तु के साथ आत्मा का मिलन ही नहीं है, इसलिए पर के सम्बन्ध बिना आत्मा स्वयमेव अकेला आप अपने में परम सुखी है। पर के सम्बन्ध में आत्मा को सुख हो —ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव अपने ऐसे आत्मा का अनुभव करते हैं और उसी को उपादेय मानते हैं। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, गुरुदेवश्री के वचनामृत, १७६, पृष्ठ १०९*

अज्ञानी की अन्य जीवों के प्रति भी देहबुद्धि

मूढ़ बहिरात्मा, अतीन्द्रिय ज्ञान से आत्मा को नहीं जानता; वह इन्द्रियज्ञान से मात्र शरीर को ही जानता है और उसे ही आत्मा मानता है। यह शरीर, वही मैं हूँ, शरीर की बोलने-चलने की चेष्टाएँ, वे सब मेरे आत्मा की चेष्टाएँ हैं—ऐसा अज्ञानी मानता है और दूसरों में भी दूसरों के शरीर को ही आत्मा मानता है तथा उस आत्मा से अधिष्ठित ऐसे अचेतन शरीर की चेष्टाओं को आत्मा की ही चेष्टा मानता है परन्तु देह तो चेतनारहित है और आत्मा चेतनासहित है, उसे अज्ञानी नहीं जानता यह बात अब दसवीं गाथा में कहते हैं—

स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा परदेहमचेतनम्।
परात्माधिष्ठितं मूढः परत्वेनाध्यवस्यति॥१०॥

जैसे निज की देह में, आत्म-कल्पना होय।
वैसे ही पर-देह में, चेतनता संजोय॥१०॥

अन्वयार्थ :- (**मूढः**) अज्ञानी बहिरात्मा, (**परात्माधिष्ठितं**) अन्य के आत्मा के साथ रहनेवाले, (**अचेतनं**) अचेतन—चेतनारहित, (**परदेहं**) दूसरे के शरीर को, (**स्वदेह सदृशं**) अपने शरीर समान (**दृष्ट्वा**) देखकर, (**परत्वेन**) अन्य के आत्मारूप से, (**अध्यवस्यति**) मानता है।

अतीन्द्रियज्ञान द्वारा चैतन्यस्वरूप आत्मा को तो जाना नहीं और इन्द्रियज्ञान द्वारा मात्र अचेतन शरीर को ही जाना, वहाँ अज्ञानी को 'शरीर ही मैं हूँ'—ऐसी देहबुद्धि हो गयी; और जैसे अपने में शरीर को आत्मा मानता है, वैसे दूसरे के अचेतन शरीर को देखकर उसे भी वह दूसरे का आत्मा ही मानता है। इस प्रकार मूढ़ जीव, अपने में और पर में अचेतन शरीर को ही आत्मा मानता है; देह से भिन्न आत्मा को वह नहीं देखता है।

जो देह को ही आत्मा मानकर मूर्च्छित हो गया है, उसे असमाधि है। यहाँ समाधि का उपाय बतलाते हैं। देहादिक से भिन्न मेरा आत्मा, ज्ञान आनन्दस्वरूप ही त्रिकाल है—

ऐसा श्रद्धा-ज्ञान करना तथा उसमें एकाग्रता करना, वह समाधि है। ज्ञानी तो जानता है कि मैं चैतन्यस्वरूप अरूपी हूँ और सभी आत्माएँ भी ऐसी ही चैतन्यस्वरूप अरूपी हैं। यह शरीर दिखता है, वह तो रूपी, जड़-अचेतन है; वह मैं नहीं हूँ और दूसरे शरीर दिखते हैं, वे भी आत्मा नहीं हैं; दूसरे आत्मा तो शरीर से भिन्न हैं। अज्ञानी तो अपने आत्मा को भी शरीररूप ही देखता है। शरीर, वह मैं ही हूँ—ऐसा मानता है और दूसरे आत्माओं को भी वह इसी प्रकार शरीररूप ही देखता है।

शरीर, जड़ और आत्मा, चेतन है—ऐसा तो बोले परन्तु फिर ऐसा माने कि शरीर की क्रिया आत्मा करता है, शरीर की क्रिया से आत्मा को लाभ-नुकसान होता है—तो वह भी शरीर को आत्मा ही मानता है; शरीर से भिन्न आत्मा को वास्तव में वह नहीं मानता और उसे समाधि नहीं होती। देह ही मैं हूँ—ऐसे देह को ही जिसने आत्मा माना है, उसे देह छूटने पर समाधि कैसे रहेगी? नजर तो देह के ऊपर ही पड़ी है; इसलिए उसे देह छूटने के अवसर में समाधि नहीं रहेगी। ज्ञानी तो अपने आत्मा को देह से भिन्न ही जानता है, चैतन्यस्वरूप ही मैं हूँ, शरीर मैं नहीं - ऐसा उसे भान है; इसलिए देह छूटने के अवसर पर भी अशरीरी चैतन्य के लक्ष्य से उसे समाधि ही रहती है।

इसलिए भेदज्ञान करके अन्तर में स्वसंवेदन से चिदानन्दस्वरूप अपने आत्मा को जानना, वही समाधि का उपाय है। ●

मुनिराज को स्वरूपानन्द का ज्वार

अरे! यह बँगला, लक्ष्मी, मोटर, स्त्री, कुटुम्बादि बाह्य वैभव तो धूल है, जड़ है; उससे भिन्न ज्ञायक भगवान आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप है; इस प्रकार अन्तर में भेदज्ञान होने पर राग से विरक्त होकर स्वरूपानन्द का ज्वार आता है। वह ज्वार बाहर से नहीं, किन्तु अन्तर में से आता है। ज्ञायकस्वरूप पूर्ण चन्द्र का अन्तर में स्थिरतापूर्वक अवलोकन करने से आनन्दसागर उल्लसित होता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, २/१९९

देहात्मबुद्धि जीव, स्त्री-पुत्रादिक को निज मानता है

जिसने चैतन्यस्वरूप आत्मा को नहीं जाना और शरीर को ही आत्मा माना, उसकी नजर अन्तर में चैतन्य पर नहीं गयी परन्तु बाहर में नजर फैली है; इसलिए पर में दूसरे के आत्मा को भी देह से भिन्न न जानकर शरीररूप ही मानता है तथा बाहर में स्त्री-पुत्र-धन इत्यादि को भी अपने हितरूप जानकर भ्रम से वर्तता है - ऐसा अब कहते हैं—

स्वपराध्यवसायेन देहेष्वविदितात्मनाम्।
वर्तते विभ्रमः पुंसां पुत्रभार्यादिगोचरः ॥११॥

कहै देह को आत्मा, नहीं स्व-पर पहचान।
विभ्रमवश तन में करे, सुत-तियादि का ज्ञान॥११॥

अन्वयार्थ :- (**अविदितात्मनां पुंसा**) आत्मा के स्वरूप से अज्ञात पुरुषों को, (**देहेषु**) शरीरों में, (**स्वपराध्यवसायेन**) अपनी और पर की आत्मबुद्धि के कारण से, (**पुत्रभार्यादिगोचर**) पुत्र-स्त्री आदि के विषय में, (**विभ्रम वर्तते**) विभ्रम वर्तता है।

अपने में तथा पर में, देह को ही जो आत्मा मानता है और देह से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा को तो जानता नहीं, उस मूढ़ जीव की विपरीत दृष्टि बाहर में ही फैलती है, अर्थात् विभ्रम से वह ऐसा मानता है कि यह मेरी स्त्री, यह मेरा पुत्र इत्यादि।

अज्ञानी मूढ़ जीव आत्मा का अजान स्वयं के और पर के शरीर को ही आत्मा मानकर भ्रम से वर्तता है; इसलिए दूसरे को भी वह शरीर से ही पहचानता है। सर्वज्ञ भगवान को, मुनियों को, सन्त इत्यादि सभी को उसी प्रकार बाह्यदृष्टि से शरीररूप ही देखता है परन्तु शरीर से भिन्न अन्दर की चैतन्यपरिणतिवाला आत्मा है, उसे वह नहीं पहचानता। अज्ञानी, शरीर को ही देखता है परन्तु आत्मा क्या है, आत्मा के ज्ञानादि भाव क्या है—उन्हें वह नहीं पहचानता। जड़कर्म के कारण आत्मा को विकार होता है—ऐसा माननेवाला भी वास्तव में आत्मा को जड़ से भिन्न नहीं पहचानता। अपने आत्मा को ज्ञानानन्दस्वरूप से जाने बिना दूसरे के आत्मा की भी वास्तविक पहचान नहीं होती।

शरीर की क्रिया मुझसे होती है—ऐसा जो मानता है, वह शरीर को ही आत्मा मानता है और आत्मा को जड़ मानता है। आत्मा का लक्षण तो ज्ञान है—ऐसा वह नहीं जानता है।

ज्ञान लक्षणी आत्मा है और शरीर तो जड़ परमाणु से लक्षित है; शरीर में प्रतिक्षण अनन्त परमाणु आते हैं और जाते हैं परन्तु उससे कहीं आत्मा में एक भी प्रदेश घटता या बढ़ता नहीं है। पुद्गल के पिण्ड से चैतन्यपिण्ड अत्यन्त भिन्न है; इस प्रकार जो नहीं जानता, वह बहिरात्मा अपने में आत्मा को शरीररूप ही मानता है और दूसरे में भी उसके शरीर को देखकर उसे ही आत्मा मानता है। 'यह ज्ञानी, बोलते हैं-खाते हैं-चलते हैं-हँसते हैं' इस प्रकार अज्ञानी, देह की चेष्टा को ही आत्मारूप से देखता है और उससे ज्ञानी को पहिचानता है परन्तु ज्ञानी का आत्मा तो ज्ञाता-दृष्टा है, देह से पार है और राग का भी वह कर्ता नहीं है; वह तो आनन्द और ज्ञानरूप परिणमता है—ऐसा पहचाने तो ही ज्ञानी की सच्ची पहचान होती है परन्तु इसे तो अज्ञानी पहचानता नहीं, वह तो शरीर की चेष्टा को ही देखता है। अपने आत्मा को नहीं देखनेवाला अन्ध, दूसरे के आत्मा को भी कहाँ से देख सकेगा?

शरीर का नाश या उत्पत्ति होने पर मानो कि जीव ही नाश को प्राप्त हुआ और जीव उत्पन्न हुआ—ऐसा अज्ञानी मानता है, क्योंकि उसने शरीर को ही आत्मा माना है। अपने में भी शरीर छूटने पर मेरा नाश हो जायेगा-मैं मर जाऊँगा—ऐसा मानता है; इसलिए उसे मृत्यु का भय सदा ही रहा करता है परन्तु मैं तो ज्ञानस्वरूप असंयोगी हूँ; शरीर जड़ है, उसके संयोग-वियोग से मेरी उत्पत्ति या नाश नहीं है—ऐसा अज्ञानी नहीं जानता है तथा शरीर को ही आत्मा माना; इसलिए शरीर को पोषण करनेवाले पाँच इन्द्रिय के विषय-भोगों को वह सुखकारी मानता है; इसलिए बाह्य विषयों से वह हटता नहीं और चैतन्यसुख को जानता नहीं; विषयों के रस के कारण चैतन्य के आनन्दरस को चूक जाता है और बाह्य में प्रतिकूलता आवे-रोगादि हों, वहाँ स्वयं को दु:खी मानता है। इस प्रकार अकेले बाह्य संयोग से भी अपने को सुखी-दु:खी मानकर, उसमें ही राग-द्वेष-मोह से प्रवर्तन करता है, अन्तर्मुख नहीं झुकता - ऐसा बहिरात्मा है।

वस्तुत: कोई भी संयोग — स्त्री-पुत्र आदि आत्मा के उपकारी नहीं, वे आत्मीय वस्तु नहीं, तथापि मोह के कारण बहिरात्मा उन्हें आत्मीय मानकर उपकारी मानता है। जहाँ

अनुकूल संयोग मिलें, वहाँ उनमें ही सुख मानकर सन्तुष्ट हो जाता है—राग में लवलीन हो जाता है और जहाँ उनका वियोग हो तथा प्रतिकूलता आवे, वहाँ महासंताप करता है—शोक में तल्लीन हो जाता है परन्तु राग-द्वेष के चक्कर से छूटकर चैतन्य की शान्ति में नहीं आता है। देह के संयोग से भिन्न मेरा चैतन्यतत्त्व है—यदि ऐसा पहचाने तो समस्त संयोगों में से राग-द्वेष का अभिप्राय छूट जाये और चैतन्य की अपूर्व शान्ति हो जाये।

ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा के अतिरिक्त पुण्य-पाप से या बाह्य संयोग से जो अपने को ठीक मानता है, वह बहिरात्मा है, वह बाहर में ही अपना अस्तित्व मानता है; अपने चैतन्य के भिन्न अस्तित्व को वह नहीं जानता है। देह, वही मैं हूँ और देह के सम्बन्धी, वे सभी मेरे सम्बन्धी—ऐसा दृढ़ अभिप्राय अज्ञानी को घुँट गया है; इसलिए पर के साथ का सम्बन्ध तोड़कर अपने स्वभाव के साथ सम्बन्ध नहीं करता है, अर्थात् सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान नहीं करता है; इसलिए उसे समाधि नहीं होती है।

मैं शुद्ध ज्ञान और आनन्दस्वरूप ही हूँ; इसके सिवाय अन्य सभी मुझसे बहिरभाव हैं, वे मैं नहीं—ऐसा भेदज्ञान करनेवाला ज्ञानी, अन्तरात्मा है। बाह्य चीज को वह स्वप्न में भी अपनी नहीं मानता; इसलिए चैतन्य को चूककर बाह्य चीज में एकत्वबुद्धि से राग-द्वेष उसे नहीं होते हैं। अज्ञानी तो आत्मा को देहादि बाह्यस्वरूप ही मानता है और इन्द्रियों तथा बाह्य विषयों को वह हितरूप मानता है; इसलिए बाह्य पदार्थों की प्रीति छोड़कर चैतन्य की ओर कैसे झुकेगा? जिसे हितरूप मानता है, उसका प्रेम कैसे छोड़ेगा? ज्ञानी कभी चैतन्य का प्रेम नहीं छोड़ता और अज्ञानी बाह्य विषयों का प्रेम नहीं छोड़ता।

जिसने अन्तर के चैतन्यस्वभाव को ही सुखरूप जाना है, वह अन्तरात्मा है और जो बाह्य विषयों में सुख मानता है, वह बहिरात्मा है—ऐसा जानकर बहिरात्मपना छोड़कर, अन्तरात्मा होने के लिये यह उपदेश है। ●

देहबुद्धिरूप अविद्या के संस्कार

यह आत्मा तो चैतन्यस्वभावी सूर्य है, देह से भिन्न है; उसे न जानकर, शरीर ही आत्मा है—ऐसा अज्ञानी को विभ्रम हो गया है। उस विभ्रम के कारण क्या होता है—यह कहते हैं।

अविद्यासंज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते दृढः।
येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते॥१२॥

इस भ्रम से अज्ञानमय, जमते दृढ़ संस्कार।
यों मोही भव-भव करें, तन में निज निर्धार॥१२॥

अन्वयार्थ :- (**तस्मात्**) इस विभ्रम से, (**अविद्यासंज्ञितः**) अविद्या नाम का (**संस्कारः**) संस्कार, (**दृढः**) दृढ़-मजबूत (**जायते**) होता है, (**येन**) जिस कारण से (**लोकः**) अज्ञानी जीव, (**पुनः अपि**) जन्मान्तर में भी (**अंगम् एव**) शरीर को ही (**स्वं अभिमन्यते**) आत्मा मानता है।

देह ही मैं हूँ—ऐसे विभ्रम के कारण, उस बहिरात्मा को अविद्या के संस्कार रह जाते हैं और इसीलिए जहाँ-जहाँ जाये, वहाँ-वहाँ सर्वत्र अपने को शरीररूप ही मानता है। अविद्या के संस्कार किसी पर के कारण या कर्म के कारण होते हैं—ऐसा नहीं परन्तु अपनी विभ्रमबुद्धि के कारण ही अविद्या के संस्कार हैं। चिदानन्दस्वरूप को न जाना और देह को ही आत्मा माना, वह जीव भले चाहे जितने शास्त्र पढ़े और चाहे जितनी विद्या पढ़ा हो तो भी उसे अविद्या ही है। जहाँ चैतन्य और जड़ का भेदविज्ञान नहीं किया, वहाँ अविद्या ही है; और भले ही शास्त्र न पढ़ा हो, अरे! तिर्यञ्च हो तो भी, यदि अन्तर में चैतन्यस्वरूप अपने को देह से भिन्न जानता है तो वह सम्यक् विद्यावाला है। उसे अनादि के अविद्या के संस्कार छूट गये हैं... वह अन्तरात्मा है... धर्मात्मा है... मोक्ष का पन्थी है।

देखो! मोक्षशास्त्र पर सर्वार्थसिद्धि जैसी महान टीका रचनेवाले श्री पूज्यपादस्वामी

यहाँ स्पष्ट करते हैं कि विभ्रम के कारण ही आत्मा को अविद्या के संस्कार दृढ़ हुए हैं; कर्म के कारण या पर के कारण अविद्या हुई-ऐसा नहीं है। कर्म, आत्मा को विकार कराता है—ऐसा माननेवाला भी जड़ को ही आत्मा मानता है, अर्थात् शरीर को ही आत्मा मानता है।

अज्ञानी को विपरीत मान्यता से 'शरीर ही मैं हूँ'—ऐसे विभ्रम के कारण अविद्या के दृढ़ संस्कार ऐसे हो जाते हैं कि दूसरे जन्म में भी जहाँ जाये, वहाँ शरीर में ही आत्मबुद्धि करता है। मनुष्य शरीर मिला, तब 'मैं ही मनुष्य हूँ, मैं तिर्यञ्च नहीं'—ऐसा मानता है परन्तु जहाँ तिर्यञ्च शरीर मिला, वहाँ अविद्या के संस्कार के कारण ऐसा मानता है कि मैं ही तिर्यञ्च हूँ; इस प्रकार जिस-जिस शरीर का संयोग मिला, उस-उस शरीर को ही अपना स्वरूप मानता है परन्तु मैं तो अनादि, अनन्त शाश्वत् चैतन्यमूर्ति हूँ; मैं शरीररूप कभी हुआ ही नहीं—ऐसा अज्ञानी नहीं जानता है। शरीर को ही जीव मानता है; इसलिए शरीर छूटने पर मानो जीव ही मर गया—ऐसा अज्ञानी को भ्रम होता है। अज्ञानी को अविद्या के संस्कार हैं, वे अपने भ्रम के कारण ही हैं; किसी कर्म के कारण या दूसरे के कारण नहीं।

यहाँ तो यह बतलाना है कि अरे भाई! भ्रम से देह को ही आत्मा मानकर तू अभी तक अनन्त जन्म-मरण में भटका है। अब देह से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा को जानकर वह भ्रमबुद्धि छोड़... बहिरात्मदशा छोड़ और अन्तरात्मा हो।

देह को आत्मा माननेवाला जीव, भ्रान्ति से कैसा दु:खी होता है, उसका दृष्टान्त —

एक मनुष्य नींद में सो रहा था, उसे स्वप्न आया कि 'मैं मर गया हूँ' इस प्रकार अपना मरण देखकर वह जीव बहुत दु:खी और भयभीत हुआ।

किसी सज्जन ने उसे जगाया; जागते ही उसने देखा कि अरे! मैं तो जीवित ही यह रहा। मैं कहीं मर नहीं गया। स्वप्न में अपने को मरा हुआ माना, इसलिए मैं बहुत दु:खी हुआ परन्तु वास्तव में मैं जीवित हूँ। इस प्रकार अपने को जीवित जानकर, वह आनन्दित हुआ और मृत्यु सम्बन्धी उसका दु:ख मिट गया। अरे! यदि वह मर गया होता तो 'मैं मर गया' ऐसा जाना किसने? जाननेवाला तो जीवित ही है!

इसी प्रकार मोह-निंद्रा में सोया हुआ जीव, देहादि के संयोग-वियोग से स्वप्न की तरह ऐसा मानता है कि मैं मरा, मैं जन्मा, मैं मनुष्य हो गया, मैं तिर्यञ्च हो गया—इस मान्यता के कारण वह बहुत दु:खी होता है परन्तु ज्ञानी ने जड़-चेतन की भिन्नता बतलाकर उसे जगाया; जागते ही उसे भान हुआ कि अरे! मैं तो अविनाशी चेतन हूँ और यह शरीर जड़ है, यह कहीं मैं नहीं हूँ। शरीर के संयोग-वियोग से मेरा जन्म-मरण नहीं—ऐसा भान होते ही, उसका दु:ख दूर हुआ और वह आनन्दित हुआ कि वाह! जन्म-मरण मुझमें नहीं; मैं तो सदा जीवन्त चैतन्यमय हूँ। मैं मनुष्य या मैं तिर्यंच हो नहीं गया; मैं तो शरीर से भिन्न चैतन्य ही रहा हूँ। यदि मैं शरीर से भिन्न न होऊँ तो शरीर छूटने पर मैं कैसे जी सकूँगा? मैं तो जाननहार स्वरूप से सदा ही जीवन्त हूँ।

जैसे स्वप्न में अपने को मरा हुआ माना परन्तु जागृत होने पर तो जीवित ही है। इसी प्रकार अज्ञानदशा में अपने को देहरूप माना, वह ज्ञानदशा में भिन्न ही अनुभव करता है।

स्वप्न में मृत्यु की तरह, स्वप्न में कोई दरिद्री जीव अपने को सुखी या राजा माने परन्तु जहाँ जागृत हुआ तो पता पड़ा कि वह सुख सच्चा नहीं था; इसी प्रकार मोहनिद्रा में सोया हुआ जीव, बाह्य संयोगों में-पुण्य में-राग में जो सुख मानता है, वह तो स्वप्न के सुख समान है। जहाँ भेदज्ञान करके जागृत हुआ, वहाँ भान हुआ कि अरे! बाह्य में-राग में कहीं मेरा सुख नहीं है; उनमें सुख माना, वह तो भ्रम था; सच्चा सुख मेरे आत्मा में है।

'शरीर से सुखी तो सुखी सर्व बातें'—ऐसी जिसकी मान्यता है, वह भी देह को ही आत्मा मानता है। अरे मूढ़! शरीर तो जड़ है, उस जड़ में क्या तेरा सुख है? शरीर निरोग हो, तथापि अन्दर मोह के कारण जीव दु:खी हो रहा है। शरीर, वह मैं हूँ—ऐसी जिसकी मान्यता है, वही अनादि का भ्रम / रोग है; वह रोग मिटकर निरोगता कैसे हो? उसकी यह बात है। देव मैं नहीं, मैं तो चैतन्य हूँ, देह की निरोगता से मुझे सुख नहीं अथवा देह के रोग से मुझे दु:ख नहीं। मैं देह से पार अतीन्द्रिय चैतन्य हूँ—ऐसे चैतन्य का भान करे तो मिथ्या मान्यतारूपी रोग मिटे और सम्यग्दर्शनादि निरोगता प्रगट हो, यही सुख है।

देह, वह मैं—ऐसी मान्यता की गन्ध जीव को बैठ गयी है; इसलिए देह के कार्यों

को ही अपना कार्य मानकर अज्ञानी प्रवर्तता है परन्तु चैतन्य की गन्ध (रुचि) अन्दर में बैठाता नहीं। देहादि छेदाये या भेदाये, रहे या जाये परन्तु वह मैं नहीं। शरीर छेदाये या भेदाये, उससे मैं कहीं छेदाता-भेदाता नहीं हूँ, देह के वियोग से मेरा नाश नहीं होता, मैं तो चैतन्यस्वरूप असंयोगी शाश्वत् हूँ—ऐसी भेदज्ञान की भावना से आत्मज्ञान करे तो अविद्या के संस्कार का नाश हो जाता है। जैसे कुएँ के ऊपर का कठोर काला पत्थर भी डोरी के बारम्बार घिसकर उसमें निशान हो जाता है; इसी प्रकार देह से भिन्न चिदानन्दतत्त्व की बारम्बार भावना के अभ्यास से अनादि अविद्या के संस्कार का नाश होकर भेदज्ञान होता है और अपूर्व ज्ञानसंस्कार प्रगट होते हैं। ●

चिदानन्द आत्मा ही हमारा देश

अहा! धर्मात्मा मुनि निरन्तर आनन्द झरते हुए अपने प्रचुर स्वसम्वेदन में से अर्थात् आनन्दस्वरुप निज आत्मा में से बाहर आयें, व्रतादि या धर्मोपदेश का विकल्प आये तो उन्हें ऐसा लगता है कि अरेरे! हम कहाँ इस परदेश में आ गये? ज्ञानियों की परिणति, धर्मात्मा की दशा, विभाव से विमुख होकर स्वरूपोन्मुख हो रही है। ज्ञानी निजस्वरूप में परिपूर्णतया स्थित होने को तरसते हैं! यह शरीर तथा स्त्री-पुत्र-परिवार आदि तो हमारे हैं ही नहीं, परन्तु यह विभावभाव भी हमारा देश नहीं है। हमारा देश तो अन्तर में विद्यमान चिदानन्द आत्मा है।

— ऐसा है वीतरागमार्ग का स्वरुप। महाव्रतादि अथवा दूसरों को समझाने का विकल्प उठे, वह भी राग है; राग हमारा देश नहीं है। इस परदेश में हम कहाँ आ पहुँचे? हमें यहाँ अच्छा नहीं लगता। अशक्ति के कारण भीतर स्वरुप में स्थिर नहीं रह सके, पुरुषार्थ अल्प है; इसलिए यहाँ आ पड़े। यहाँ शुभभाव में हमारा कुछ नहीं है। जहाँ अनन्त श्रद्धा, अनन्त ज्ञान, अनन्त चारित्र, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्यादि हमारा परिवार निवास करता है, वह निज शुद्ध चैतन्यभूमि ही हमारा स्वदेश है। धर्मी को निरन्तर ऐसी दृष्टि होती है। अब, हम अपने उस स्वरुप-स्वदेश की ओर जा रहे हैं। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, २/३१*

शरीरबुद्धि का फल : संसार
आत्मबुद्धि का फल : मोक्ष

देह, वही मैं हूँ ऐसी मिथ्याबुद्धि के कारण अज्ञानी जीव बारम्बार देह को ही धारण करता है और ज्ञानी को देह से भिन्न चिदानन्द तत्त्व को जानता हुआ देह को धारण नहीं करता। इस प्रकार बहिरात्मा और अन्तरात्मा के कार्य का भेद बतलाते हैं।

देहे स्वबुद्धिरात्मानं युनक्त्येतेन निश्चयात्।
स्वात्मन्येवात्मधीस्तस्माद्वियोजयति देहिनं॥१३॥

देहबुद्धिजन आत्म का, तन से करें सम्बन्ध।
आत्मबुद्धि नर स्वात्म का, तन से तजे सम्बन्ध॥१३॥

अन्वयार्थ :- (**देहे स्वबुद्धि**) शरीर में आत्मबुद्धि करनेवाला बहिरात्मा, (**निश्चयात्**) निश्चय से (**आत्मानं**) अपने आत्मा को (**एतेन**) उसके साथ / शरीर के साथ (**युनक्ति**) जोड़ता है / सम्बन्ध करता है, अर्थात् दोनों को एकरूप मानता है, परन्तु (**स्वात्मनि एव आत्मधीः**) अपने आत्मा में ही आत्मबुद्धि करनेवाला अन्तरात्मा, (**देहिनं**) अपने आत्मा को (**तस्मात्**) उससे / शरीर से (**वियोजयति**) पृथक् / भिन्न करता है।

देह में ही स्वबुद्धि रखनेवाला बहिरात्मा, स्वयं को बारम्बार शरीर के साथ जोड़कर नये-नये शरीर धारण करके संसार में भटकता है और अपने आत्मा में ही आत्मबुद्धि रखनेवाला अन्तरात्मा, अपने आत्मा को शरीर से भिन्न कर डालता है, अर्थात् मुक्ति प्राप्त करता है; इस प्रकार बहिरात्मा को शरीरबुद्धि का फल, संसार है और अन्तरात्मा को आत्मबुद्धि का फल, मोक्ष है। जैसे लोगों में ऐसा कहा जाता है कि चुडैल-डाकिन को यदि बुलाओ तो वह चिपटती है और नहीं बुलाओ तो वह चली जाती है; इसी प्रकार यह शरीररूपी चुडैल है, इस शरीर जो अपना मानता है, उसे ही यह चिपटता है, अर्थात् शरीर,

वह मैं हूँ—ऐसी मिथ्याबुद्धि के कारण ही जीव, संसार में नये-नये शरीर धारण करके जन्म-मरण करता है। देह से अपने को भिन्न जानकर चिदानन्दस्वरूप आत्मा को जो सेवन करता है, उसे मोक्ष होने पर शरीर छूट जाता है, फिर से शर्मजनक देह का संयोग नहीं होता है। जिसने अशरीरी आत्मा को चूककर शरीर को अपना माना है, वही चारगति में परिभ्रमण करता है परन्तु अशरीरी चैतन्यस्वभाव को पहचानकर जो उसकी आराधना करता है, वह अशरीरी सिद्ध हो जाता है।

श्री योगीन्द्रुस्वामी कहते हैं कि—

ध्यान धरे अभ्यन्तरे, देखत जो अशरीर।
मिटे जन्म लज्जा जनक, पिये न जननी क्षीर॥ (योगसार, दोहा ६०)

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी आत्मसिद्धि में कहा है कि—

छूटे देहाध्यास तो नहीं करता तू कर्म,
नहीं उनका तू भोगता यही धर्म का मार्ग॥

'देह ही मैं हूँ'—यदि ऐसा देहाध्यास छूट जाये, अर्थात् देह से पार मैं चिदानन्दस्वभाव ही हूँ—ऐसा यदि सम्यक्‌भान हो तो वह आत्मा, देहादिक का या कर्मों का कर्ता नहीं होता तथा उनके फल का भोक्ता भी नहीं होता; वह तो अपने आत्मा को देहादिक से तथा कर्मों से भिन्न जानकर, अपने ज्ञानभाव का ही कर्ता-भोक्ता होता है और यही धर्म है; इसलिए पहले यथार्थ भेदज्ञान करने का उपदेश है।

आत्मा को अनादि काल से अशान्ति क्यों है और शान्ति कैसे प्राप्त हो-समाधि कैसे हो?—यह बात चलती है। आत्मा, ज्ञान आनन्दस्वरूप है, वह शरीर से भिन्न ज्ञाता-दृष्टा है; आत्मा, शरीर का जाननेवाला है परन्तु स्वयं शरीर नहीं है, तथापि अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं ही शरीर हूँ, शरीर मेरा है—ऐसी भ्रमबुद्धि के कारण वह चैतन्य में एकाग्र नहीं होता परन्तु देह की ममता से बारम्बार नये-नये शरीर धारण किया करता है और शरीर के लक्ष्य से दु:खी-अशान्त हो रहा है। उसे आचार्यदेव समझाते हैं कि अरे जीव! यह शरीर तू नहीं है; तू तो चैतन्यस्वरूपी अरूपी है; देह से भिन्न तेरे स्वरूप को जान तो तुझे शान्ति होगी।

देहबुद्धि के कारण अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं काला, मैं गोरा, मुझे सर्दी हुई, मुझे गर्मी हुई, मुझे रोग हुआ—इस प्रकार देह की अवस्थाओं को ही आत्मा मानता है। शीत-उष्ण तो शरीर होता है, आत्मा कहीं शीत-उष्ण नहीं होता। आत्मा को तो उसका ज्ञान होता है। वहाँ अपने ज्ञान को देह से भिन्न न जानकर, एकाकार मानकर स्वयं को ही शीत-उष्ण इत्यादि होना मानता है; इस प्रकार जड़-शरीर में ही मूर्च्छित हो गया है, यह असमाधि है और चैतन्य में सावधानी, वह समाधि है।

—एक ओर चैतन्यमूर्ति आनन्दस्वरूप आत्मा; दूसरी ओर अचेतन जड़-शरीर—ऐसे दो भाग डालकर भेदज्ञान किया है। शरीर और शरीर के साथ के सम्बन्धवाले समस्त परद्रव्य मेरे आत्मा से बाहर है और चिदानन्दस्वरूप आत्मा, वह एक ही मेरा अन्तरतत्त्व है। इस प्रकार निजस्वरूप को नहीं जाना और शरीर को अपना माना, वहाँ अज्ञानी को बाहर में परद्रव्यों के साथ सम्बन्ध विस्तृत हुआ और संसार खड़ा हुआ।

इस शरीर को तो 'भवमूर्ति' कहा है। आत्मा चिदानन्दस्वरूप है, वह आनन्द की मूर्ति है और यह देह तो भव की मूर्ति है; इसलिए जिसे इस शरीर की रुचि है, वह जीव दीर्घ काल तक भवभ्रमण करता है। अरे! परम शुद्ध, भवरहित इस भगवान आत्मा की प्रीति छोड़कर मूढ़ जीव, जड़ शरीर की प्रीति करके उसमें सुख मान-मानकर जड़ के साथ जुड़ान करते हैं, आत्मा के साथ शत्रुता करके आत्मा से विरुद्ध ऐसे जड़ शरीर के साथ मित्रता (एकताबुद्धि-देहाध्यास) करते हैं, वही भवभ्रमण का मूल है। अनन्त गुणस्वरूप आत्मा का अस्तित्व चूककर, जिसने देह में ही अपना अस्तित्व माना है, वह जीव, देहाध्यास के कारण अनन्त शरीर धारण करेगा परन्तु —

काया की विसारी माया... स्वरूप में समाये ऐसे...
निर्ग्रन्थ का पन्थ भव अन्त का उपाय है॥

मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा जानने की क्रिया का ही कर्ता हूँ, शरीर तो जड़ है, वह हिले-चले, तथापि उसमें जानने की क्रिया नहीं है; जानने की क्रिया तो मेरी ही है; इस प्रकार जानने की क्रियास्वरूप अपने आत्मा को देह से भिन्न पहचाने तो देहाध्यास छूट जाये और अल्प काल में उसे देहरहित सिद्धपद प्रगट हो।

यह मनुष्य अवतार प्राप्त करना अनन्त काल में दुर्लभ है। ऐसा मनुष्य अवतार और उसमें भी उत्तम सत्संग पाकर, अरे जीव! तू विचार तो कर कि 'मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? और मेरा वास्तविकस्वरूप क्या है? किसके साथ मुझे सम्बन्ध है?'

मैं कौन हूँ, आया कहाँ से, और मेरा रूप क्या?
सम्बन्ध दुःखमय कौन है, स्वीकृत करूँ परिहार क्या?
इसका विचार विवेकपूर्वक शान्त होकर कीजिये
तो सर्व आत्मिक ज्ञान के सिद्धान्त का रस पीजिये।

(अमूल्य तत्त्वविचार, श्रीमद् राजचन्द्र)

यह देह तो अभी हुआ; आहार-पानी से यह पिण्ड रचा गया; मैं यह नहीं, मैं तो आत्मा हूँ। मेरा आत्मा कहीं नया नहीं हुआ; शरीर का संयोग नया हुआ है। यह आत्मा पहले (पूर्व भव में) दूसरे शरीर के संयोग में था, वहाँ से उस शरीर को छोड़कर यहाँ आया है; इस प्रकार आत्मा तो त्रिकाल टिकनेवाला तत्त्व है और देह तो क्षणिक संयोगी है। मेरा स्वरूप तो ज्ञान-आनन्दस्वरूप है; शरीर इन्द्रियाँ मेरा स्वरूप नहीं है, वह तो जड़ का रूप है। उन शरीरादिक के साथ मुझे वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं है। उनके साथ का सम्बन्ध तोड़कर ज्ञानानन्दस्वरूप के साथ ही मुझे सम्बन्ध जोड़ना योग्य है। मेरे चिदानन्द तत्त्व के अतिरिक्त जगत् के किसी भी पदार्थ के साथ मुझे एकता का सम्बन्ध कभी भी नहीं है; इस प्रकार सर्व प्रकार से विचार करके अन्तर्मुख चित्त से ज्ञानानन्दस्वरूप अपने आत्मा का निर्णय करना और देहादिक को अपने से बाह्य / भिन्न जानना, यह सिद्धान्त का सार है; इस प्रकार ज्ञानानन्दस्वरूप की पहिचान करके, उसमें एकाग्रता द्वारा परमात्मा होने का प्रयत्न करना चाहिए।

यह देह तो जड़ है, इस देह में से कहीं परमात्मदशा नहीं आती है; परमात्मदशा तो आत्मा में से आती है। देह से भिन्न ऐसे आत्मा को जानकर, उसमें एकाग्रता द्वारा परमात्मदशा होती है; इसलिए देह में आत्मबुद्धि छोड़कर, अन्तर के आत्मस्वरूप की श्रद्धा से अन्तरात्मा होकर, परमात्मा होने का उपाय करना योग्य है।●

आचार्यदेव की करुणाबुद्धि

अब, चौदहवीं गाथा में आचार्यदेव, करुणाबुद्धि से कहते हैं कि अरे! ज्ञानानन्दस्वरूप अपने आत्मा को चूककर यह जगत, बाहर में देह को ही अपना आत्मा मानकर तथा स्त्री, पुत्र, सम्पत्ति इत्यादि बाह्य पदार्थों को ही अपना मानकर निन्दनीय प्रवृत्ति करता है '**हा हतं! जगत्**' अरे! खेद है कि अपनी चैतन्य समृद्धि को भूला हुआ यह जगत्, बाह्य सम्पत्ति में मूर्च्छित होकर पड़ा है! स्वयं बाहिरात्मबुद्धि के अनन्त दुःख से छूटकर चिदानन्द तत्त्व को जाना है और जगत् के जीव भी ऐसे आत्मा को जानकर, बहिरात्मबुद्धि के अनन्त दुःख से छूटे—ऐसी करुणाबुद्धि से पूज्यपादस्वामी कहते हैं कि—

देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादिकल्पनाः।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हतं! जगत्॥१४॥

जब तन में निज कल्पना, 'मम सुत-तिय' यह भाव।
परिग्रह माने आपनो, हाय! जगत् दुर्भाव॥१४॥

अन्वयार्थ :- (**देहेषु**) शरीरों में (**आत्मधिया**) आत्मबुद्धि के कारण से, (**पुत्र-भार्यादि कल्पनाः जाताः**) मेरा पुत्र, मेरी स्त्री इत्यादिक कल्पनाएँ उत्पन्न होती हैं। (**हा**) खेद है कि (**जगत्**) बहिरात्मस्वरूप प्राणिगण, (**ताभिः**) उन कल्पनाओं के कारण से, (**सम्पत्तिम्**) स्त्री-पुत्रादि की समृद्धि को, (**आत्मनः**) अपनी समृद्धि (**मन्यते**) मानते हैं। इस प्रकार यह जगत (**हतं**) घाता जा रहा है।

देह में आत्मबुद्धि के कारण 'यह मेरा पुत्र, यह मेरी स्त्री, यह मेरा पति, ये मेरे माता-पिता, यह मेरा भाई, यह मेरी बहिन'—ऐसी कल्पना, बहिरात्मा को होती है तथा बाहर में प्रत्यक्ष भिन्न दिखाई देनेवाले घर, गहनें, लक्ष्मी, वस्त्र इत्यादि को भी आत्मा की सम्पत्ति मानता है। **हा हतं! जगत्** अरे रे! बेचारा जगत भ्रमणा से ठगाया जा रहा है!! खेद है कि

चैतन्य की आनन्द–सम्पत्ति को भूलकर, जगत् के बहिरात्मा जीव, बाहर की सम्पत्ति को ही अपनी मानकर नष्ट हो रहे हैं; आत्मा की शुध–बुध भूलकर यह जगत अचेतन जैसा हो रहा है, उसे देखकर सन्तों को करुणा आती है।

देह को आत्मा मानना, वह भ्रम है, वह भ्रम मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व, महान कषाय है। उस कषायरूपी होली में बहिरात्मा सुलग रहे हैं; शान्तस्वरूप चैतन्य को भूलकर कषाय अग्नि में जल–जलकर बेचारे दु:खी हो रहे हैं। अरेरे! वे ठगा रहे हैं... भावमरण में मर रहे हैं। इसलिए अरे जीवों! तुम समझो कि देहादि बाह्य पदार्थ, आत्मा के नहीं हैं; आत्मा तो उनसे पृथक् ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। ऐसे आत्मा को जानने–मानने–अनुभव करने से ही दु:ख मिटकर शान्ति / समाधि होती है।

आत्मा को समाधि कैसे हो, अर्थात् शान्ति कैसे हो, आनन्द कैसे हो, सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र कैसे हो—उसकी यह बात है।

देह से भिन्न चिदानन्दस्वरूप आत्मा है, उसके ही अवलम्बन से शान्ति–समाधि होती है। देह, वही मैं हूँ—इस प्रकार शरीर में आत्मबुद्धि करता है और अन्तर के चैतन्यस्वरूप में प्रवेश नहीं करता; इसलिए जीव को शान्ति / समाधि नहीं होती। चैतन्यस्वरूप में प्रवेश करने का प्रयास करे तो शान्ति–समाधि होती है। जैसे घर में महावैभव भरा हो परन्तु यदि घर में प्रवेश न करे—उस ओर मुँह भी न फिराये और दूसरी तरफ मुँह रखे तो उसे वह वैभव कहाँ से दिखेगा? इसी प्रकार आत्मा के चैतन्य घर में ज्ञान, आनन्द, शान्ति का अचिन्त्य वैभव भरा है, परन्तु जीव उसमें प्रवेश नहीं करता—उस ओर मुख भी नहीं करता और बहिर्मुख रहता है, इसलिए उसे अपने निराकुल आनन्द का स्वाद नहीं आता। अपनी चैतन्य सम्पत्ति का उसे भान नहीं है और बाहर की जड़ सम्पत्ति को ही आत्मा की मानता है; इसलिए वह दु:खी है। अरे! खेद है कि बाह्य सम्पदा को अपनी मानकर जीव अपनी अचिन्त्य चेतन सम्पदा को भूल रहे हैं परन्तु —

लक्ष्मी बड़ी अधिकार भी पर बढ़ गया क्या बोलिये?

बाहर में सम्पत्ति बढ़े, वहाँ मानों कि मेरी वृद्धि हुई और संयोग छूटे, वहाँ मानो मेरा आत्मा नष्ट हो गया; इस प्रकार अज्ञानी को बाहर में ही आत्मबुद्धि है। मैं तो सबसे भिन्न

ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूँ, मेरी सम्पत्ति मुझमें ही है—ऐसे निजस्वभाव की दृढ़ता करे तो मिथ्यात्व मिटकर, पहले सम्यग्दर्शनरूपी समाधि होती है; पश्चात् अपने चिदानन्दस्वरूप में ऐसा लीन होता है कि जगत् को भूल जाता है (अर्थात् उसका लक्ष्य छूट जाता है)। और राग-द्वेष मिट जायें, तब चारित्र अपेक्षा से वीतरागी समाधि होती है। इसके अतिरिक्त बाहर में अपनापन माननेवाले को समाधि नहीं होती, परन्तु संसार होता है।

आचार्यदेव, बहिरात्माओं के प्रति करुणाबुद्धि से कहते हैं कि **हा हतं! जगत्...** अरेरे! यह बहिरात्मा जीव **हत** हैं कि चैतन्य को चूककर बाहर में ही आत्मबुद्धि करके उसके संयोग-वियोग में हर्ष-विषाद करते हैं... बाह्यदृष्टि से जगत् के जीव प्रतिक्षण भावमरण करके नष्ट हो रहे हैं। अरे..रे...! खेद है कि यह जीव, भ्रान्ति से हनन को प्राप्त हो रहे हैं... देह से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को जाने तो उनका उद्धार हो। जैसे पिता बैठे हों और सामने उनका पुत्र, गाड़ी से दबकर मर जाता हो तो पिता को करुणा आती है (संयोग के कारण नहीं परन्तु अपने पुत्र के प्रति ममता है इस कारण।) इसी प्रकार मुनिवर और आचार्य-भगवन्त, मुमुक्षु जीवों के धर्मपिता हैं; इन बहिरात्मा जीवों को अज्ञान से भावमरण में मरते देखकर उन्हें करुणा आती है कि अरे..रे! चैतन्य को चूककर, मोह से जगत् मूर्छित हो गया है। उसे अपने आत्मा की सुध-बुध नहीं रही है। अरे! चैतन्य भगवान को यह क्या हुआ कि जड़ कलेवर में मूर्च्छित हुआ?

अरे जीवो! अन्तर में प्रवेश करके देखो... तुम तो चिदानन्दस्वरूप अमर हो, यह देह तो जड़ विनाशीक है। बहिरात्मबुद्धि के कारण बहिरात्मा अनन्त दु:ख भोगते हैं। यहाँ **हा हतं! जगत्**—ऐसा कहकर उनके प्रति करुणा करके, सन्त वह बहिरात्मबुद्धि छुड़ाना चाहते हैं।

है; इसलिए तुम्हारी चैतन्य सम्पदा को सम्हालो... और बाह्यबुद्धि छोड़ो - ऐसा सन्तों का उपदेश है।●

दु:ख के कारणरूप देहबुद्धि को छोड़कर....

इस प्रकार बहिरात्मा का स्वरूप वर्णन करके, अब कहते हैं कि इस देह में आत्मबुद्धि ही संसार के दु:ख का मूल है; इसलिए हे जीव! वह बहिरात्मपना छोड़ और अन्तर आत्मा में प्रवेश करके अन्तरात्मा हो।

मूलं संसारदु:खस्य देहे एवात्मधीस्तत:।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रिय: ॥१५॥

जग में दु:ख का मूल है, तन में निज का ज्ञान।
यह तज विषय-विरक्त हो, लो निजात्म में स्थान॥१५॥

अन्वयार्थ :- (**देहे**) शरीर में (**आत्मधी: एव**) आत्मबुद्धि होना, वही (**संसार दु:खस्य**) संसार के दु:ख का (**मूलं**) कारण है; (**तत:**) इसलिए (**एनां**) शरीर में आत्मबुद्धि को (**त्यक्त्वा**) छोड़कर तथा (**बहिरव्यापृतेन्द्रिय:**) बाह्य विषयों में इन्द्रियों की प्रवृत्ति को रोककर, (**अन्त:**) अन्तरङ्ग में-आत्मा में (**प्रविशेत्**) प्रवेश करो।

इस प्रकार बहिरात्मा का स्वरूप वर्णन करके, अब कहते हैं कि इस देह में आत्मबुद्धि ही संसार के दु:ख का मूल है; इसलिए हे जीव! वह बहिरात्मपना छोड़ और अन्तर आत्मा में प्रवेश करके अन्तरात्मा हो।

इस जड़ शरीर में आत्मबुद्धि करना, संसार दु:ख का मूलकारण है; इसलिए हे जीव! देह में आत्मपने की मिथ्या-कल्पना छोड़कर, बाह्य विषयों की ओर की प्रवृत्ति रोक और अन्तर के चैतन्यस्वरूप में प्रवेश कर।

जीव को भ्रान्तिरूपी भूत ऐसा लगा है कि वह देह को ही आत्मा मानकर, शृंगार — नहलाने, धुलाने में सुख मानता है। धर्मात्मा को बाहर में कहीं आत्मबुद्धि नहीं होती।

संसार के दुःख का मूल क्या? 'शरीरादि, वह मैं'—ऐसी मिथ्याबुद्धि ही संसार दुःख का मूल है। जो देह को आत्मा मानता है, वह अपने ज्ञान को विषयों से परांमुख करके आत्मा की ओर कैसे झुकायेगा? वह तो इन्द्रियों की ओर ही ज्ञान का झुकाव करता है और बाहर में ही व्यापार करता है, वही दुःख है। ज्ञान को इन्द्रियविषयों से परांमुख करके अन्तर में एकाग्र करने पर अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। आत्मा में आनन्द का माल भरा है, उसे छोड़कर, मूढ़ जीव बाहर के विषयों में आनन्द मानता है। यहाँ आचार्यदेव उसे मूढ़बुद्धि छोड़ने की प्रेरणा करते हैं कि अरे जीव! बाह्य विषयों में भटकना छोड़ और अन्तर आत्मा में प्रवेश कर! बाहर में शरीरादिक से तेरा जीवन नहीं; शरीर में मूर्च्छा से तो तेरा भावमरण होता है; तेरा जीवन तो तेरे चिदानन्दस्वरूप में ही है, उसमें तू प्रवेश कर।

जिस प्रकार राजा अपने को भूलकर ऐसा माने कि मैं भिखारी हूँ; इसी प्रकार यह चैतन्य राजा अपने स्वरूप को भूलकर, देह ही मैं हूँ—ऐसा मानकर विषयों का भिखारी हो रहा है, उसका नाम भावमरण है। उसके प्रति करुणा करके कहते हैं कि अरे जीवों!

तू क्यों भयङ्कर भावमरण प्रवाह में चकचूर है?

इस देहादिक में आत्मबुद्धि छोड़ों और भिन्न चैतन्यस्वरूप को पहचानकर उसकी श्रद्धा करो... जिससे इन घोर दुःखों से छूटकारा हो और आत्मा का निराकुल सुख प्रगट हो। आत्मा का स्वरूप पहचानकर, फिर उसे साधने से आत्मा स्वयं स्वयंमेव परमात्मा बन जाता है। साध्य और साधन दोनों अपने में है; अपने से बाहर कोई साध्य या साधन नहीं है; इसलिए तुम्हारी चैतन्य सम्पदा को सम्हालो... और बाह्यबुद्धि छोड़ो – ऐसा सन्तों का उपदेश है।

(अब आज श्रुत पंचमी का महान दिन होने से उसकी महिमा सम्बन्धी थोड़ा सा कहा जाता है। वीर संवत् २४८२ श्रुत पंचमी प्रवचन)

श्रुत पंचमी का इतिहास इस प्रकार है —

वीतराग सर्वज्ञ अन्तिम तीर्थङ्कर देवादिदेव महावीर परमात्मा के श्रीमुख से दिव्य ध्वनि द्वारा जो हितोपदेश निकला, उसे झेलकर गौतम गणधरदेव ने एक मुहूर्त में बारह अङ्ग की रचना की। बारह अङ्ग में तो अपार श्रुतज्ञान का समुद्र भरा है। महावीर भगवान

के मोक्ष पधारने के बाद गौतमस्वामी, सुधर्मस्वामी और जम्बूस्वामी ये तीन केवली; तथा आचार्य विष्णु, नन्दी, अपराजित, गोवर्धन, और भद्रबाहु - ये पाँच श्रुत केवली भगवन्त १६२ वर्ष में अनुक्रम से हुए। तत्पश्चात् बारह अङ्ग का ज्ञान परम्परा (क्रमशः) घटता-घटता चला आ रहा था और उसका कितना ही भाग धरसेनाचार्य को गुरु परम्परा से प्राप्त हुआ था। महावीर भगवान के मोक्ष पधारने के बाद ६८३ वर्ष बाद धरसेनाचार्य हुए। वे सौराष्ट्र के गिरनार पर्वत की चन्द्र गुफा में विराजमान थे, वे अष्टांग महानिमित्त के ज्ञाता और विशेष श्रुतवत्सल थे। भगवान की परम्परा से चले आये श्रुत के विच्छेद का भय होने से उन्हें महिमा नगरी में धर्मोत्सव के निमित्त एकत्रित हुए दक्षिण के आचार्यों को एक लेख भेजा; उस लेख द्वारा धरसेनाचार्यदेव के आशय को समझकर उन आचार्यों ने शास्त्र के अर्थ को ग्रहण-धारण करने में समर्थ, महाविनयवन्त, शीलवन्त ऐसे दो मुनियों को धरसेनाचार्यदेव के पास भेजा; गुरुओं द्वारा भेजने से जिन्हें बहुत तृप्ति हुई है, जो उत्तम देश-उत्तम कुल और उत्तम जाति में उत्पन्न हुए हैं, समस्त कलाओं में पारङ्गत हैं ऐसे वे दोनों मुनिवर भी तीन बार आचार्य भगवन्तों की आज्ञा लेकर धरसेनाचार्यदेव के पास आने के लिए निकल पड़े।

जब वे दोनों मुनिवर आ रहे थे, तब यहाँ धरसेनाचार्यदेव ने रात्रि के पिछले भाग में ऐसा सुस्वप्न देखा कि दो महा सुन्दर श्वेत बैल भक्तिपूर्वक तीन प्रदक्षिणा देकर विनम्ररूप से चरणों में नम रहे हैं - इस प्रकार का मङ्गल स्वप्न देखने से सन्तुष्ट होकर आचार्यदेव ने 'जयवन्त हो श्रुतदेवता' - ऐसे वाक्य का उच्चारण किया।

उसी दिन पूर्वोक्त दोनों मुनिवर आ पहुँचे और भक्तिपूर्वक आचार्यदेव के चरणों में वन्दनादि किया। महाधीर गम्भीर और विनय की मूर्ति ऐसे उन दोनों मुनियों ने तीसरे दिन धरसेनाचार्यदेव के समीप विनयपूर्वक निवेदन किया कि प्रभो! इस कार्य के लिए हम दोनों आपके चरण कमल में आये हैं। उन्होंने ऐसा निवेदन किया तब 'बहुत अच्छा, कल्याण हो' - ऐसा आचार्यदेव ने आशीष वचन कहा।

तत्पश्चात् यद्यपि शुभ स्वप्न के आधार से ही उन दोनों मुनियों की विशेषता जान ली थी तथापि फिर से परीक्षा करने के लिए धरसेनाचार्यदेव ने उन दोनों साधुओं को दो

मन्त्र विद्या देकर कहा कि दो दिन के उपवासपूर्वक इस विद्या को सिद्ध करो। परीक्षा करने के लिए आचार्यदेव ने एक विद्या के मन्त्र में अधिक अक्षर दिये थे और दूसरे में कम अक्षर दिये थे। दोनों मुनियों को विद्या सिद्ध होने पर दो देवियाँ दिखलायी दीं परन्तु उनमें एक के दाँत बाहर निकले हुए थे और दूसरी कानी थी। उन्हें देखकर मुनियों ने विचार किया कि देवता कभी विकृताङ्ग नहीं होते। इसलिए अवश्य विद्या के मन्त्र में कुछ अन्तर है। महासमर्थ ऐसे उन मुनियों ने मन्त्राक्षर समान किये, जिसमें अधिक अक्षर थे वे निकाल दिए और जिसमें कम अक्षर थे वे पूर्ण किये। पश्चात् वह मन्त्र पढ़ने पर दोनों देवियाँ समानरूप में दिखाई दीं।

भगवान धरसेनाचार्य के समीप जाकर उन्होंने विनय पूर्वक समस्त वृत्तान्त कह दिया, जिससे सन्तुष्ट होकर आचार्यदेव ने उन्हें भगवान की सीधी परम्परा से चला आया श्रुतज्ञान पढ़ाना शुरु किया और आषाढ़ शुक्ल ग्यारस को सबेरे ग्रन्थ समाप्त होने पर भूत जाति के व्यन्तरों ने आकर वाजित्र नादपूर्वक उन दोनों की बहुत पूजा की। भूत नाम के देवों ने पूजा की इसलिए धरसेनाचार्यदेव ने एक का नाम 'भूतबलि' रखा और दूसरे मुनि के दाँत देवों ने व्यवस्थित कर दिये इसलिए उनका नाम 'पुष्पदन्त' रखा और इस प्रकार धरसेनाचार्यदेव ने श्रुतज्ञान पढ़ाकर तुरन्त उन पुष्पदन्त और भूतबलि मुनिवरों को वहाँ से विदाई दी।

तत्पश्चात् उन दोनों मुनिवरों ने उस श्रुतज्ञान को षट्खण्डागमरूप से गूँथा.... और अंकलेश्वर में (लगभग २००० वर्ष पहले) ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को चतुर्विध संघ ने उस श्रुतज्ञान की महिमा का महान विशाल उत्सव किया; इस प्रकार वीतरागी सन्तों ने श्रुतज्ञान का प्रवाह प्रवाहित रखा, उसका आज दिन है।

भगवान महावीर ने जो कहा और अभी महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धर भगवान जो कह रहे हैं, उसका अंश इन शास्त्रों में है। राग, द्वेष, मोहरहित वीतरागी पुरुषों द्वारा रचित यह वाणी है। सर्वज्ञ भगवान की परम्परा से चला आया ऐसा श्रुतज्ञान टिक रहा है इसलिए चतुर्विध संघ में एकत्रित होकर अंकलेश्वर में महान विशाल महोत्सवपूर्वक ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी को श्रुतज्ञान का बहुमान किया। तब से यह दिन 'श्रुत पंचमी' के रूप में प्रसिद्ध

हुआ और हर वर्ष वह मनाया जाता है। अभी तो उसका विशेष प्रचार होता जा रहा है और बहुत जगह तो आठ दिन तक उत्सव करके श्रुतज्ञान की प्रभावना होती है। यह श्रुतपंचमी का दिन बहुत महान है। अहो! सर्वज्ञ भगवान की वाणी दिगम्बर सन्तों ने टिका रखी है।

पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्य भगवन्तों ने जो षट्खण्डागम की रचना की उस पर वीरसेनाचार्यदेव ने 'धवला' नामक महान टीका रची है। वे वीरसेनाचार्य भी ऐसे समर्थ थे कि सर्वार्थगामिनी (सकल अर्थ में पारंगत) ऐसी उनकी नैसर्गिक प्रज्ञा को देखकर बुद्धिमान लोगों को सर्वज्ञ की सत्ता में सन्देह नहीं रहता, अर्थात् उनकी अगाध ज्ञानशक्ति को देखते ही बुद्धिमानों को सर्वज्ञ की प्रतीति हो जाती थी। ऐसी अगाध शक्तिवाले आचार्यदेव ने षट् खण्डागम की टीका रची है।

ये परमागम सिद्धान्त शास्त्र सैकड़ों वर्षों से ताड़पत्र पर लिखे हुए मूढ़ विद्री के शास्त्र भण्डारों में विराजमान हैं। थोड़े वर्षों पूर्व तो इनके दर्शन भी दुर्लभ थे... परन्तु पात्र जीवों के महा भाग्य से आज ये बाहर प्रसिद्ध हो गये हैं *(गुरुदेव के साथ दक्षिण देश के तीर्थों की यात्रा के समय हमने रत्न प्रतिमा सहित ताड़पत्र लिखित महा सिद्धान्त के भी दर्शन किये थे।)*

आचार्य भगवन्तों ने सर्वज्ञ भगवान की वाणी का सीधा नमूना इन शास्त्रों में भरा है तदुपरान्त दूसरे भी अनेक महासमर्थ आकाश के स्तम्भ जैसे कुन्दकुन्दाचार्यदेव इत्यादि सन्त जैन शासन में पके हैं और उन्होंने समयसारादि अलौकिक महाशास्त्रों की रचना की है... उनका एक-एक अक्षर आत्मा के अनुभव में कलम डुबो-डुबोकर लिखा गया है, उन सन्तों की वाणी का गहरा रहस्य गुरुगम के बिना साधारण जीव समझ सके ऐसा नहीं है।

महावीर भगवान की परम्परा से कितना ही ज्ञान मिला तथा स्वयं सीमन्धर भगवान के उपदेश का साक्षात् श्रवण किया उन दोनों को आत्मा के अनुभव के साथ मिलान करके आचार्य भगवान ने श्री समयसार में भर दिया है। इस समाधिशतक के बीज भी समयसार में ही भरे हैं। पूज्यपादस्वामी भी महासमर्थ सन्त थे उन्होंने इस समाधिशतक में संक्षिप्त में अध्यात्मभावना भर दी है, उसमें से पन्द्रह गाथायें पढ़ी जा चुकी हैं, अब सोलहवीं गाथा पढ़ी जा रही है। ●

अरे अरे पूर्व में मैंने निज आत्मा को नहीं जाना....

इन्द्रिय विषयों में ही आत्मबुद्धि करके मोहित रहा

यह आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है इस आत्मा को जानकर, जिसने आत्मा में ही आत्मबुद्धि की, वह बहिरात्मा हुआ और पूर्व में कभी नहीं हुआ ऐसा अपूर्व लाभ उसे हुआ। जहाँ 'अलब्ध लाभ' हुआ अर्थात् पूर्व में कभी जो नहीं पाया था, उसकी प्राप्ति हुई वहाँ धर्मी को ऐसा लगता है कि अहो! मुझे ऐसा ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा है, उसे मैंने पूर्व में कभी नहीं जाना... और बहिरात्मबुद्धि से मैं अभी तक भटकता रहा। अब मुझे मेरे अपूर्व आत्मस्वभाव का भान हुआ इस प्रकार अलब्ध आत्मा की प्राप्ति का सन्तोष हुआ कि अहो! मुझे अपूर्व लाभ मिला। पूर्व में मुझे कभी ऐसे आत्मा की प्राप्ति नहीं हुई कि पूर्व में मैं ऐसे आत्मा से च्युत होकर बाह्य विषयों में ही वर्ता परन्तु अब आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति से सन्तुष्ट हुआ - यह बात सोलहवीं गाथा में कहते हैं।

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः पतितो (यतितो) विषयेष्वहम्।
तान् प्रपद्याऽहमिति मां पुरा वेद न तत्त्वतः॥१६॥

इन्द्रिय-विषय विमुग्ध हो, उनको हितकर जान।
'मैं आत्मा हूँ' नहीं लखा, भूल गया निज-भान॥१६॥

अन्वयार्थ :- (**अहं**) मैं (**पुरा**) अनादि काल से (**मत्तः**) आत्मस्वरूप से (**च्युत्वा**) च्युत होकर (**इन्द्रिय द्वारैः**) इन्द्रियों द्वारा (**विषयेषु**) विषयों में (**पतितः**) पतित हुआ, (**ततः**) इससे (**तान्**) उन विषयों को (**प्रपद्य**) प्राप्त करके (**तत्त्वतः**) वास्तव में (**मां**) मुझे स्वयं को (**अहं इति न वेद**) मैं वही हूँ-आत्मा हूँ — ऐसा मैंने पहिचाना नहीं।

वर्तमान में जिसे आत्मा का भान हुआ है ऐसा अन्तरात्मा! अपनी पूर्व अवस्था को

विचार करता है कि अरे! मेरे वास्तविक स्वरूप को पूर्व में मैंने नहीं जाना और मेरे ऐसे आनन्दस्वरूप से च्युत होकर, इन्द्रियों द्वारा पतित होकर मैं इन्द्रिय विषयों में ही भटका, उसी में सुख मानकर मैं मेरे स्वरूप से भ्रष्ट हुआ।

आत्मा के स्वभाव का भान होने पर अन्दर कृतकृत्यता का वेदन होता है। अहो! मेरी प्रभुता मुझमें है। मेरी प्रभुता को मैं अभी तक भूला, इसलिए भटका; मेरे आनन्दस्वरूप से च्युत होकरविषयों की ओर के झंझावात से मैं दुःखी ही हुआ परन्तु अब मुझे मेरे आत्मा की अपूर्व प्राप्ति हुई ऐसे आत्मा की प्राप्ति अर्थात् श्रद्धा-ज्ञान-रमणता, वह समाधि का कारण है। भगवान की स्तुति में भगवान के समीप वरदान माँगते हैं कि "**समाहिवरमुत्तमं दिन्तु**" हे भगवान! मुझे समाधि का उत्तम वरदान प्रदान करो। वह समाधि कैसे हो? उसकी यह बात है।

वर्तमान अपूर्णदशा सहित अपनी पूर्व दशा को भी अन्तरात्मा विचारता है कि अरे..रे! इन्द्रियविषयों में मैंने अनन्त काल व्यतीत किया तथापि उनसे अंशमात्र तृप्ति नहीं हुई परन्तु अब विषयातीत अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभाव को जानने से अपूर्व तृप्ति हो गयी, वर्तमान में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया तब पूर्व के इन्द्रिय विषयों के प्रति उदासीनता हो गयी और ऐसा विषाद हुआ कि अरे रे! मेरे चैतन्य आनन्द को चूककर मैंने पूर्व में इन्द्रिय विषयों में व्यर्थ अनन्त काल गँवाया।

जिसने आत्मा के अतीन्द्रिय अमृत का स्वाद चखा है उसे विषय, विष जैसे लगते हैं.... पर विषयों की ओर की वृत्ति उसे दुःखरूप लगती है, आत्मा के निर्विकल्प आनन्द के वेदन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं वह अपना आनन्द स्वप्न में भी नहीं मानता। जिसे विषयों की मिठास लगती हो या राग की मिठास लगती हो उसे अतीन्द्रिय आत्मा के वीतरागी अमृत का स्वाद नहीं आया है।

– एक ओर अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का सागर आत्मा है;

– दूसरी ओर बाह्य में सुखरहित इन्द्रिय विषय हैं;

वहाँ जिसमें सुख मानता है उस ओर जीव झुकता है। जो जीव अन्तर में अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव की ओर झुकता है। वह तो अपने अतीन्द्रिय सुख को अनुभव करता है और

जो जीव बाह्य विषयों में सुख मानकर इन्द्रिय विषयों की ओर झुकता है वह घोर संसार के दु:ख को प्राप्त करता है, आमने-सामने दो मार्ग हैं — (१) अतीन्द्रिय भगवान को चूककर इन्द्रिय-विषयों की तरफ बहाव, वह संसारमार्ग है; और (२) इन्द्रिय-विषयों में सुख बुद्धि छोड़कर अन्तर के ज्ञानानन्दस्वभाव में झुकाव वह मोक्षमार्ग है - जहाँ रुचे, वहाँ जा।

अहो! आत्मा में आनन्द के निधान भरे हैं वह सन्त दिखलाते हैं परन्तु अज्ञान से अन्ध हुए जीव अपने आनन्दनिधान को देखते नहीं हैं।

आनंद ब्रह्मणो रुपं निजदेहे व्यवस्थितम्।
ध्यानहीना न पश्यंति जात्यंधा इव भास्करम्॥ *(परमानन्दस्तोत्र)*

अहो! निजदेह में रहा हुआ यह ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयं ही आनन्दस्वरूप है, आनन्द ही इसका रूप है परन्तु अन्तर में लक्ष्य करके आँख उघाड़े तो दिखे न? जैसे जन्मान्ध मनुष्य ज्वाजल्यमान सूर्य को भी नहीं देखते उसी प्रकार इन्द्रिय-विषयों में ही सुख मानकर वर्तनेवाले मोहान्ध अज्ञानी जीव अपने आनन्दस्वरूप आत्मा को नहीं देखते, वे विषयों में ऐसे मूर्च्छित हो गये हैं कि जरा सा परान्मुख होकर चैतन्य के सन्मुख नजर भी नहीं करते। ज्ञानी जानते हैं कि मैंने भी पूर्व में अज्ञानदशा में अनन्त काल गँवाया है परन्तु अब मुझे मेरे आत्मा का भान हुआ, अब मैंने मेरे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद चखा अब मुझे स्वप्न में भी बाह्य विषयों में सुखबुद्धि होनेवाली नहीं है। पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि

ज्ञानकला जिसके घट जागी ते जगमांही सहज वैरागी।
ज्ञानी मगन विषयसुखमांही यह विपरीत, संभवे नांही॥

आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव का निर्णय होने पर अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आवे और इन्द्रिय-विषय निरस लगे, इन्द्रिय के विषय अजीव है और मैं तो ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ ऐसा जब तक नहीं जानता तबतक जीव अज्ञानरूप से बाह्य विषयों को सुन्दर मान रहे हैं। शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श इत्यादि बाह्य विषय ज्ञान से भिन्न ज्ञेय हैं। मैं तो उपयोग स्वरूप हूँ ऐसा भान होने पर बाह्य विषयों की वृत्ति काले विषधर की तरह दु:खदायक लगती है; चैतन्य के रस के समीप विषयों का रस छूट गया है। पहले ऐसे आत्मा का निर्णय

करना चाहिए, आत्मा का निर्णय करने से अतीन्द्रिय स्वाद आवे, पश्चात् जो पुण्य-पाप की वृत्ति आवे और बाह्य विषयों में झुकाव जाये, उसमें धर्मी को सुखबुद्धि नहीं होती; विषयों का रस उड़ जाता है, उस जोर का जोर टूट जाता है। विषयों की ओर के राग-द्वेष का एकान्त स्वाद अज्ञानदशा में लेता था, उसके बदले अब ज्ञानदशा में रागरहित आनन्द का स्वाद आया और विषयों का स्वाद जहर जैसा लगा। इसलिए उनका रस टूट गया। आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के समक्ष इन्द्र और चक्रवर्तियों के वैभव को ज्ञानी तुच्छ समझते हैं।

भगवान! एक बार निर्णय तो कर कि मैं आनन्दकन्द आत्मा हूँ और विषय मुझसे पर हैं ऐसा उपयोग में निर्णय करने से चैतन्य के अतीन्द्रिय अमृत का स्वाद आता है। उस स्वाद का आनन्द आने पर इन्द्र के वैभव भी तुच्छ भासित होते हैं; इन्द्रिय के विषय रूखे लगते हैं। इन्द्रिय विषयों की ओर झुकाव जाये वह दु:ख है, चैतन्य की सुन्दरता जानी वहाँ दूसरों की सुन्दरता नहीं लगती, चैतन्य के आनन्द में जो झुका वह अब बाह्य विषयों के प्रति अरुचिकर रहेगा जैसे विवाह के समय वर राजा के गीत गाये जाते हैं कि 'नहीं झुकेगा रे नहीं झुकेगा बड़े का लड़का नहीं झुकेगा' उसी प्रकार यह आत्मा जगा और 'वर' अर्थात् उत्कृष्ट प्रधान ऐसे आत्मा के स्वभाव में आरूढ़ हुआ वह वर-राजा-चैतन्य राजा अब 'नहीं झुकेगा रे नहीं झुकेगा, बाह्य विषयों में नहीं झुकेगा' अतीन्द्रिय आनन्द में जो झुका वह इन्द्रिय विषयों में अरुचिकर रहेगा - उनमें स्वप्न में भी सुख नहीं मानेगा।

उपयोग को अन्तर में झुकाकर जहाँ चैतन्य के शान्तरस को निर्णय में लिया वहाँ विकार या विषय अपने शान्तरस से भिन्न अग्नि जैसे लगते हैं। आत्मा के शान्तरस के स्वाद के अतिरिक्त समकिती को दूसरा स्वाद नहीं रुचता है। जैसे शीत पानी में रहनेवाली मछली गर्म रेत में आवे तो दु:खी होती है तो अग्नि में तो वह कैसे रह सकती है? पानी में ही जिसे पोसाता है, उसे पानी के बिना बाहर में कैसे रुचेगा? उसी प्रकार आत्मा के चैतन्य सरोवर के शान्त जल में केलि करनेवाले समकिती हंस को चैतन्य के शान्तरस के अतिरिक्त बाहर में पुण्य-पाप की वृत्ति की अथवा इन्द्रिय-विषयों की रुचि उड़ गयी है; चैतन्य के आनन्द का ऐसा निर्णय (वेदनसहित) हो गया है कि दूसरे किसी वेदन में स्वप्न में भी सुख नहीं लगता - ऐसी समकिती की दशा है।

इस सम्बन्ध में श्लोक कहा है कि—

जायन्ते विरसा रसा विघटते गोष्ठी कथा कौतुकं
शीर्यन्ते विषयास्तथा विरमति प्रीतिः शरीरेऽपि च।
जोषं वागपि धारयंत्यविरतानंदात्मनः स्वात्मन-
श्चिंतायामपियातुमिच्छति मनो दोषैः समं पंचताम्॥

अहो! इस चैतन्यस्वरूप आत्मा के चिन्तनमात्र से भी रस, विरस हो जाते हैं; गोष्ठी–कथा का कौतुक उड़ जाता है, विषयों का विरेचन हो जाता है और शरीर से भी प्रीति विरम जाती है और मन भी समस्त दोषसहित पञ्चत्व को पाता है अर्थात् चैतन्य के चिन्तन से मन सम्बन्धी समस्त दोष नाश हो जाते हैं और आत्मा अविरतरूप से आनन्द को धारण करता है – ऐसी चैतन्य के चिन्तन की महिमा है।

ज्ञानी को भी शुभाशुभराग आता है परन्तु अन्तर में चैतन्य के रस के समक्ष उसका रस उड़ गया है। ज्ञानी को राग हो वहाँ अज्ञानी को ऐसा लगता है कि इसे राग की रुचि होगी! परन्तु उस समय अन्दर राग से अत्यन्त पार ऐसे ज्ञानरस का निर्णय ज्ञानी को वर्तता है उस निर्णय का अज्ञानी को पता नहीं। ज्ञानी, राग में एकतारूप परिणमित ही नहीं है। शुभराग के समय सर्वज्ञदेव की भक्ति इत्यादि का भाव आवे वहाँ वीतरागता के प्रति बहुमान का भाव उछला है और राग की रुचि नहीं है परन्तु उस अन्तर के निर्णय को अज्ञानी पहचानता नहीं और 'आरम्भ परिग्रह बढ़ गया है' – ऐसा अज्ञानी बाह्य दृष्टि से देखता है परन्तु चैतन्य के अकषायस्वभाव को चूककर रागादि में धर्म मानना ही अनन्त आरम्भ परिग्रह है; ज्ञानी की दृष्टि में कषाय के एक अंश की भी पकड़ नहीं है और परिग्रह में कहीं एकत्वबुद्धि नहीं है; बहुत ही अल्प राग–द्वेष रहे हैं इसलिए उसे आरम्भ–परिग्रह बहुत अल्प है। चक्रवर्ती समकिती को छह खण्ड का राज–वैभव होने पर भी बहुत अल्प आरम्भ परिग्रह वर्तता है और मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिङ्गी होकर पंच महाव्रत पालन करे और बाह्य में हिंसादि न करता हो तथापि अन्तर में राग से धर्म मानता होने से उसे अनन्त कषाय का आरम्भ परिग्रह है। कषाय की रुचि द्वारा वह अकषायी चिदानन्दस्वभाव को घात डालता है, यही जीव हिंसा है। जिसे राग के रस की मिठास है, वह आरम्भ परिग्रह में ही खड़ा है। ज्ञानी को चैतन्य के आनन्दरस के अतिरिक्त दूसरे किन्हीं विषयों में रस नहीं है।

इसलिए उसे विषयों का परिग्रह या आरम्भ छूट गया है। सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान में अपने अकषायी चिदानन्दस्वभाव को वह जीवित रखता है।

समस्त इन्द्रिय विषयों से पार होकर आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द में लीन हुए ऐसे अशरीरी सिद्ध भगवन्त ऊपर से पुकार करते हैं कि अरे विषयों के भिखारी ! इन विषयों को छोड़ ! तेरा सुख आत्मा के अतीन्द्रिय स्वभाव में है, उसकी लगन लगा।

अहो ! सिद्ध भगवन्तों को प्रतीति में ले तो भी जीव को इन्द्रिय विषयों में सुखबुद्धि उड़ जाये और आत्मा के अतीन्द्रिय सुखस्वभाव की प्रतीति हो जाये। राग में सुख, इन्द्रिय विषयों में सुख ऐसा अज्ञानी विषयों का विकारी हो रहा है।

सिद्ध भगवान रागरहित और इन्द्रिय विषयों से रहित हो गये हैं और अकेले आत्मस्वभाव से ही परमसुखी हैं। वे जगत् के जीवों को ऐसा दर्शा रहे हैं कि अरे जीवों ! विषयों में-राग में तुम्हारा सुख नहीं है। आत्मस्वभाव में ही सुख है, उसे अन्तर में देखो और इन्द्रिय-विषयों का कौतुहल छोड़ो चैतन्य के आनन्द का ही उल्लास, उसका ही रस, उसका ही कौतुहल, उसमें ही उत्साह, उसकी ही गोष्ठी करो।

समकिती को जहाँ आत्मा के आनन्द का भान होता है, वहाँ बाह्य विषय नीरस लगते हैं और पूर्व की अज्ञानदशा पर खेद होता है कि अरेरे ! मैं अभी तक बाह्य विषयों में ही सुख मानकर मेरे इस अतीन्द्रिय स्वभाव को चूक गया। अभी तक पूर्व में कभी मैंने मेरा ऐसा आनन्द प्राप्त नहीं किया। अब आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त होने पर, उस अपूर्व लाभ से ज्ञानी परम सन्तुष्ट होकर कृतकृत्यता अनुभव करता है। उसे अब इन्द्रिय विषय नीरस लगते हैं, विषयों की कथा का कौतुक उसे शमन हो जाता है, विषयों की गोष्ठी-प्रीति छूट जाती है, शरीर के प्रति प्रीति भी छूट जाती है। वाणी मानो मौन हो जाती है, आनन्दस्वरूप अपने आत्मा के चिन्तन से समस्त दोषरहित मन भी पञ्चत्व को प्राप्त होता है अर्थात् नाश को प्राप्त होता है और आत्मा आनन्द में एकाग्र होता जाता है - अन्तरात्मा की ऐसी दशा होती है।

यहाँ जिज्ञासु शिष्य पूछता है कि हे प्रभु ! ऐसा अन्तरात्मा होने के लिये, आत्मा को जानने का उपाय क्या है ? उसका उत्तर अब कहेंगे —

अन्तर में परमात्मा का प्रकाश कैसे हो ?

अब अन्तरात्मा होने के लिये आत्मा को जानने का उपाय कहते हैं —

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः।
एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः॥१७॥

वाहिर वचन विलास तज, तज अन्तर मन भोग।
है परमात्म प्रकाश का, थोड़े में यह योग॥१७।

अन्वयार्थ :- (एवं) आगामी श्लोक में कही जानेवाली विधि के अनुसार **(बहिर्वाचं)** बाह्य अर्थवाचक वचनप्रवृत्ति को **(त्यक्त्वा)** त्याग करके **(अन्तः)** अन्तरङ्ग वचनप्रवृत्ति को भी **(अशेषतः)** सम्पूर्णपने **(त्यजेत्)** तजना। **(एषः)** यह **(योगः)** योग, अर्थात् समाधि **(समासेन)** संक्षिप्त में **(परमात्मनः)** परमात्मस्वरूप का **(प्रदीपः)** प्रकाशक दीपक है।

मैं देहादि से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ, बाहर में इन्द्रियों द्वारा जो दिखता है, वह सब ही अचेतन है, वह मैं नहीं, वे सब मुझसे भिन्न हैं – ऐसे भानपूर्वक चैतन्यस्वरूप के चिन्तन में एकाग्रता द्वारा बाह्य वचन प्रवृत्ति छोड़ना तथा अन्तरङ्ग विकल्प भी छोड़ना, इसका नाम योग है और संक्षेप से यह योग, वह परमात्मा का प्रकाशक दीपक है।

देखो, अकेली वाणी को रोककर मौन होकर बैठ जाने की यह बात नहीं है; वाणी तो जड़ है, उसे रोकने का जिसका अभिप्राय है वह तो वाणी का कर्ता होता है, उसका लक्ष्य जड़ के प्रति है परन्तु आत्मा पर नहीं है। ज्ञानी तो जानता है कि वाणी जड़ है वह वाणी मुझसे भिन्न है, उस वाणी से मेरा स्वरूप प्रकाशित नहीं होता और वाणी की ओर के

विकल्प द्वारा भी मेरे स्वरूप का प्रकाश नहीं होता। वाणी और विकल्प दोनों से पार होकर अन्तर्मुख चैतन्य के चिन्तन में एकाग्रता द्वारा ही मेरे स्वरूप का प्रकाशन होता है। वाणी बोलने की क्रिया होती हो उस समय भी ज्ञानी को उससे भिन्न ऐसे चैतन्य का भान है इसलिए कहा है कि ज्ञानी बोले तो भी मौन है और अज्ञानी मौन, तो भी बोलता है। क्योंकि 'मैं नहीं बोला' – ऐसे अभिप्राय से वह भाषा का स्वामी होता है।

मैं तो वचन और विकल्प दोनों से भिन्न ज्ञान हूँ, मेरे ज्ञान द्वारा ही मैं मुझे जानता हूँ ऐसा ज्ञानी स्वयं अपने आत्मा को स्वसंवेदन से प्रकाशित करता है – यही आत्मा को जानने की विधि है; इसका नाम भी योग है। इसके अतिरिक्त मन–वचन और काया के जड़ योग से आत्मा को जानना चाहे तो वह मूढ़ है। उसने चैतन्य के साथ जुड़ान नहीं किया परन्तु जड़ के साथ जुड़ान किया है, वह ज्ञानस्वरूप में सावधान नहीं है इसलिए उसे समाधि नहीं है। ज्ञानस्वरूप में सावधानी ही समाधि है और उसकी असावधानी उपयोग को आत्मा में जोड़नेरूप योग द्वारा ही होती है।

भाई! एक बार सत्य का निर्णय करके हाँ तो पाड़! मेरे ज्ञानस्वरूप के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं मेरा सुख या शान्ति नहीं है ऐसा एक बार निर्णय कर तो अन्तर्मुख होने का अवसर आवे परन्तु जिसका निर्णय ही खोटा हो, बाहर में और राग में ही शान्ति माने, उसे अन्तर्मुख एकाग्र होने का अवसर कहाँ से आयेगा? बहुत से कहते हैं कि मरण के समय हम समाधि रखेंगे, परन्तु जिसने जीवन में देह से भिन्न आत्मा की दरकार नहीं की, देहादिक के कार्यों को ही अपना कार्य माना है, वह देह छूटने के समय किसके जोर से समाधि साधेगा? जिसने देह से भिन्न आत्मा को जानकर उसकी बारम्बार भावना का अभ्यास किया है उसे ही देह छूटने के समय चैतन्य के जोर से समाधि रह सकेगी। अपने आत्मा के अतिरिक्त बाहर में दूसरा कोई शरण आत्मा को है ही नहीं। बाहर में दूसरे को शरण मानकर समाधान करना चाहे वह तो व्यर्थ है। संयोग छूट जाने पर उसका समाधान टिक नहीं सकेगा और आत्मा के आश्रय से जिसने समाधान किया उसे कैसे भी प्रतिकूल संयोग में भी वह टिका रहेगा।

स्वर्ग में असंख्य समकिती देव हैं, उन्हें जब आयुष्य पूर्ण होने का समय आता है

तब वहाँ स्वर्ग में रत्नों के शाश्वत् जिनबिम्ब हैं, उनके चरण में जाकर भक्ति से कहता है कि अहो नाथ! आपकी ही शरण है, अपके द्वारा बताये गये आत्मस्वभाव की ही शरण है, जैनधर्म की ही शरण है। प्रभु! आपके द्वारा बताये गये धर्म की आराधना अधूरी रह गयी इसलिए यहाँ अवतार हुआ था, अब मनुष्य अवतार पाकर अपनी आराधना पूर्ण करूँगा और मुक्ति प्राप्त करूँगा – ऐसी भावना भाते-भाते जिनेन्द्रदेव के चरण के समीप ही देह छूट जाती है और परमाणु पृथक् होकर उड़ जाते हैं। देखो! अन्दर चैतन्य की शरण भासित हुई है इसलिए उसके जोर से ऐसी भावना से देह छोड़ता है। जबकि मूढ़ अज्ञानी जीव तो असमाधिरूप से अस्वरूपार्थ कर-करके मरते हैं।

सर्वज्ञ भगवान का उपदेश बाह्य विषयों से छुड़ाकर अन्तर में चैतन्य की शरण कराता है, वही जीव का हित है क्योंकि चैतन्य के अनुभव से ही भव का नाश होकर मोक्षसुख प्रगट होता है।

वचनामृत वीतराग के परम शान्तरस मूल,
औषध जो भव रोग के कायर को प्रतिकूल॥

जिसने देह को ही आत्मा माना है, विषयों में ही जिसने सुख माना है – ऐसे मूढ़ जीवों को वीतराग की वाणी बहुत प्रतिकूल पड़ती है, क्योंकि वीतराग की वाणी तो विषयों का विरेचन करानेवाली है, मूढ़ कायर जीव विषयों की दीनता छोड़कर चैतन्य को देख नहीं सकते। वे तो चैतन्य के पुरुषार्थ से रहित हैं, उनमें भवरहित ऐसे वीतराग की वाणी का निर्णय करने की ताकत नहीं है।

अहो जीवों! तुम्हारा सुख तुम्हारे में है; बाह्य विषयों में कहीं सुख नहीं है। आत्मा ही सुखस्वभावी है इसलिए आत्मा में अन्तर्मुख होने से ही सुख है – ऐसी वाणी के रणकार जहाँ कान में पड़े वहाँ तो आत्मार्थी जीव का आत्मा झनझना उठता है कि वाह! यह भवरहित वीतरागी पुरुष की वाणी! आत्मा के परमशान्तरस को बतलानेवाले यह वाणी अपूर्व है! वीतरागी सन्तों की वाणी परम अमृत है। यह भवरोग का नाश करनेवाली अमोघ औषधी है – ऐसा उसका आत्मा उल्लसित हो जाता है और पुरुषार्थ की दिशा स्वसन्मुख ढल जाती है, विषयों में से सुखबुद्धि उड़ जाती है उसने ही वस्तुतः भवरहित वीतराग की

वाणी का निर्णय किया है। बाह्य विषयों की या राग की प्रीतिवाला जीव, भवरहित पुरुषों की वीतरागी वाणी का निर्णय नहीं कर सकता।

स्वसन्मुख होने का बतलानेवाली वीतरागी वाणी का निर्णय करनेवाला ज्ञानी, वचन और विकल्प की प्रवृत्ति का अवलम्बन छोड़कर ज्ञान को अन्तर्मुख करके अपने आत्मा को समस्त परपदार्थों से भिन्न देखता है – जानता है–अनुभव करता है, यह अपने परमात्मस्वरूप को देखने के लिये योग है।●

धर्मी को मुनिदशा की कैसी उत्कृष्ट भावना

चक्रवर्ती के राजकुमार भी आत्मभानपूर्वक अन्तर में ही जाना चाहते हैं। जब कोई राजकुमार वन में जाने लगता है, तब अपनी माता के पास आज्ञा माँगता है –

'हे जननी! मुझे आज्ञा दो, मैं अपने आनन्द के नाथ के निकट जाना चाहता हूँ। हे माता! अब मुझे बाहर एक क्षण भी अच्छा नहीं लगता। इन रत्न-महलों में तथा रानियों में कहीं मेरा आनन्द नहीं है। आत्मा आनन्द का नाथ है, वह मैंने देख लिया है। हे माता! एक बार तुझे रोना हो तो रो ले, लेकिन मैं शपथ लेता हूँ कि अब दूसरी माता नहीं करूँगा। मैं तो अन्तर में स्थिर होकर भव का अभाव करूँगा। मैं तो अतीन्द्रिय आनन्द रस का रसिक हूँ। हे माता! मैं वह रस लेने के लिए वन में अकेला जा रहा हूँ।'

अहाहा! वह पुरुषार्थ कितना होगा? पञ्चम काल में भी सम्यग्दृष्टि को तो ऐसी भावना होती है! 'धन्य वह दिवस कि जब बाहर आना ही न पड़े।' - ऐसे भाववाले महापुरुषार्थी महाज्ञानी आनन्द के अनुभव में एक वीतरागभाव में ही निमग्न-तल्लीन हो गये हैं। 'वह दशा हमें हो, वह अवसर हमें कब आयेगा' - ऐसी भावना धर्मी को होती है। अहाहा! आनन्द में समाये, सो समाये। 'श्रीमद् राजचन्द्र' में आता है कि 'जो समझे वे समा गये, अन्तर में ही स्थिर हो गये।' भाई! मार्ग तो यह है!

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, २/२९-३०

ज्ञानी की अन्तर्मुख वृत्ति

देहादिक से भिन्न चिदानन्दस्वरूप आत्मा के भानपूर्वक, बाह्य पदार्थों के ओर की प्रवृत्ति छोड़कर अन्तर में स्थिरता के लिये ज्ञानी ऐसा विचार करता है कि

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ॥१८॥

रूप मुझे जो दीखता, वह तो जड़ अनजान।
जो जाने नहीं दीखता, बोलूँ किससे बान॥१८॥

अन्वयार्थ :- (**मया**) मेरे द्वारा (**यत्रूपं**) जो रूप-शरीरादि रूपीपदार्थ (**दृश्यते**) दिखायी देते हैं, (**तत्**) वे अचेतन पदार्थ (**सर्वथा**) सर्वथा (**न जानाति**) किसी को नहीं जानते, और (**जानत् रूपं न दृश्यते**) जो जाननेवाला चेतन आत्मा है, वह अरूपी होने से मुझे दिखायी नहीं देता (**ततः अहं केन सह ब्रवीमि**) तो मैं किसके साथ बातचीत करूँ।

इन्द्रिय ज्ञान का व्यापार बाह्य पदार्थों में ही है; इन्द्रियज्ञान द्वारा बाह्य में जो कुछ दिखता है, वह तो अचेतन है, शरीर का रूप इत्यादि दिखता है, वह तो अचेतन है, वह किंचित् भी जानता नहीं। मैं उसके प्रति राग करूँ या द्वेष करूँ तो भी उसे कुछ पता नहीं कि यह मुझ पर राग या द्वेष करता है; इसलिए राग-द्वेष भी निरर्थक है। मेरे अभिप्राय को वह जानता ही नहीं तो मैं उसके साथ क्या बोलूँ? और जो जाननेवाले हैं ऐसे अन्य जीवों का रूप तो मुझे इन्द्रियज्ञान द्वारा दिखलायी देता नहीं इसलिए बाहर में मैं किसके साथ बोलूँ? आत्मा तो इन्द्रिय का विषय बनता नहीं और जड़ अचेतन शरीर तो कुछ जानता नहीं। इसलिए उनके साथ की बकवास व्यर्थ है इसलिए बाह्य प्रवृत्ति ही व्यर्थ है। अतः इन्द्रियों की ओर का व्यापार छोड़कर मैं मेरे ज्ञान को अन्तर्मुख करता हूँ – ऐसी भावना

ज्ञानी भाता है। इस प्रकार बाह्य विषयों की ओर का झुकाव छोड़कर ज्ञान को आत्मा में एकाग्र करना, उसमें ही शान्ति और समाधि है। ज्ञान को बाह्य विषयों में अटकाना, वह तो अशान्ति और व्यग्रता है।

एक बार दृढ़ निर्णय से अपने वेदन में ही ऐसा भासित होना चाहिए कि अरे! बाह्य झुकाव में कहीं कुछ भी विषय में रंचमात्र सुख मुझे वेदन में नहीं आता, बाह्य झुकाव में तो अकेली आकुलता है और अन्तर सन्मुख के झुकाव में ही शान्ति और अनाकुलता है; इसलिए मुझे मेरे स्वभाव में ही अन्तर्मुख होने योग्य है – ऐसे निर्णय के जोर से अन्तर्मुख होने पर विकल्प टूटकर अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है।

समाधि कैसे हो अर्थात् आत्मा को शान्ति कैसे हो? उसकी यह बात है। बहिर्मुखपना छोड़कर एकदम अन्तर्मुख होने की यह बात है। इन्द्रियज्ञान का व्यापार बाह्य में है और उससे तो जड़ शरीर दिखता है, उस जड़ में तो कुछ समझने की ताकत नहीं है। अत: उसके साथ मैं क्या बात करूँ और सामनेवाले का अतीन्द्रिय आत्मा तो कहीं इन्द्रियज्ञान से दिखता नहीं इसलिए पर को समझाने की अथवा पर के साथ बात करने की बाह्य वृत्ति छोड़कर अपने आत्मा को लक्ष्य में लेकर स्थिर होना है – ऐसी ज्ञानी भावना भाते हैं।

अहो! यह मेरा आत्मा तो ज्ञान ही है; उसे ज्ञानस्वभाव से बाहर लक्ष्य जाकर जो कुछ शुभ-अशुभ विकल्प उत्पन्न होते हैं, वे विकल्प निरर्थक हैं। आत्मा तो इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं, इन्द्रिय से तो शरीर दिखता है। वह शरीर तो अचेतन / जड़ है, उसमें तो ऐसी ताकत नहीं है कि मेरे भाव को जान सके। मेरे भाव को जाननेवाला जो आत्मा है, वह तो इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य नहीं होता। इसलिए इन्द्रियों की ओर का झुकाव छोड़कर मैं तो स्वसन्मुख एकाग्र रहता हूँ।

इस मेरे आत्मा के अतिरिक्त दूसरा जो कुछ है, वह सब मुझसे बाह्य है, जब इन्द्रियों द्वारा बाह्य व्यापार होता है, तब जीव तो उससे दिखाई नहीं देता और जड़ दिखाई देता है, वह तो कोई समझता नहीं। तो मैं किसके साथ ज्ञान को जोड़ूँ? किसके साथ बोलूँ? किसे समझाऊँ? देखो, यह भेदज्ञान! ऐसा ज्ञान करे वहाँ परसन्मुख का जोर टूट जाता है। ज्ञान

को अन्तर्मुख करके स्व संवेदन से स्वयं अपने को जानना ऐसा इसका अभिप्राय है। पश्चात् बाहर में वृत्ति जाये और विकल्प उत्पन्न हो परन्तु उसके अभिप्राय का जोर तो स्वसंवेदन की ओर ही है।

मेरे विकल्प से कोई पर जीव समझते नहीं तथा वह विकल्प मुझे मेरे स्वसंवेदन में भी सहायक नहीं–ऐसा जानकर, धर्मी अपने स्वभाव सन्मुख ढलता है और उसमें एकाग्र होता है। इसका नाम समाधि है। जिसे ऐसा भेदज्ञान नहीं और 'मैं दूसरे को समझा दूँ' ऐसे अभिप्राय का जोर है, वह कभी बहिर्मुखता छोड़कर अन्तर्मुख नहीं होता और उसे राग-द्वेषरहित समाधि नहीं होती।

अरे! मेरे चैतन्यस्वरूप से बाहर जहाँ देखता हूँ वहाँ बाहर में तो जड़ अचेतन शरीरादि दिखते हैं, वह तो मुर्दा है, उस मुर्दे के साथ मैं क्या बोलूँ? और चैतन्यस्वरूप जीव अमूर्त है, वह तो बाहर में दिखता नहीं। जो दिखता नहीं उसके साथ भी मैं क्या बोलूँ? जहाँ चैतन्य को देखने जाता हूँ, वहाँ तो अन्तर्दृष्टि होती है और बाह्य लक्ष्य तथा विकल्प छूट जाता है, वहाँ किसके साथ बोलूँ अर्थात् बाहर में लक्ष्य करने योग्य ही नहीं है।

मैं तो ज्ञानस्वरूप ही हूँ और मेरे ज्ञानस्वरूप में ही मैं रहूँगा। विकल्प उठे और परलक्ष्य जाये या पर को समझाने की वृत्ति उत्पन्न हो वह मेरा स्वरूप नहीं है, उससे मुझे लाभ नहीं है तथा दूसरे जीवों को भी वाणी से या वाणी की ओर के लक्ष्य से लाभ नहीं है, वे जीव भी परलक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायकस्वरूप में ढलेंगे तभी उनको लाभ होगा – ऐसा जानकर ज्ञानी अन्तर में स्थिरता करता है।

ज्ञायक तत्त्व में से कहीं वाणी की ध्वनि नहीं उठती, वह वाणी की ध्वनि तो जड़ परमाणुओं में उठती है, वाणी की ओर का विकल्प उत्पन्न होता है, वह भी ज्ञायकतत्त्व में से नहीं उठता। ज्ञान परलक्ष्य में अटकने से विकल्प उठा है, वह ज्ञान का स्वरूप नहीं है, ऐसे ज्ञानस्वरूप का निर्णय करे तो अन्दर अपूर्व शान्ति और समाधि होती है। ●

समाधि के लिये निर्विकल्प तत्त्व की भावना

बाह्य विकल्प छोड़कर, अन्तर का विकल्प भी छोड़ने के लिये धर्मी विचार करता है कि—

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान् प्रतिपादये।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः॥१९॥

अन्य मुझे उपदेश दे, मैं उपदेशूँ अन्य।
यह मम चेष्टा मत्तसम, मैं अविकल्प अनन्य॥१९॥

अन्वयार्थ :- (**परैः अहं प्रतिपाद्यः**) अन्य के द्वारा मैं कुछ सीखनेयोग्य हूँ, अर्थात् अन्य उपाध्यायादि मुझे कुछ सिखाते हैं अथवा (**अहं परान् प्रतिपाद्ये**) मैं किसी अन्य को कुछ सिखाता हूँ या सिखा सकता हूँ (यदि मैं ऐसा विकल्प करता हूँ) (**तत् मे उन्मत्तचेष्टितं**) तो वह मेरी पागलपन की चेष्टा है। (**यत् अहं निर्विकल्पकः**) क्योंकि मैं तो निर्विकल्पक हूँ, अर्थात् वचन-विकल्पों से अग्राह्य हूँ।

मैं उपाध्याय आदि पर द्वारा प्रतिपाद्य होऊँ अर्थात् दूसरों के द्वारा मैं समझूँ या मैं दूसरों को प्रतिपादन करके समझाऊँ ऐसा जो विकल्प है, वह मेरी उन्मत्त चेष्टा है क्योंकि वास्तव मैं निर्विकल्प हूँ; विकल्प द्वारा या वचन द्वारा ग्राह्य हो ऐसा मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार ज्ञानी अन्तरंग विकल्पों को भी छोड़कर निर्विकल्प स्वसंवेदन में स्थिरता करना चाहता है।

चैतन्यस्वरूप आत्मा स्वयं, स्वयं से ही स्वसंवेद्य है; वह अपनी जागृति के बिना अन्य किसी से समझे ऐसा नहीं है। इसलिए ज्ञातास्वभाव से बाहर वृत्ति जाये और दूसरे से समझने की या दूसरे को समझाने की वृत्ति धर्मी को उत्पन्न हो वह भी मोह की चेष्टा होने

से उसे यहाँ उन्मत्त चेष्टा कहा है। उन्मत्त चेष्टा का अर्थ यह नहीं समझना कि जो उपदेश करे, वह अधिक अज्ञानी है-उपदेश की वृत्ति तो ज्ञानी को आती है परन्तु उपदेश में भेद से प्रतिपादन होता है, उस भेद द्वारा अभेद आत्मा का ग्रहण नहीं होता। इसलिए भेद की वृत्ति उत्पन्न हो वह उन्मत्त चेष्टा है अर्थात् मोह का उन्माद है, वह मेरे ज्ञान का स्वरूप नहीं है। मेरे आत्मा का स्वरूप तो निर्विकल्प-अतीन्द्रिय ज्ञान से ग्राह्य है, विकल्प से ग्राह्य नहीं-ऐसा जो नहीं जानता और दूसरे के शब्दों से मैं समझ जाऊँ या मैं विकल्प द्वारा दूसरों को समझा दूँ ऐसा जो मानता है, उसे तो मिथ्यात्व का महा उन्माद है।

धर्मी जानता है कि वाणी से या विकल्प से आत्मा ग्राह्य नहीं होता, वाणी में और विकल्प में तो भेद से प्रतिपादन आयेगा 'आत्मा-दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप है' ऐसा प्रतिपादन करे तो उसमें भी भेद है, उस वाणी के या भेद के लक्ष्य से आत्मा के निर्विकल्प स्वरूप का ग्रहण नहीं होता, इसलिए भेद का विकल्प उत्पन्न हो वह भी मोह की चेष्टा है, मेरे ज्ञायक तत्त्व में उस विकल्प का प्रवेश नहीं है।

देखो, यह अन्तर्मुखदृष्टि का अभिप्राय! मैं तो ज्ञायक ही हूँ, विकल्प या वाणी मेरा स्वरूप नहीं है, उपदेश की वृत्ति आवे और वाणी का प्रपात खिरता हो, उस समय भी ज्ञानी को ऐसे ज्ञायक तत्त्व की दृष्टि नहीं छूटती और जो विकल्प उत्पन्न हुआ है, उसे भी ज्ञान तत्त्व से भिन्न, मोह का कार्य जानता है; वह विकल्प अस्थिरता की चेष्टा है ऐसा जानता है। इसलिए उसका जोर विकल्प पर नहीं जाता परन्तु ज्ञायकस्वभाव की ओर ही उसका जोर रहता है। इसलिए उसे विकल्प टूटकर स्वरूप में स्थिरतारूप समाधि होती है।

अहो! आचार्यदेव कहते हैं कि परम उपशान्त चैतन्य तत्त्व के आनन्द में से बाहर निकलकर अस्थिरता में जो विकल्प उठते हैं, वह मेरी उन्मत्त चेष्टा है। देखो तो सही यह छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले और पंच परमेष्ठी पद में शामिल ऐसे श्री पूज्यपादस्वामी कहते हैं कि अरे! हमारे अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन में से बाहर निकलकर पर को समझाने का विकल्प उत्पन्न हो, वह भी निरर्थक-उन्मत्तवत् चेष्टा है।

जिस शुभराग के विकल्प को आचार्यदेव उन्मत्त चेष्टा कहते हैं, उस शुभराग से अज्ञानी मूढ़ जीव, संवर-निर्जरा होना मानते हैं। अरे! वीतरागी सन्तों ने जिसे उन्मत्त चेष्टा

कहा उसे मूढ़ जीव, धर्म मानते हैं परन्तु उनकी यह मान्यता उन्मत्त जैसी है। राग और धर्म के बीच का विवेक नहीं जानते होने से वे उन्मत्त जैसे हैं।

भगवान उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र में कहते हैं कि **सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्** अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव, सत् और असत् को विशेषरूप से स्वयं की स्वेच्छा से उन्मत्त की तरह ग्रहण करता है, उसे सत् असत् का विवेक नहीं इसलिए उसका ज्ञान मिथ्या है। जो जीव, शुभराग से धर्म मानता है, वह भी राग को और धर्म को एकरूप मानता है, इसलिए सत् असत् को एकरूप मानता है। अत: वह मिथ्यादृष्टि उन्मत्त है। यहाँ तो ऐसा मिथ्यात्व मिटने पर भी अस्थिरता के राग की जो चेष्टा है वह भी निरर्थक होने से उसे उन्मत्त चेष्टा जानकर सन्त उसे छोड़कर स्वरूप में स्थिर होने की भावना भाते हैं– उसकी बात है।

देखो तो सही यह वीतरागमार्ग! एक शुभविकल्प भी वीतरागमार्ग में नहीं पोसाता। वस्तु का स्वरूप विकल्पातीत है, उसके अनुभवरूप वीतरागमार्ग है और उसमें ही आनन्द तथा समाधि है।●

मुनि बनने की भावना

सम्यग्दृष्टि की भावना तो मुनि बनने की ही होती है। वह विचारता है कि अहो! मैं कब चैतन्य में लीन होकर सर्वसङ्ग का परित्यागी होकर मुनिमार्ग में विचरण करूँ। मुनि बनकर चैतन्य के जिस मार्ग पर तीर्थङ्कर विचरे, मैं भी उसी मार्ग पर विचरण करूँ - ऐसा धन्य स्वकाल कब आयेगा? धर्मीजीव आत्मा के भानपूर्वक इस प्रकार मुनि बनने की भावना भाते हैं। ऐसी भावना होते हुए भी निज पुरुषार्थ की मन्दता और निमित्तरूप में चारित्रमोह की तीव्रता से कुटुम्बीजनों के आग्रहवश स्वयं ऐसा मुनिपद नहीं ले सके तो उस धर्मात्मा को गृहस्थपने में रहकर देवपूजा आदि षटकर्मों का पालन अवश्य करना चाहिए।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, श्रावकधर्मप्रकाश

स्वसंवेद्य आत्मा की भावना

आत्मा, स्वभाव को छोड़ता नहीं; परभाव को ग्रहता नहीं

समकिती अन्तरात्मा स्वसंवेदन से अपने निर्विकल्प आत्मस्वरूप को कैसा जानता है, वह कहते हैं –

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नैव मुंचति।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२०॥

बाह्य पदार्थ नहीं ग्रहे, नहीं छोड़े निजभाव।
सबको जानेमात्र वह, स्वानुभूति से ध्याव॥२०॥

अन्वयार्थ :- **(यत्)** जो, अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूप **(अग्राह्यं)** अग्राह्य को, अर्थात् क्रोधादिस्वरूप को **(न गृह्णाति)** ग्रहण नहीं करता, और **(गृहितं अपि)** ग्रहण किए हुए को, अर्थात् अनन्त ज्ञानादि गुणों को **(न ऐव मुञ्चति)** भी नहीं छोड़ता तथा **(सर्व)** सम्पूर्ण पदार्थों को **(सर्वथा)** सर्व प्रकार से, अर्थात् द्रव्य–गुण–पर्यायरूप से **(जानाति)** जानता है, **(तत् स्वसंवेद्य),** वह अपने अनुभव में आनेयोग्य चेतनद्रव्य **(अहं अस्मि)** मैं हूँ।

अग्राह्य ऐसे क्रोधादि विकारी भावों को अपने स्वरूप में जो ग्रहण नहीं करता और ग्रहीत ऐसे अपने अनन्त ज्ञानादिस्वरूप को जो कभी नहीं छोड़ता, जो सर्वथा सर्व को जानता है, ऐसा स्वसंवेद्य मैं हूँ – ऐसा धर्मी जानता है।

मैं तो सदा ही ज्ञान–दर्शन–आनन्दस्वरूप ही हूँ; शरीर, मन, कर्म, राग–द्वेष इत्यादि को मेरे स्वरूप में मैंने कभी ग्रहण ही नहीं किया। मेरे ज्ञानस्वरूप से वे पृथक् के पृथक्

ही हैं। मेरा सहजस्वभाव ज्ञान-आनन्दस्वरूप है, उसे मैं कभी छोड़ता नहीं; मेरा आत्मा, क्रोधादि -स्वरूप नहीं परन्तु सर्व का जाननेवाला ही है—ऐसा आत्मा ही मैं हूँ; इस प्रकार अन्तरात्मा अपने स्वसंवेदन से अनुभव करता है।

देखो, यह समकिती का आत्मा! समकिती अपने आत्मा को शरीररूप या रागादिरूप नहीं मानता परन्तु ज्ञायकस्वरूप ही मानता है। आत्मा, गृहीत ऐसे अपने सहज ज्ञानादिस्वरूप को छोड़ता नहीं। ज्ञानादिक को 'गृहीत' कहा, उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि उन्हें आत्मा ने नया ग्रहण किया है परन्तु अनादि से ही आत्मा उन ज्ञानादिस्वरूप ही है, उस स्वरूप से आत्मा कभी छूटता नहीं और क्रोधादिस्वरूप कभी हो नहीं जाता। क्षणिक पर्याय में क्रोधादि हैं परन्तु उस पर्याय जितना ही आत्मा समकिती नहीं मानता। वह क्रोधादि को अपने स्वरूप से बाह्य जानता है और ज्ञान-आनन्दमय स्वभाव को ही वह अपने अन्तर स्वरूप में ग्रहण करता है। श्रद्धा-ज्ञान में जो चिदानन्दस्वभाव को ग्रहण किया, उसे धर्मी कभी छोड़ता नहीं और क्रोधादि को अपने स्वरूप में एकमेक मानकर कभी ग्रहण नहीं करता, उन्हें अपने स्वरूप से भिन्न ही जानता है। इस प्रकार स्वसंवेदन में उपयोगस्वरूप आत्मा को क्रोधादि से भिन्न अनुभव करना, परमात्मा होने का उपाय है।

मेरा आत्मा उपयोगस्वरूप है, वह उपयोग में ही है और क्रोधादि में नहीं तथा क्रोधादि भाव मेरे उपयोग में नहीं—ऐसा भेदज्ञान जब होता है, तब वह अन्तरात्मा क्रोधादि परभावों में कभी एकतारूप परिणमित ही नहीं होता, क्रोधादि को आत्मा के स्वरूपरूप ग्रहण नहीं करता और 'मैं तो ज्ञायक हूँ'—ऐसा श्रद्धा-ज्ञान में ग्रहण किया है, उसे कभी छोड़ता नहीं, अपने आत्मा को ज्ञानस्वरूप ही स्वीकार करता है।

धर्मी, प्रमोद से निःशंकरूप से ऐसा जानता है कि अहो! मैं तो ज्ञान-आनन्दस्वरूप ही रहा हूँ, रागादि को मैंने मेरे स्वरूप में कभी ग्रहण ही नहीं किया, मेरा स्वभाव कभी रागादिरूप हो नहीं गया। ज्ञान के स्वाद को और राग के स्वाद को धर्मी भिन्न-भिन्न जानता है। शुद्ध ज्ञायकस्वरूप में रागादि परभावों को कभी वह एकरूप स्वीकार नहीं करता। शरीर को ग्रहे या छोड़े, कर्मों को ग्रहे या छोड़े, रागादि को ग्रहे या छोड़े - ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है, आत्मा का स्वभाव तो स्वसंवेदन से ग्राह्य ज्ञानानन्दरूप ही है। शरीरादि को मैं छोडूँ

—ऐसा माननेवाले ने उन शरीरादि को अपने में ग्रहण किया माना है, वह विभ्रम है। इसी प्रकार बाहर के आश्रय से–इन्द्रियों इत्यादि से ज्ञान का ग्रहण हो, ऐसा जो मानता है, उसने अपने आत्मा को ज्ञानानन्दस्वरूप नहीं जाना, ज्ञान को अपने से भिन्न माना है; इसलिए छोड़ दिया है, वह बहिरात्मा है।

धर्मी तो जानता है कि मैंने शरीरादि को मुझमें कभी ग्रहण ही नहीं किया कि उन्हें मैं छोड़ूँ; तथा मेरे ज्ञानादिस्वरूप को मैंने कभी छोड़ा ही नहीं कि उन्हें बाहर से ग्रहण करूँ। मैं तो सदा ही शरीरादि से भिन्न ही रहा हूँ और मेरे ज्ञानानन्दस्वरूप में सदा एकमेकरूप ही रहा हूँ। मैं सर्वथा, सर्व का जाननेवाला ही हूँ – ऐसा आत्मा स्वसंवेदनगम्य ही है। जो स्वसंवेदन से अपने ऐसे आत्मा को जानता है, वह अन्तरात्मा है।●

मानो साक्षात् भगवान ही आँगन में पधारे...

सम्यक्त्वी धर्मात्मा को रत्नत्रय के साधक सन्त-मुनिवरों के प्रति ऐसा भक्तिभाव होता है कि उन्हें देखते ही उनके रोम-रोम से भक्ति उछलने लगती है... अहो! इन मोक्ष के साक्षात् साधक सन्त-भगवान के लिए मैं क्या-क्या करूँ!! किस प्रकार उनकी सेवा करूँ!! किस प्रकार उन्हें अर्पण हो जाऊँ!! - इस प्रकार धर्मी का हृदय भक्ति से उछल पड़ता है। जब ऐसे साधक मुनि अपने आँगन में आहार के लिए पधारें तथा आहारदान का प्रसङ्ग उपस्थित हो, वहाँ तो मानों साक्षात् भगवान ही आँगन में पधारे... साक्षात् मोक्षमार्ग ही आँगन में आ गया! इस प्रकार अपार भक्ति से मुनि को आहारदान देते हैं, किन्तु उस समय भी आहार लेनेवाले साधक मुनि की तथा आहार देनेवाले सम्यक्त्वी धर्मात्मा की अन्तर में दृष्टि (श्रद्धा) कैसी होती है, उसका यह वर्णन है। उस समय उन दोनों के अन्तर में देने या लेनेवाला नहीं है तथा यह निर्दोष आहार देने या लेने का जो शुभराग है, उसका भी दाता या पात्र (लेनेवाला) हमारा ज्ञायक आत्मा नहीं है, हमारा ज्ञायक आत्मा तो समयग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल भावों का ही देनेवाला है, उसी के हम पात्र हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ ५४४

देह को आत्मा मानकर अज्ञान से कैसी चेष्टा की? इसका दृष्टान्तसहित वर्णन

उपरोक्त कथनानुसार आत्मस्वरूप के ज्ञान बिना पूर्व अज्ञानदशा में मैंने कैसी चेष्टाएँ कीं-उसका धर्मी विचार करता है—

उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः स्थाणौ यद्वद्विचेष्टितम्।
तद्वन्मे चेष्टितं पूर्वं देहादिष्वात्मविभ्रमात्॥२१॥

करें स्तम्भ में पुरुष की, भ्रान्ति यथा अनजान।
त्यों भ्रमवश तन आदि में, कर लेता निजभान॥२१॥

अन्वयार्थ :- (**स्थाणौ**) वृक्ष के ठूंठ में (**उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः**) उत्पन्न हो गयी है पुरुषपने की भ्रान्ति जिसको — ऐसे मनुष्य को (**यद्वत्**) जिस प्रकार (**विचेष्टितम्**) विकृत अथवा विपरीत चेष्टा होती है; (**तद्वत्**) उसी प्रकार की (**देहादिषु**) शरीरादिक पर-पदार्थों में (**आत्मविभ्रमात**) आत्मा का भ्रम होने से, (**पूर्व**) आत्मज्ञान से पहले (**मे**) मेरी (**चेष्टितम्**) चेष्टा थी।

जैसे-किसी पुरुष को वृक्ष के ठूँठ में ऐसी भ्रान्ति हो जाये कि 'यह पुरुष है'; और उस भ्रान्ति के कारण उसे बुलाये, उस पर क्रोध करे तथा उसे मनाये—ऐसी अनेक प्रकार की व्यर्थ चेष्टाएं करे; उसी प्रकार मैंने भी पूर्व काल में भ्रम से इस देहरूपी ठूँठ को ही आत्मा मानकर व्यर्थ चेष्टाएँ की हैं।

जैसे-कोई पुरुष रात्रि के अन्धकार में किसी मनुष्य से मिलने गया हो; वहाँ वृक्ष के ठूँठ को देखकर भ्रम से ऐसा मान ले कि यह मनुष्य ही है और फिर उसे बुलाये कि—

'भाई, बोलो न! क्यों नहीं बोलते? मुझ से क्यों नाराज हो?' लेकिन ठूँठ तो बोल नहीं सकता; इसलिए क्रोध में आकर उसे ज्यों ही बाँहों में भरता है, त्यों ही खबर पड़ती है कि अरे, यह तो वृक्ष का ठूँठ है; मैंने इसे मनुष्य समझकर अभी तक चेष्टाएँ कीं। उसी प्रकार अज्ञानी जीव इस देह को ही आत्मा मान रहा है; देह तो वृक्ष के ठूँठ की भाँति जड़ है, तथापि उसी को जीव मानकर—'मैं बोलता हूँ, मैं खाता हूँ'—इस प्रकार अज्ञानी जीव व्यर्थ चेष्टाएँ करता है। धर्मी जानता है कि अरे, मैंने भी पहले अज्ञानदशा में शरीर को आत्मा मानकर उन्मत्तवत् व्यर्थ चेष्टाएँ की; अब भान हुआ कि अहो! मैं तो ज्ञानानन्दस्वरूप ही हूँ; यह देह तो जड़-अचेतन है; मैं देह से अत्यन्त भिन्न ही हूँ, पूर्व काल में भी भिन्न ही था किन्तु भ्रम से उसे अपना मानकर मैंने व्यर्थ चेष्टाएँ की।

बलदेव-वासुदेव का अतिशय प्रेम होता है; जब वासुदेव की मृत्यु हो जाती है, तब बलदेव अतिशय प्रेम के कारण उनके मृत शरीर को छह महीने तक साथ लेकर घूमते हैं, और मानों वे अभी जीवित हों, ऐसी चेष्टाएँ करते हैं। लक्ष्मणजी की मृत्यु हो जाने पर श्री रामचन्द्रजी उनके मृत शरीर को लेकर घूमते हैं और कहते हैं कि 'अरे भाई! अब तो बोलो, इस तरह तो तुम मुझसे कभी नहीं रूठते थे!' सवेरा होने पर कहते हैं कि 'भैया लक्ष्मण! अब तो उठो, सबेरा हो गया है; इस तरह कब तक सोते रहोगे?' इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान की पूजा का अवसर भी निकल जाता है। फिर वे लक्ष्मणजी को स्नान कराते हैं, उनके मुँह में कौर देकर खिलाते हैं—ऐसी अनेक चेष्टाएँ करते हैं!

(यद्यपि श्री रामचन्द्रजी तो उस समय भी आत्मज्ञानी थे; यथार्थ निश्चल श्रद्धा सहित लब्धिरूप ज्ञानचेतना का सद्भाव निरन्तर था, उन्हें मात्र अस्थिरता का मोह था; आत्मा को देहादि से भिन्न ही जानते थे, इसलिए अज्ञान नहीं था, किन्तु यहाँ तो दृष्टान्तरूप से यह सब कहा है।) उसी प्रकार यह शरीर तो सदैव जड़ मृत कलेवर है, किन्तु अज्ञानी जीव, मोह के वश—'यह शरीर ही मैं हूँ'—ऐसा मानकर चेष्टाएँ करता है। अज्ञानी जीव इस जड़ देहरूपी मुर्दे को जीवित मानकर (अर्थात् उसी को आत्मा मानकर) अनन्त काल से उसे साथ लेकर भटक रहा है; मृत कलेवर में चैतन्यभगवान मूर्च्छित हो गया है। देह की चेष्टाओं से जो अपने को सुखी-दु:खी मानते हैं, देह की क्रिया मैं करता हूँ तथा उसके

द्वारा धर्मसाधन होता है—ऐसा मानते हैं, वे सब शरीर को ही आत्मा माननेवाले हैं; वे अपने श्रद्धा-ज्ञानरूपी कन्धे पर, जड़ मुर्दे को रखकर संसार में भटक रहे हैं। रामचन्द्रजी तो लक्ष्मण का मृत शरीर कन्धे पर लेकर घूमते थे, तब भी अन्तर के श्रद्धा-ज्ञान में अपने चिदानन्दस्वभाव का ही ग्रहण था; राग का या देहादि का किञ्चित् ग्रहण नहीं था। जीव को स्वयं खबर नहीं है कि अज्ञानदशा में चैतन्यतत्त्व को चूककर भ्रम से वह कैसी-कैसी व्यर्थ चेष्टाएँ कर रहा है। जब उसे ज्ञान होता है, तब खबर पड़ती है कि अरे! पूर्व अज्ञानदशा में मैंने कैसी व्यर्थ चेष्टाएँ की हैं! ●

भावलिङ्गी सन्तों की अलौकिक दशा

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्धता भावलिङ्ग है – ऐसे भावलिङ्ग-सहित बाहर में दिगम्बर दशा, पञ्च महाव्रतादि, वह द्रव्यलिङ्ग है – ऐसे भावलिङ्गी सन्त की दशा तो अलौकिक है।

'मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो'.... के रूप में महावीर भगवान और गौतम गणधर के पश्चात् तुरन्त ही जिनका नाम माङ्गलिकरूप में आता है – ऐसे कुन्दकुन्दाचार्यदेव भावपाहुड़ की १२९वीं गाथा में कहते हैं –

'अहो! जो मुनि श्रेष्ठ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के धारक हैं, उस सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्र की शुद्धिरूप भाव से सहित हैं और जिनके माया नष्ट हो गयी है – ऐसे जो भावलिङ्गी सन्त हैं, वे धन्य हैं, उनको हमारा त्रिविध नमस्कार हो।

अहो! तुम भी हमारे मुनिमार्ग में आये, मोक्षमार्ग में आये, उसका मैं प्रमोद से अनुमोदन करता हूँ। तुम धन्य हो, तुम्हें मेरा नमस्कार हो।'

जैसे बड़े श्रीमन्तों के यहाँ शादी हो और बारात आवे, वहाँ धूमधाम से बैण्ड -बाजों के साथ अगवानी करते है। वैसे ही यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! सन्त तुम मुक्तिसुन्दरी को वरण करने चले, मैं आपकी अगवानी करता हूँ; धूमधाम से आपका बहुमान करता हूँ।

देखो, यह मुनिदशा का स्वरूप और उसकी महिमा!! ऐसे मुनि धन्य हैं और वन्द्य हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, अष्टपाहुड़ प्रवचन, १/९२

देह और आत्मा की भिन्नता जानने से क्या हुआ ?

अज्ञानदशा में तो देह को ही आत्मा मानकर भ्रम से व्यर्थ चेष्टाएँ की; किन्तु अब देह से भिन्न चैतन्यमूर्ति आत्मा का भान होने पर ज्ञानी की चेष्टा कैसी हो जाती है, सो बतलाते हैं—

यथाऽसौ चेष्टते स्थाणौ निवृत्ते पुरुषाग्रहे।
तथाचेष्टोऽस्मि देहादौ विनिवृत्तात्मविभ्रमः ॥२२॥

भ्रम तज नर उस स्तम्भ में, नहीं होता हैरान।
त्यों तनादि में भ्रम हटे, नहीं पर में निजभान॥२२॥

अन्वयार्थ :- (**असौ**) जिसको वृक्ष के ठूंठ में पुरुष का भ्रम हो गया था, वह मनुष्य (**स्थाणौ**) ठूंठ में (**पुरुषाग्रहे निवृत्ते**) 'यह पुरुष है' — ऐसे मिथ्याभिनिवेश के नष्ट हो जाने पर, (**यथा**) जिस प्रकार उससे अपने उपकारादि की कल्पना त्यागने की (**चेष्टते**) चेष्टा करता है; उसी प्रकार (**देहादौ**) शरीरादिक में (**विनिवृत्तात्मविभ्रमः**) आत्मपने के भ्रम से रहित हुआ मैं भी, (**तथा चेष्टः अस्मि**) देहादिक में अपने उपकारादि की बुद्धि को छोड़ने में प्रवृत्त हुआ हूँ।

ज्ञानी विचारते हैं कि—वृक्ष के ठूँठ को पुरुष मानकर व्यर्थ चेष्टा करनेवाले उस मनुष्य को जब खबर पड़ती है कि अरे, यह तो पुरुष नहीं किन्तु वृक्ष का ठूँठ है, तब उसके साथ उपकार, वार्तालाप आदि छोड़ देने की चेष्टा करता है; उसी प्रकार मैंने अज्ञानदशा में तो देह को ही आत्मा मानकर व्यर्थ चेष्टाएँ की और मैं दुःखी हुआ, किन्तु अब मुझे भान हुआ कि अरे! यह शरीर तो जड़ है; वह मेरा उपकारी या अपकारी नहीं है, वह मुझसे भिन्न है; मैं तो अरूपी चिदानन्द आत्मा हूँ—ऐसा भान होने पर शरीर की चेष्टाओं के प्रति अब

मुझे उदसीनता हो गयी है; अर्थात् शरीर की चेष्टाएँ मेरी हैं—ऐसा अब मुझे किञ्चित् भासित नहीं होता; शरीर की चेष्टा द्वारा मेरा कुछ सुधरता या बिगड़ता है—ऐसी भ्रमणा अब छूट गयी है। मेरी चेष्टा तो ज्ञानचेतनामय है।

मैं इन देहादि से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप ही हूँ—ऐसा जहाँ स्व-संवेदन से सम्यक्भान हुआ, वहाँ धर्मात्मा जानते हैं कि अरे! अभी तक तो पत्थर में पुरुष की भ्रान्ति की भाँति इस अचेतन शरीर को ही मैंने आत्मा माना और उसके साथ व्यर्थ चेष्टाएँ की। जिस प्रकार अन्धकार के कारण कोई पुरुष, पत्थर या वृक्ष के ठूँठ को पुरुष मानकर उसे बुलाये, उससे प्रेम करे, उसके साथ लड़े, लड़ते-लड़ते जब वह ठूँठ ऊपर गिरे, तब समझे कि अब इसने मुझे दबा दिया; और कहे कि—अरे भाई! अब तो उठ... ऐसी अनेक प्रकार की चेष्टाएँ करे, किन्तु ज्यों ही प्रकाश हुआ, वहाँ दिखायी देता है कि अरे, यह तो पुरुष नहीं किन्तु पत्थर है—ठूँठ है; मैंने भ्रान्तिवश व्यर्थ ही चेष्टाएँ की... उसी प्रकार अज्ञानरूपी अन्धकार के कारण अज्ञानी जीव, अचेतन शरीरादि को ही आत्मा मानकर उससे प्रीति करता था, बाह्य विषयों को अपना इष्ट-अनिष्टकारी मानकर उनके प्रति राग-द्वेष करता था; मैं खाता हूँ, मैं बोलता हूँ, मैं चलता हूँ—ऐसा मानकर अनेक प्रकार से भ्रान्तिपूर्ण चेष्टाएँ करता था, किन्तु अब जहाँ ज्ञान का प्रकाश हुआ... और स्वसंवेदन द्वारा आत्मा को देह से भिन्न जाना, वहाँ धर्मी जानता है कि अरे! यह शरीर तो अचेतन है, यह मैं नहीं हूँ; तथापि इसी को आत्मा मानकर मैंने अभी तक व्यर्थ चेष्टाएँ कीं, किन्तु अब मेरी भ्रान्ति दूर हो गयी है। अज्ञानी तो जड़-इन्द्रियों को अपनी मानकर उन्हीं का दास हो रहा है। कान-आँख आदि इन्द्रियाँ अच्छी हों तो मैं शब्द का श्रवण, रूप का अवलोकन अच्छी तरह कर सकता हूँ—ऐसा मानकर अज्ञानी, इन्द्रिय-विषयों में ही राग-द्वेष करके उनका दास होकर वर्तता है। मेरा आत्मा स्वयं ज्ञान-आनन्दस्वरूप है। इन्द्रियों से पार ऐसे सम्यक् भान में धर्मी जितेन्द्रिय वर्तता है; वह जानता है कि मेरा ज्ञान या आनन्द इन्द्रिय विषयों में नहीं है; मैं स्वयं ही ज्ञान और आनन्दस्वरूप हूँ—इसलिए उसे बाह्य विषयों में आत्मबुद्धि नहीं होती।

यह आत्मा ही शरीर है—ऐसा भले ही सीधे ढंग से न कहता हो, किन्तु जो बाह्य

विषयों से ज्ञान और आनन्द होना मानता है, वह जीव, शरीर को ही आत्मा मानता है; वह अपने को शरीररूप ही मानता है।

जीव जिससे अपने को ज्ञान और सुख होना मानता है, उसे आत्मा ही मानता है। जो इन्द्रियों से या पर से ज्ञानानन्द का होना मानता है, वह जड़ को ही आत्मा मानकर उसके दासरूप से वर्तता है। धर्मी जानता है कि मैंने भी पूर्व अज्ञानदशा में भ्रम से देह को ही आत्मा मानकर चेष्टाएँ की हैं... किन्तु अब भान हुआ कि यह शरीर तो मुझसे अत्यन्त पृथक् अचेतन है; जिस प्रकार लकड़ी का स्तम्भ मुझसे पृथक् है, उसी प्रकार यह शरीर भी मुझसे पृथक् है। मैं तो अरूपी चैतन्यस्वरूपी स्वसंवेद्य हूँ; शरीर से मेरी जाति ही भिन्न है। शरीर रूपी, मैं अरूपी; शरीर जड़ मैं चेतन; शरीर संयोगी, मैं असंयोगी; शरीर विनाशी, मैं अविनाशी; शरीर अन्ध, मैं सूझता; शरीर इन्द्रिय ग्राह्य, मैं अतीन्द्रिय-स्वसंवेदनग्राह्य; शरीर मुझसे बाह्य परतत्त्व, और मैं अन्तरङ्ग चैतन्यमूर्ति स्वतत्त्व—इस प्रकार शरीर की और मेरी अत्यन्त भिन्नता है।

—ऐसे अत्यन्त भिन्नता के विवेक से जहाँ भेदज्ञान हुआ और यथार्थ तत्त्वश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ शरीरादि में आत्मबुद्धि का भ्रम दूर हो गया; शरीर के सुधरने -बिगड़ने से मेरा कुछ सुधरता या बिगड़ता है—ऐसा भ्रम छूट गया और देहादि परद्रव्यों से उपेक्षित होकर चिदानन्दस्वभाव की ओर ढला... इसका नाम समाधि है। भिन्न आत्मतत्त्व के चिन्तन बिना समाधि होती ही नहीं। परद्रव्यों से आत्मा को भिन्न जाने बिना उनसे उपेक्षा नहीं होती। परद्रव्यों से उपेक्षा के बिना स्वतत्त्व में एकाग्रता कैसी? और स्वतत्त्व में एकाग्रता के बिना समाधि कैसी? समाधि के बिना सुख या शान्ति कैसे? इसलिए सर्व प्रथम भेदज्ञान के अभ्यास द्वारा देहादि से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को जानना ही समाधि का मूल है। ●

मैं मेरे चैतन्यचिह्न से स्वसंवेद्य हूँ, बाह्य चिह्न मैं नहीं

अब, 'मैं पुरुष, मैं स्त्री, मैं नपुंसक'—इस प्रकार बाह्यलिङ्ग में आत्मा की भ्रमणा तथा 'मैं एक, मैं दो'—इत्यादि संख्या में आत्मा की भ्रमणा—उसे दूर करने के लिये, लिङ्ग और संख्या से पृथक् असाधारण आत्मस्वरूप बतलाते हैं—

येनात्मनाऽनुभुयेऽहमात्मनैवात्मनाऽऽत्मनि।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहुः ॥२३॥

आत्मा को ही निज गिनूँ, नहीं नारी-नर-षण्ड।
नहीं एक या दो बहुत, मैं हूँ शुद्ध अखण्ड॥२३॥

अन्वयार्थ :- (**येन**) जिस (**आत्मना**) आत्मा से-चैतन्यस्वरूप से (**अहम्**) मैं (**आत्मनि**) अपनी आत्मा में ही (**आत्मना**) आत्मा द्वारा — स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा (**आत्मनैव**) अपनी आत्मा को आप ही (**अनुभूये**) अनुभव करता हूँ, (**सः**) वही — शुद्धात्मस्वरूप (**अहं**) मैं, (**न तत्**) न तो नपुंसक हूँ, (**न सा**) न स्त्री हूँ, (**न असौ**) न पुरुष हूँ, (**न एको**) न एक हूँ, (**न द्वौ**) न दो हूँ, (**वा**) और (**न बहुः**) न बहुत हूँ।

मैं मेरे आत्मा को, चैतन्यस्वरूप आत्मा द्वारा, आत्मा के स्वसंवेदन से आत्मा में ही अनन्यरूप से अनुभवता हूँ, वही मैं हूँ; इसके अलावा स्त्री-पुरुष आदि चिह्न अथवा एक-दो आदि संख्या के विकल्प, वह मैं नहीं हूँ। स्वसंवेदनगम्य चैतन्य ही मेरा चिह्न है।

स्त्रीत्व, पुरुषत्व आदि चिह्नों द्वारा तो शरीर पहिचाना जाता है, किन्तु उन चिह्नों द्वारा कहीं आत्मा नहीं पहिचाना जाता। व्याकरण के वचन और विभक्तियाँ अरूपी आत्मा का स्पर्श नहीं करते, अर्थात् भाषा के शब्दों से गम्य हो, ऐसा आत्मा नहीं है; आत्मा तो स्वयं

अपने से ही स्वसंवेदन गम्य है—ऐसे आत्मा को जो जानता है, उसी को समाधि-सुख-शान्ति अथवा धर्म होता है।

यह समाधि के लिये देहादि से भिन्न स्वसंवेद्य ज्ञानानन्दस्वरूपी आत्मा की भावना का वर्णन चल रहा है। पुरुषत्व-स्त्रीत्व आदि शरीर के आकार, वह मैं नहीं हूँ तथा तत्सम्बन्धी विकार भी उपाधिभाव है, वह मेरे स्वसंवेद्य आत्मा से बाह्य है। पुनश्च, मैं एक हूँ, अनेक हूँ—इत्यादि विकल्पों से भी मैं पार हूँ; बाह्यलिङ्ग और संख्या के भेदों से पार ज्ञानानन्दस्वरूप ही मैं हूँ। शरीर आधेय और मैं उसका आधार, अथवा मैं आधेय और शरीर मेरा आधार—ऐसा आधार-आधेयपना तो मुझे नहीं है; तथा ज्ञानादि गुण आधार और आत्मा आधेय—ऐसा आधार-आधेय का भेद भी मेरे एकाकारस्वरूप में नहीं है; आधार-आधेय के भेद द्वारा अनुभव में आऊँ - ऐसा मैं नहीं हूँ; मैं तो भेद के विकल्परहित निर्विकल्प स्वसंवेदनगम्य हूँ—इस प्रकार धर्मी अपने आत्मा की भावना करता है। ●

ज्ञान भाव है सुख का धाम,
वहाँ राग का क्या है काम?
आतमलक्ष्मी खोल खजाना;
जो तू चाहे मोक्ष में जाना।

मैं जागृत हूँ, अतीन्द्रिय हूँ, स्वसंवेद्य हूँ

अब, ज्ञानी से कोई पूछे कि—आप जिस आत्मा का अनुभव करते हैं, वह कैसा है ? आप कैसे आत्मस्वरूप का अनुभव करते हैं ?—ऐसा पूछने पर ज्ञानी कहते हैं कि—

यदभावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थितः पुनः।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम्॥२४॥

बोधि बिना निद्रित रहा, जगा लखा चैतन्य।
इन्द्रियबिन अव्यक्त हूँ, स्वसंवेदन गम्य॥२४॥

अन्वयार्थ :- **(यत् अभावे)** जिस शुद्धात्मस्वरूप के प्राप्त न होने से **(अहं)** मैं **(सुषुप्तः)** अब तक गाढ़ निद्रा में पड़ा रहा — मुझे पदार्थों का यथार्थ परिज्ञान न हो सका — **(पुनः)** और **(यत् भावे)** जिस शुद्धात्मस्वरूप की उपलब्धि होने पर, मैं **(व्युत्थितः)** जागृत हुआ हूँ — यथावत् वस्तुस्वरूप को जानने लगा हूँ, **(तत्)** वह शुद्धात्मस्वरूप **(अतीन्द्रियं)** इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं है **(अनिर्देश्यं)** वचनों के भी अगोचर है — कहा नहीं जाता। वह तो **(स्वसंवेद्य)** अपने द्वारा आप ही अनुभव करने योग्य है। उसीरूप **(अहं अस्मि)** मैं हूँ।

जिसके अभाव में मैं सुषुप्त था, अर्थात् जिस शुद्धात्मा के संवेदन की उपलब्धि बिना अज्ञानरूपी घोर निद्रा से मैं घिरा था, मेरे ज्ञानचक्षु मुँद गये थे और अब जिसके सद्भाव से मैं जागृत हुआ, जिस शुद्धात्मा के संवेदन की उपलब्धि होने से मेरे ज्ञानचक्षु खुल गये, तथा जो इन्द्रियों और विकल्पों से अगोचर, अतीन्द्रिय है—ऐसा स्वसंवेद्य मैं हूँ। ऐसे स्वसंवेद्य आत्मा का ही मैं अनुभव करता हूँ। इसके अतिरिक्त देहादि कोई परद्रव्य मुझे अपनेरूप से किंचित् भासित नहीं होते। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान होने से आत्मा को अपने स्वरूप का निःशंक पता पड़ता है।

जब मैं अपने आत्मा को नहीं जानता था, तब यथार्थ तत्त्वों के ज्ञान का मुझे अभाव था; किन्हीं तत्त्वों के स्वरूप को मैं यथार्थ नहीं जानता था और गाढ़ मोह की निद्रा में सोता

था, किन्तु अब शुद्ध चैतन्यतत्त्व का भान होने पर मैं जागृत हुआ और समस्त तत्त्वों के यथावत् स्वरूप को जाननेरूप से परिणमित हुआ।—ऐसा शुद्ध चैतन्यतत्त्व मैं हूँ कि जिसके अभान से मैं सुप्त था और अब जिसके भान से जागृत हुआ। कैसा है मेरा स्वरूप? अतीन्द्रिय है और वचन के विकल्पों से अगोचर है; मात्र स्वसंवेदनगम्य है। व्यवहार के विकल्पों से या राग से ग्रहण हो—ऐसा मेरा स्वरूप नहीं है; मेरा स्वरूप तो अन्तर के स्वसंवेदन द्वारा ही अनुभव में आता है। ऐसा स्वसंवेद्य तत्त्व मैं हूँ।

'जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जमि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे॥'

'मोक्षप्राभृत' की इस गाथा में कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि जो जीव, व्यवहार में सोते हैं (अर्थात् व्यवहार के प्रति उदासीन हैं), वे अपने आत्मकार्य में जागृत हैं और जो व्यवहार में जागृत हैं, अर्थात् व्यवहार में तत्पर वर्तते हैं; वे अपने आत्मकार्य के लिये सोते हैं। व्यवहार का आश्रय करके लाभ माननेवाला जीव अज्ञानी है, वह शुद्ध आत्मा को नहीं जानता तथा अन्य तत्त्वों के स्वरूप को भी वह नहीं जानता; इसलिए मोहनिद्रा में सोता है। ज्ञानी तो अपने चिदानन्दस्वरूप को देहादि तथा रागादि से भिन्न जानकर उसकी भावना में जागृत हैं और व्यवहार में अजागृत हैं, अर्थात् उनका रागादि के ओर का उत्साह टूट गया है... चैतन्यस्वरूप में ही उत्साह वर्तता है।

धर्मी कहता है कि अरे! अभी तक अपने चैतन्यस्वरूप को भूलकर, मैं अज्ञानरूपी निद्रा में असावधानरूप से सोता था... किन्तु अब चैतन्यस्वरूप को जानकर मैं जागृत और सावधान हुआ; मैंने अपने स्वरूप को इन्द्रियों से पार जाना; राग से पार जाना; सिद्ध जैसे अतीन्द्रिय ज्ञान-आनन्दस्वरूप अपने आत्मस्वरूप को मैंने स्वसंवेदन से जाना... इसलिए अब मैं जागृत हूँ।

देखो, धर्मी सदैव जागृत है और अज्ञानी तो सदैव असावधानी से सोता है। मैं ज्ञानानन्दस्वरूप ही हूँ—ऐसी आत्मजागृति धर्मी को क्षणमात्र भी नहीं हटती; निद्रा-काल में भी ऐसी जागृति-प्रतीति नहीं छूटती; इसलिए वह जागृत ही है; और मिथ्यादृष्टि को चैतन्यस्वरूप में उत्साहरूप जागृति नहीं है; आत्मा को भूलकर वह तो सोता ही है; जागता

हो, शास्त्रस्वाध्याय करता हो, भक्ति करता हो; तथापि चिदानन्दस्वरूप की जागृति के बिना वह सोता ही है।

कोई ऐसा भी कहते हैं कि 'अज्ञानी का निद्राधीन होना ही अच्छा है क्योंकि निद्रा में पाप नहीं होता';—तो वह बात बिल्कुल झूठी है। निद्रा के समय भी अज्ञानी को मिथ्यात्वादि पापों का सेवन वर्तता ही रहता है और ज्ञानी को निद्रा के समय भी चैतन्यस्वरूप की प्रतीतिरूप जागृति वर्तती ही रहती है; इसलिए यहाँ तो एक ही नियम बतलाया है कि जिसे शुद्धचैतन्य की उपलब्धि है, वह जाग रहा है और जिसे शुद्ध चैतन्य की उपलब्धि नहीं है, वह सो रहा है। 'मैं कौन हूँ'—उसका मुझे अज्ञानदशा में भान नहीं था; मैं बेभान था; अब अपने शुद्धचैतन्यस्वरूप का ही मैंने अपनेरूप में अनुभव किया। इस प्रकार धर्मी अपने आत्मस्वरूप का अनुभव करता है।

जिस प्रकार निद्राधीन मनुष्य को आसपास का भान नहीं रहता; उसी प्रकार देह में आत्मबुद्धि करके मोहनिद्रा में सोते हुए प्राणियों को स्व-पर का कुछ भी भान नहीं है। सन्त स्व-पर का भेदज्ञान कराके उसकी मोहनिद्रा छुड़वाते हैं और उसे जागृत करते हैं कि अरे जीव! तू जाग... जाग! जागृत होकर अपने चैतन्यपद को देख! तू पर में जागृति करके अपने चैतन्यपद को भूल रहा है, इसलिए अज्ञान-निशा में सो रहा है; अब उससे जागृत हो! अर्धरात्रि के समय जगत के प्राणी निद्राधीन होते हैं, किन्तु सन्त-मुनिवर तो उस समय भी चैतन्य के ध्यान की मस्ती में जागते रहते हैं। यहाँ तो कहते हैं कि जब से चिदानन्दस्वभाव का स्व-संवेदन हुआ, तभी से आत्मा जागृत हुआ है। अज्ञानी तो रागादि व्यवहार में ही जागृत हैं, अर्थात् राग में ही उत्साहित हैं; जबकि ज्ञानी, राग में उत्साहहीन हैं। इस प्रकार जिस व्यवहार में अज्ञानी जागृत हैं, उसमें ज्ञानी सोते हैं, अर्थात् वह उन्हें आदरणीय नहीं हैं; और ज्ञानी अपने जिस चैतन्यतत्त्व के स्वसंवेदन में जागृत हैं, उसमें अज्ञानी सोते हैं-भानरहित हैं; उनके ज्ञानचक्षु मुँद गये हैं।

जहाँ अन्तर्मुख होकर अतीन्द्रिय आत्मा का स्वसंवेदन हुआ, वहाँ धर्मी के चैतन्यचक्षु खुल गये—अनादिकालीन अज्ञाननिद्रा उड़ गयी। वे कहते हैं कि अहा! हमने अपने ऐसे तत्त्व को अभी तक कभी नहीं जाना था, किन्तु अब स्वसंवेदन से अपने आत्मतत्त्व को जान लिया है... अब मैं जागृत हुआ हूँ। ●

ज्ञानस्वरूप के अनुभव में वीतरागता उसमें शत्रु-मित्र का अभाव

आत्मा को समाधि कैसे हो—वीतरागी शान्ति कैसे हो—उसका यह वर्णन है। मेरा आत्मा, देह से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप है—इस प्रकार पर से भिन्न आत्मा को जाने बिना समाधि नहीं होती। जो अपने को पर से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप जानता है, उसे पर में 'यह मेरा मित्र या यह मेरा शत्रु'—ऐसी बुद्धि नहीं रहती। इसलिए बोधस्वरूप आत्मा के लक्ष्य से उसे ऐसा वीतरागभाव हो जाता है कि कोई मेरा शत्रु और कोई मित्र—ऐसा वह नहीं मानता। यह बात इस गाथा में कहते हैं—

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः॥२५॥

जब अनुभव अपना करूँ, हों अभाव रागादि।
मैं ज्ञाता, मेरे नहीं, कोई अरि-मित्रादि॥२५॥

अन्वयार्थ :- (**यतः**) क्योंकि (**बोधात्मानं**) शुद्ध ज्ञानस्वरूप (**मां**) मुझ आत्मा का (**तत्त्वतः प्रपश्यतः**) वास्तव में अनुभव करानेवाले के (**अत्र एव**) इस जन्म में ही (**रागाद्यः**) राग, द्वेष, क्रोध, मान, मायादिक दोष (**क्षीयन्ते**) नष्ट हो जाते हैं; (**ततः**) इसलिए (**मे**) मेरा (**न कश्चित्**) न कोई (**शत्रुः**) शत्रु है (**न च**) और न कोई (**प्रियः**) मित्र है।

अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा के अवलोकन से यहीं राग-द्वेषादि दोष क्षय को प्राप्त हो जाते हैं, इसलिए मेरा कोई मित्र नहीं है या कोई शत्रु नहीं है। देखो, यह वीतरागी समाधि की रीति! मैं तो ज्ञानस्वरूप ही हूँ—ऐसा निर्णय करके जहाँ ज्ञानस्वरूप की भावना में लगा,

वहाँ बाह्य में कोई मुझे अपने शत्रु या मित्र भासित नहीं होते क्योंकि ज्ञानस्वरूप की भावना से राग-द्वेष का नाश हो गया है। जिस पर राग हो, उसे अपना मित्र मानते हैं और जिस पर द्वेष हो, उसे शत्रु मानते हैं, किन्तु मैं तो बोधस्वरूप शुद्ध चैतन्य हूँ—ऐसी भावना में राग-द्वेष का क्षय हो जाने से कोई मित्र-शत्रुरूप भासित नहीं होते। पहले से ही ऐसा वीतरागी अभिप्राय हुए बिना कभी राग-द्वेष का नाश नहीं होता और समाधि प्रगट नहीं होती। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ; राग-द्वेष मेरे ज्ञानस्वरूप में हैं ही नहीं और बाह्य में कोई मेरा शत्रु या मित्र नहीं है—ऐसे वीतरागी अभिप्रायपूर्वक चैतन्य की भावना से वीतरागी समाधि होती है, किन्तु पर को अपना इष्ट-अनिष्ट माने, पर को मित्र या शत्रु माने, उसके राग-द्वेष कभी दूर नहीं होते; इसलिए ज्ञानस्वरूप आत्मा को जानकर उसकी भावना करना ही रागादि के नाश का तथा समाधि का उपाय है।

इस शरीर की सेवा करनेवाले मेरे मित्र नहीं हैं, क्योंकि शरीर मैं नहीं हूँ; शरीर का घात करनेवाले मेरे शत्रु नहीं हैं, क्योंकि शरीर मैं नहीं हूँ; मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ। अपने ज्ञानस्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान करके उसकी भावना से रागादि का क्षय होने पर मुझे कोई मित्र या शत्रुरूप भासित नहीं होता। सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा कोई राजा हो और युद्ध का प्रसङ्ग भी आ जाये, तथापि उस प्रसङ्ग पर भी उसे भान है कि मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ; मेरे ज्ञानस्वरूप को इस जगत में कोई मित्र या शत्रु नहीं है—ऐसा वीतरागी अभिप्राय धर्मी को कभी नहीं छूटता। उस अभिप्राय के कारण ज्ञानानन्दस्वरूप की भावना करने से रागादि का क्षय होता है। चौथे गुणस्थान में अभी अमुक राग-द्वेष होता है, उतना दोष है, किन्तु किसी पर को शत्रु या मित्र मानकर वे राग-द्वेष नहीं होते; तथा ज्ञानस्वरूप में वे राग-द्वेष कर्तव्यरूप से भासित नहीं होते। 'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ'—ऐसी आत्मभावना के बल से धर्मी के रागादि नष्ट होते जाते हैं।

जब तक यह जीव अपने निजानन्दस्वभाव के सहज अमृत का पान नहीं करता, तभी तक बाह्य पदार्थों को भ्रम से इष्ट-अनिष्ट मानता है; इसलिए इष्ट संयोग में वह मित्रता और अनष्टि संयोग में शत्रुता मानता है। इस प्रकार पर को मित्र या शत्रु मानने के कारण उसका राग-द्वेष का अभिप्राय नहीं छूटता और उसे वीतरागी शान्ति नहीं होती, किन्तु जब

वह संयोग से भिन्न अपने चिदानन्दस्वभाव के वीतरागी अमृत का पान करता है, तब स्वयं को सदैव ज्ञानस्वरूप ही देखता है और ज्ञानस्वरूप में किसी को मित्र या शत्रुरूप से नहीं मानता। अहा ! मैं तो ज्ञानमूर्ति हूँ; ज्ञानस्वभाव की भावना में राग-द्वेष हैं ही नहीं; तो फिर राग के बिना मैं किसे मित्र मानूँ और द्वेष के बिना शत्रु ? मित्र या शत्रु तो राग-द्वेष में हैं; ज्ञान में मित्र-शत्रु कैसे ? ज्ञान में राग-द्वेष नहीं हैं, तो राग-द्वेष के बिना मित्र या शत्रु कैसे ?

—इस प्रकार ज्ञानभावनारूप परिणमित ज्ञानी कहते हैं कि मेरे चिदानन्दस्वभाव को देखते ही राग-द्वेष ऐसे क्षीण हो गये हैं कि मुझे जगत में कोई मित्र या शत्रु भासित नहीं होते; जगत से भिन्न अपना ज्ञानानन्दस्वरूप ही मुझे भासित होता है। देखो, ऐसे आत्मस्वरूप की भावना ही वीतरागी समाधि का उपाय है और वीतरागी समाधि ही भव के अन्त का उपाय है; इसलिए बारम्बार ऐसे आत्मस्वरूप की भावना करना ही कर्तव्य है।

❖❖❖

२५ वीं गाथा में कहा है कि—बोधस्वरूप आत्मा की भावना से रागादि का क्षय हो जाने के कारण मुझे कोई शत्रु या मित्ररूप भासित नहीं होता; मैं तो अपने ज्ञानानन्दस्वरूप से शान्तरस में ही रहता हूँ।

तो अब पूछते हैं कि आप भले ही दूसरों को शत्रु या मित्र न मानें, किन्तु दूसरे जीव तो आपको शत्रु या मित्र मानते होंगे न ?—उसके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं—

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥२६॥

जो मुझको जाने नहीं, नहीं मेरा अरि मित्र।
जो जाने मम आत्म को, नहीं शत्रु नहीं मित्र ॥२६॥

अन्वयार्थ :- (**मां**) मेरे आत्मस्वरूप को (**अपश्यन्**) नहीं देखता हुआ, (**अयं लोकः**) यह अज्ञ प्राणिवृन्द (**न मे शत्रुः**) न मेरा शत्रु है (**न च प्रियः**) और न मित्र है

तथा **(मां)** मेरे आत्मस्वरूप को **(प्रपश्यन्)** देखता हुआ **(अयं लोकः)** यह प्रबुद्ध प्राणिगण, **(न मे शत्रुः)** न मेरा शत्रु है **(न च प्रियः)** और न मित्र है।

मैं तो बोधस्वरूप अतीन्द्रिय आत्मा हूँ; जो अतीन्द्रिय आत्मा को नहीं जानते—ऐसे अज्ञ जीव तो मुझे देखते ही नहीं; वे मात्र इस शरीर को देखते हैं, किन्तु मुझे नहीं देखते; इसलिए वे मेरे शत्रु या मित्र नहीं हैं। इस शरीर को वे शत्रु या मित्र मानते हैं, किन्तु मुझे तो देखते ही नहीं, इसलिए बिना देखे शत्रु या मित्र कहाँ से मानेंगे? अज्ञ जनों को मेरे बोधस्वरूप आत्मा का परिचय ही नहीं है; उनके चर्मचक्षु से तो मैं अगोचर हूँ; वे बेचारे अपने आत्मा को भी नहीं जानते तो मेरे आत्मा को कहाँ से जानेंगे? और मुझे जाने बिना मेरे सम्बन्ध में शत्रु-मित्रपने की कल्पना कहाँ से कर सकते हैं? और

आत्मा के स्वरूप को जाननेवाले विज्ञ जन तो किसी को शत्रु-मित्र मानते नहीं हैं, इसलिए मेरे सम्बन्ध में उन्हें भी शत्रु-मित्रपने की कल्पना नहीं होती।

पर में शत्रु-मित्रपने की कल्पना अज्ञानी को होती है, किन्तु वह तो मेरे आत्मा को देखता नहीं है और ज्ञानी मेरे आत्मा को देखते हैं, किन्तु उन्हें किसी के प्रति शत्रु-मित्रपने की कल्पना नहीं होती; इसलिए मेरा कोई शत्रु-मित्र नहीं है और न मैं किसी का शत्रु-मित्र हूँ—ऐसा धर्मी जानते हैं।

प्रश्न : भरत और बाहुबलि दोनों ज्ञानी होने पर भी, उन्होंने परस्पर युद्ध किया था; फिर भी वे एक-दूसरे के शत्रु नहीं हैं?

उत्तर : दोनों को मात्र चारित्र में अस्थिरता का द्वेष था, किन्तु सामनेवाले आत्मा को अपना शत्रु मानकर वह द्वेष नहीं हुआ था। उस समय भान था कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और सामनेवाला आत्मा भी ज्ञानस्वरूप ही है, वह मेरा शत्रु या मित्र नहीं है और न मैं उसका शत्रु या मित्र हूँ। दोनों को अन्तर में बोधस्वरूप आत्मा का भान था, इसलिए अभिप्राय की अपेक्षा से किसी को शत्रु-मित्र नहीं मानते थे।

सुख, अर्थात् धर्म के लिये ऐसे आत्मा को जानकर, फिर उसकी भावना में स्थिर होने पर ऐसी समाधि होती है कि किसी के प्रति द्वेष की या राग की वृत्ति ही नहीं उठती; इसलिए उन्हें कोई शत्रु या मित्र नहीं है।

सर्वजीव है ज्ञानमय, ऐसा जो समभाव।
वह सामायिक जानना, कहते श्री जिनराय॥

धर्मी जीव अपने को तथा सर्व जीवों को शुद्ध-बुद्ध ज्ञानस्वरूप देखता है। इस प्रकार 'स्व' के ज्ञानपूर्वक जो पर को भी अपने ही जैसे स्वभावरूप जानता है, उसे पर के प्रति शत्रु-मित्रपने की मान्यता नहीं होती। 'स्व' के ज्ञान बिना पर को जानता ही नहीं, तो जाने बिना शत्रु या मित्र की कल्पना कहाँ से होगी? अज्ञानी तो जड़ शरीर को ही देखता है और उसी को शत्रु-मित्ररूप से मानता है, किन्तु शरीर तो मैं नहीं हूँ; इसलिए मैं किसी का शत्रु-मित्र नहीं हूँ और न कोई मेरा शत्रु-मित्र है। इस प्रकार राग-द्वेष की वृत्ति छोड़कर मैं अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

देखो, यह ज्ञानी की वीतरागी भावना! स्वयं अपने आत्मा को बोधस्वरूप देखते हैं और जगत के समस्त आत्मा भी ऐसे ही बोधस्वरूप हैं, ऐसा जानते हैं; इसलिए अपने को किसी के प्रति शत्रु-मित्रपने की बुद्धि नहीं रही है, तथा दूसरे लोग मुझे शत्रु-मित्र मानते होंगे—ऐसी शल्य भी नहीं रही है। 'अज्ञ' तो मुझे देखता नहीं है और 'विज्ञ' किसी को शत्रु-मित्र नहीं मानते, क्योंकि आत्मस्वरूप की भावना से उनके राग-द्वेष का क्षय हो गया है। इस प्रकार अज्ञ या विज्ञ किसी के साथ मुझे शत्रुता या मित्रता नहीं है; मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ। इस प्रकार बोधस्वरूप आत्मा की भावना से वीतरागी समाधि होती है। ●

मुनिदशा अर्थात् केवलज्ञान की तलहटी

अहो! मुनिदशा अर्थात् साक्षात् केवलज्ञान की तलहटी! आनन्द के अनुभव का झूला झूलते हुए हजारों बिच्छुओं के काटने पर भी अथवा अड़तालीस गाँवों तक सुनी जानेवाली आवाज होने पर भी, जिन्हें उसकी खबर नहीं पड़ती और आनन्द में गहरे उतरकर क्षण में केवलज्ञान ले लेते हैं। उस अद्भुत मुनिदशा की क्या बात! धन्य मुनिदशा!

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, दृष्टि ना निधान, बोल १६५

परमात्मतत्त्व को भाना

इस प्रकार 'मैं शुद्ध बोधस्वरूप हूँ; मुझे किसी के साथ शत्रु-मित्रपना नहीं है'— ऐसे ज्ञान द्वारा बहिरात्मपना छोड़कर, अन्तरात्मा होकर, सङ्कल्प-विकल्परहित परमात्मा को भाना चाहिए—ऐसा अब कहते हैं—

त्यक्त्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थितः।
भावयेत्परमात्मानं सर्वसंकल्पवर्जितम् (तः)॥२७॥

यों बहिरातम दृष्टि तज, हो अन्तर-मुख आत्म।
सर्व विकल्प विमुक्त हो, ध्यावे निज परमात्म॥२७॥

अन्वयार्थ :- (**एवं**) इस प्रकार (**बहिरात्मानं**) बहिरात्मपने को (**त्यक्त्वा**) छोड़कर, (**अंतरात्मव्यवस्थितः**) अन्तरात्मा में स्थित होते हुए (**सर्वसंकल्पवर्जितं**) सर्व सङ्कल्प -विकल्पों से रहित (**परमात्मानं**) परमात्मा को (**भावयेत्**) ध्याना चाहिए।

पूर्वोक्त रीति से, 'मैं बोधस्वरूप हूँ'—ऐसे स्वसंवेदन द्वारा बहिरात्मपना छोड़कर, अन्तरात्मा होना चाहिए और अन्तरात्मा होकर, समस्त सङ्कल्प-विकल्पों से रहित परमात्मा को भाना चाहिए—ऐसी परमात्मभावना, वह परमात्मा होने का उपाय है।

जो पर को शत्रु-मित्र मानता है, उसे परमात्मतत्त्व की भावना नहीं होती, उसे तो राग-द्वेष की ही भावना है। मैं सबसे पार बोधस्वरूप हूँ—ऐसा जानकर, बहिरात्मपना छोड़ना तथा अन्तरात्मा होना चाहिए। इस प्रकार आत्मस्वरूप के ज्ञाता अन्तरात्मा होकर अपने परमात्मतत्त्व को सर्वविकल्परहित होकर भाना चाहिए। ऐसी भावना से आत्मा का सहज सुख अनुभव में आता है और वीतरागी समाधि होती है। इसलिए सांसारिक द्वन्द -फन्द के विकल्प छोड़कर ज्ञानानन्दस्वरूप परमात्मा की ही भावना करना चाहिए। ●

बारम्बार परमात्मभावना का फल

ज्ञानानन्दस्वरूप को जानकर उसी की भावना करने से क्या फल मिलता है? यह अब कहते हैं—

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः।
तत्रैव दृढ़संस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम्॥२८॥

'मैं ही वह परमात्म हूँ', हों जब दृढ़ संस्कार।
इन दृढ़ भावों से बने, निश्चय उस आकार॥२८॥

अन्वयार्थ :- (**तस्मिन्**) उस परमात्मपद में (**भावनया**) भावना करते रहने से (**सः अहं**) वह अनन्त ज्ञानस्वरूप परमात्मा मैं हूँ (**इति**) इस प्रकार के (**आत्तसंस्कारः**) संस्कार को प्राप्त हुआ ज्ञानी पुरुष (**पुनः**) फिर-फिर उस परमात्मपद में आत्मस्वरूप की भावना करता हुआ (**तत्रैव**) उसी परमात्मस्वरूप में (**दृढ़संस्कारात्**) संस्कार की दृढ़ता हो जाने से (**हि**) निश्चय से (**आत्मनि**) अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप में (**स्थितिं लभते**) स्थिरता को प्राप्त होता है।

यह जो शुद्ध ज्ञानस्वरूप परमात्मा है, वही मैं हूँ—ऐसे संस्कार प्राप्त करके, बारम्बार उसी में भावना, उसी में दृढ़ संस्कार होने से आत्मस्वरूप में स्थिति होती है। इस प्रकार स्वरूप में स्थिरता होने पर, आत्मा परम आनन्दानुभव में मग्न होता है।

देखो, यह परमात्मा होने की भावना! अनादि से आत्मा के वास्तविक स्वरूप को भूलकर, शरीर वह मैं अथवा राग, वह मैं—ऐसी विपरीत भावना दृढ़रूप से बना रखी है, किन्तु देह से तथा राग से पार जैसे परमात्मा हैं, वैसा ही मैं हूँ—ऐसी भावना पहले जीव ने कभी नहीं भायी।'मैं, ज्ञान-आनन्द का पिण्ड परमात्मा हूँ'—अप्पा सो परमप्पा—ऐसी

दृढ़ भावना द्वारा उसमें एकत्वबुद्धि होने से अपूर्व आनन्द का स्वसंवेदन होता है। 'मैं मनुष्य हूँ'—आदि भावनाएँ जिस प्रकार दृढ़रूप से बँध गयी हैं, उसी प्रकार 'मैं मनुष्य नहीं किन्तु मैं तो देह से भिन्न ज्ञानशरीरी परमात्मा हूँ'—ऐसी भावना दृढ़रूप से बँधना चाहिए। इतनी दृढ़ भावना होना चाहिए कि उसी में अभेदता भासे, उसी में अपनत्व का भास हो, किन्तु देहादि में कहीं अपनत्व का भास न हो; स्वप्न भी ऐसा आये कि 'मैं चिदानन्द परमात्मा हूँ... अनन्त सिद्ध भगवन्तों के साथ मेरा वास है!'—इस प्रकार आत्मभावना के दृढ़ संस्कार द्वारा उसी में लीनता होने पर, आत्मा स्वयं परमात्मा हो जाता है। यह परमात्मस्वरूप की भावना का फल है क्योंकि 'जैसी भावना वैसा भवन।'

जो अपने आत्मा को शुद्धस्वरूप से भाता है—अनुभव करता है, उसे शुद्धतारूप भवन-परिणमन होता है; और जो अपने आत्मा का रागादि अशुद्धस्वरूप ही अनुभवन करता है, उसे अशुद्धतारूप परिणमन होता है।

वह आत्म ध्याता, ज्ञानदर्शनमय, अनन्यमयी हुआ।
बस अल्प काल जु कर्म से परिमोक्ष पावे आत्म का॥

—इसलिए आचार्य पूज्यपादस्वामी कहते हैं कि हे जीव! अपने आत्मा को शुद्ध परमात्मस्वरूप से जानकर, 'यही मैं हूँ'—ऐसी दृढ़ भावना कर और बारम्बार उसकी भावना करके उसमें लीन हो। निज परमात्मस्वरूप की दृढ़ भावना से जीव जब उसमें लीन होता है, (अर्थात् अभेद भावनारूप से परिणमित होता है), तब अनन्त आनन्दनिधान का उसे अनुभव होता है तथा वह अपने को वीतरागी परमानन्दस्वरूप परमात्मा मानता है; बाह्य पदार्थों के क्षणिक-काल्पनिक सांसारिक सुखों की ममता उसे छूट जाती है; बाह्य विषयों में उसे स्वप्न में भी सुख की कल्पना नहीं होती। इस प्रकार अभेदबुद्धि से परमात्मस्वरूप का चिन्तन करते-करते साधकदशा बढ़ती है और उसमें स्थिरता हो जाती है, उसी को शुद्धात्मलाभ कहते हैं। शुद्धात्मा की भावना के फल में प्रगटरूप शुद्धात्मदशा प्राप्त करके, जीव अनन्त काल तक अनुपम स्वाधीन आत्मसुख का भोक्ता होता है; इसलिए 'सोऽहम्' ऐसी अभेद भावना अर्थात् 'मैं ज्ञानानन्दस्वरूप परमात्मा हूँ'—ऐसे स्वसंवेदन का बारम्बार दृढ़तापूर्वक अभ्यास करना चाहिए। ●

आत्मा ही निर्मलधाम है
दूसरा तो भयस्थान है

ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को जानकर, बारम्बार उसी की भावना करने से आत्मा परमपद को प्राप्त होता है, इसलिए वह भावना करनेयोग्य है—ऐसा कहा। वहाँ अब कोई **प्रश्न** करता है कि प्रभो! जैसी आपने कही है, वैसी भावना तो कठिन / कष्टदायक प्रतीत होती है, और बाह्य पदार्थों की भावना सरल लगती है। इस प्रकार आत्मा की भावना तो भयस्थान और बाह्य विषय निर्भय प्रतीत होते हैं, तो फिर आत्मा में प्रवृत्ति कैसे हो? उसे आचार्यदेव **उत्तर** देते हैं कि अरे जीव! जहाँ तू कष्ट और भय मानता है, ऐसे तेरे चैतन्यपद के समान अन्य कोई स्थान निर्भय एवं इष्ट नहीं है और बाह्य पदार्थों को तू निर्भयता का कारण मानता है, किन्तु उन जैसा भयस्थान अन्य कोई नहीं है—

मूढ़ात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद्भयास्पदम्।
यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः ॥२९ ॥

मोही की आशा जहाँ, नहीं वैसा भय-स्थान।
जिसमें डर उस सम नहीं, निर्भय आत्म-स्थान ॥२९ ॥

अन्वयार्थ :- (**मूढात्मा**) अज्ञानी बहिरात्मा (**यत्र**) जिन शरीर-पुत्र-मित्रादि बाह्यपदार्थों में (**विश्वस्तः**) 'ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ' — ऐसा विश्वास करता है, (**ततः**) उन शरीर-स्त्री -पुत्रादि बाह्यपदार्थों से, (**अन्यत्**) अन्य कोई (**भयास्पदं न**) भय का स्थान नहीं है और (**यतः**) जिस परमात्मस्वरूप के अनुभव से (**भीतः**) डरा रहता है, (**ततः अन्यत्**) उसके सिवाय कोई दूसरा (**आत्मनः**) आत्मा के लिए (**अभयस्थानं न**) निर्भयता का स्थान नहीं है।

अरे, मूढ़ जीव! चैतन्य को चूककर तू बाह्य में शरीर, लक्ष्मी, कुटुम्बादि को अभयस्थान मानकर विश्वास कर रहा है, वे तो भयस्थान हैं; बाह्य में तुझे कोई शरणभूत नहीं है। अन्तर में चैतन्यस्वभाव ही परम शरण है; उसे भयस्थान मानकर तू उससे दूर भागता है, किन्तु अरे मूढ़! तेरे आत्मा समान अभयस्थान जगत में दूसरा कोई नहीं है।

अरे! तेरा चैतन्यतत्त्व भय का स्थान नहीं है, वह आकुलता का / दु:ख का स्थान नहीं है; तेरा चैतन्यतत्त्व अभयपद का स्थान है... शान्तिस्वरूप है... आनन्द का धाम है।— ऐसे आत्मतत्त्व के अतिरिक्त बाह्य में कोई वस्तु तुझे शरणभूत नहीं है, तेरे लिये अन्य कोई निर्भयता का स्थान नहीं है। अरे! ऐसा भगवान आत्मा अभयस्थान होने पर भी, मूढ़ जीव उससे डरते हैं–उसकी रुचि नहीं किन्तु खेद करते हैं; परिणाम में चंचलता और सन्देह करते हैं, वही भय है। बाह्य में शरीर, कुटुम्ब, लक्ष्मी आदि में सुख मानकर नि:शङ्करूप से भयरहित वर्तते हैं, किन्तु उनमें कहीं सुख नहीं है, वे कोई शरण के स्थान नहीं हैं। एक चैतन्यपद ही अभय है... वही शरण का स्थान है... इसलिए निर्भयरूप से उसमें प्रवर्तन करो—ऐसा 'स्वामी' का उपदेश है।

चैतन्यस्वभाव के प्रति रुचि उत्पन्न नहीं करता और बाह्य में रुचि लाकर वर्तता है; उसे चैतन्य का डर लगता है। जिसे भय का स्थान माने, उसमें कैसे वर्तेगा? और जिसे अभयस्थान मानता हो, उसे क्यों छोड़ेगा? अज्ञानी को चैतन्यस्वभाव का विश्वास नहीं आता, इसलिए नि:शङ्करूप से उसमें उल्लास नहीं करता। उससे दूर भागकर विषयों के समीप उल्लासपूर्वक जाता है... उनमें सुख का विश्वास करता है... जिस प्रकार मृग मृगजल के पीछे दौड़ता है; उसी प्रकार वह विषयों की ओर दौड़ता है... बाह्य विषयों को शरण मानकर उनके पीछे आतुरता से दौड़ता है और आकुलता से दु:खी होता है। जहाँ सुख की सत्ता विद्यमान है—ऐसे अपने आत्मा का विश्वास नहीं करता, उसमें आस्था नहीं रखता, वहाँ तो नास्तिक बन जाता है और बाह्य में सुख न होने पर भी, वहाँ सुख मानकर दौड़ता है। जिस प्रकार जिस मनुष्य को विषैले सर्प ने काटा हो, वह कड़वे नीम को भी प्रेम से चबा लेता है; उसी प्रकार जिसे मिथ्यात्वरूपी काले सर्प का विष चढ़ा है, वह जीव, दु:खदायक इन्द्रिय-विषयों को भी सुखदायक मानकर उनकी ओर दौड़ता है। इन्द्रिय-

विषय तो एकान्त भय के-दु:ख के स्थान हैं और यह अतीन्द्रिय चिदानन्दस्वरूप आत्मा ही अभयस्थान एवं सुख का धाम है। चैतन्योन्मुखता में आनन्दरस का अनुभव होता है, इसलिए तू अपने शुद्ध चैतन्यपद का अनुभव कर—ऐसा सन्तों का उपदेश है।

समयसार में भी आचार्यदेव ने शुद्ध आत्मा के अनुभव का ही उपदेश दिया है। वहाँ शिष्य **प्रश्न** करता है कि—प्रभो! आप प्रथम से ही शुद्ध आत्मा के अवलम्बन का उपदेश देते हैं, परन्तु वह तो कष्टदायक प्रतीत होता है; कोई व्यवहार का अवलम्बन बतलाइये! **तब आचार्यदेव कहते हैं** कि अरे भाई! व्यवहार के (शुभराग के) अवलम्बन में तेरा हित नहीं है, उसमें तो मात्र दु:ख ही है; और चैतन्यतत्त्व आनन्द का सागर है, उसमें सुख है; इसलिए शुद्धनय द्वारा उसी के अनुभव का उद्यम कर; वहीं से हित का प्रारम्भ होता है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, आत्मा के लिये हितकारी हैं, तथापि अज्ञानी उन्हें अहितकर / कष्टरूप मानते हैं और विषय-कषाय, आत्मा के लिये अहितकर हैं, तथापि अज्ञानी उनमें हित मानकर वर्तते हैं।

'छहढाला' में कहते हैं कि—

'रागादि प्रगट जे दु:खदेन, तिनहीं को सेवत गिनत चैन।'
'आतमहित-हेतु विराग ज्ञान, ते लखे आपको कष्ट दान।'

देखो, यह अज्ञानी के लक्षण! रागादि विभाव दु:खरूप होने पर भी, मूढ़ता से उन्हें सुखरूप मानकर उनका सेवन करता है और ज्ञान-वैराग्य, आत्मा के हित का हेतु होने पर भी, मूढ़ जीव उन्हें कष्टदायक मानता है। आत्मज्ञान को कष्टदायक समझकर उससे दूर भागता है और रागादि को सुखदायी मानकर उनकी ओर रुचिपूर्वक दौड़ता है। यह कैसी मूढ़ता है!! अज्ञानी जीवों की ऐसी प्रवृत्ति के लिये श्रीमद् राजचन्द्रजी करुणापूर्वक कहते हैं कि अरे जीव!—

''अनन्त सुख नाम दु:ख, त्यां रही न मित्रता,
अनन्त दु:ख नाम सुख, प्रेम त्यों विचित्रता!
उघाड़ न्याय नेत्रने, निहाल रे! निहाल तुं,
निवृत्ति शीघ्रमेव धारी, ते प्रवृत्ति बाल तुं।''

अहा, जो अनन्त सुख का धाम है, ऐसे चैतन्यस्वभाव में तो तुझे मित्रता नहीं रही— उसमें उत्साह और प्रेम नहीं आया; तथा अनन्त दु:ख के धाम ऐसे जो बाह्यविषय, उनमें तुझे प्रेम-उत्साह आया; यह कैसी विचित्रता है!! अरे जीव! अब अपने ज्ञानचक्षुओं को खोल! भाई! तेरा स्वभाव दु:खरूप नहीं है, उस स्वभाव के साधन में किञ्चित् कष्ट नहीं है और बाह्य विषयों की ओर की वृत्ति एकान्त दु:खरूप है, उसमें स्वप्न में भी सुख नहीं है। इस प्रकार विवेकपूर्वक विचार करके अपने अन्तरस्वभाव की ओर उन्मुख हो और बाह्य विषयों में सुखबुद्धि छोड़कर उनसे निवृत्त हो। नित्य निर्भयस्थान एवं सुख का धाम तो तेरा आत्मा ही है—

'सुखधाम अनंत सुसंत चही, दिनरात रहें तद् ध्यानमंही;'

अनन्त सुख का धाम ऐसा जो चैतन्यपद, उसे चाहनेवाले सन्त दिन-रात उसके ध्यान में रहते हैं; इसलिए हे जीव! तू अपने चैतन्यपद का विश्वास करके, जगत में मेरा चैतन्यपद ही सुख का धाम है—ऐसा दृढ़ विश्वास करके निर्भररूप से स्वभावोन्मुख हो... स्वभाव के निकट जाने से तुझे स्वयं को खबर पड़ेगी कि अहा! यह तो महा आनन्द का धाम है; इसकी साधना में कष्ट नहीं है, किन्तु वह तो कष्टक्षय का उपाय है.. यही मेरा निर्भय पद है।

चैतन्यस्वभाव में भीतर प्रवेश न करे, अरे! उसके निकट भी न आये और यों ही दूर से कष्टरूप मानकर उससे दूर भागे तथा विषयों की ओर दौड़े तो ऐसे मूढ़ जीव की चैतन्यध्यान में प्रवृत्ति कहाँ से होगी? इसलिए आचार्यदेव करुणापूर्वक समझाते हैं कि अरे जीव! जिनमें तू सुख मान रहा है, ऐसे इन्द्रियविषयों के समान अन्य कोई भयस्थान नहीं है और जिसमें तू कष्ट मान रहा है, ऐसी परमात्मभावना के अतिरिक्त कोई अभयस्थान नहीं है। भवदु:खों से तेरी रक्षा करे, ऐसा कोई अभयस्थान इस जगत में हो तो वह तेरा परमात्मतत्त्व ही है; इसलिए उसकी भावना में उद्यत हो।;

जैसे—किसी को विषैले सर्प ने काटा हो और विष चढ़ा हो तो वह कड़वा नीम भी प्रेम से चबा लेता है; उसी प्रकार जिसे मिथ्यारुचिरूपी विष चढ़ा है, वह जीव दु:खदायी ऐसे विषय-कषायों को सुखदायी समझकर उसमें संलग्न रहता है। पुनश्च, जिस प्रकार

पित्तज्वरवाले रोगी को मीठा दूध भी कड़वा लगता है; उसी प्रकार जिसे विपरीत रुचि का रोग लागू हुआ है, ऐसे बहिरात्मा को परम सुखदायक ऐसी आत्मस्वरूप की भावना भी कष्टरूप प्रतीत होती है। ऐसी विपरीतबुद्धि के कारण ही अज्ञानी जीव, आत्मस्वरूप की भावना नहीं भाता, किन्तु विषय-कषाय की ही भावना भाता है। सन्त-मुनि जहाँ आत्मस्वरूप की भावना की बात कहते हैं, वहाँ—'अरे! यह हम से कैसे हो सकता है ? आत्मज्ञान हमें कहाँ से होगा ?'—इस प्रकार भड़ककर भयभीत हो जाता है। अपने से यह हो ही नहीं सकता—ऐसा मानकर उसमें निरुत्साही रहता है और बाह्य विषयों में ही उत्साहरूप वर्तता है; इसीलिए जीव अनादि काल से दु:खी हो रहा है। वास्तव में इस जीव को अपने परमात्मतत्त्व की भावना के समान जगत में अन्य कोई तत्त्व सुखदायी नहीं है; इसलिए वह भावना ही कर्तव्य है।

जिस प्रकार-पहली बार राजदरबार में राजा के निकट जानेवाले को अपरिचितपने के कारण किञ्चित् क्षोभ या भय मालूम होता है, किन्तु जिसे बारम्बार राजा का परिचय हो गया है, उसे राजा के निकट जाने में क्षोभ या भय नहीं होता, किन्तु हर्ष होता है; उसी प्रकार चैतन्यराजा के दरबार में पहली बार आत्मानुभव का प्रयत्न करनेवाले को अनभिज्ञता के कारण कुछ कष्ट जैसा लगता है, किन्तु रुचिपूर्वक बारम्बार चैतन्यराजा का परिचय करने पर वह सुगम-सहज एवं आनन्दरूप प्रतीत होता है... और बारम्बार चैतन्यतत्त्व की भावना करके उसी में तल्लीन रहना चाहता है; इसलिए चैतन्यतत्त्व की भावना वास्तव में कष्टरूप नहीं है, किन्तु आनन्दरूप है—ऐसा विश्वास लाकर, हे जीव! तू बारम्बार उसकी भावना कर।

अरे! अभी तक अपने सुख को भूलकर तूने पर में सुख माना है... तू भ्रमणा से भूलकर दु:खी हुआ है। अरे! स्व-पद दुर्गम (कठिन) और पर-पद सुगम—ऐसा मानकर तूने स्व-पद की अरुचि की... और पर-पद को अपना बनाने का व्यर्थ परिश्रम करके दु:खी हुआ। न तो परवस्तु कभी आत्मा की हुई है और न होती है। यह चैतन्य ही तेरा स्व-पद है, वही तुझे शरण है, किन्तु तूने कभी अपने चैतन्य की शरण नहीं ली; इसलिए अरे जीव! अपने निर्भय चैतन्यपद को जानकर उसमें नि:शङ्करूप से एकाग्र हो।

परवस्तुएँ और रागादि तो अपद हैं–अपद हैं! यह शुद्ध चैतन्य ही तेरा स्वपद है–स्वपद है!

धर्मी जानता है कि जगत की चाहे जैसी प्रतिकूलता, वह कहीं भयस्थान नहीं है। मेरा चैतन्यस्वरूप अभय है। मैं निःशङ्करूप से चैतन्य में वर्तता हूँ; उसमें मुझे कोई संयोग भय उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है; मेरे चैतन्य दुर्ग में परसंयोगों का प्रवेश ही नहीं है; फिर भय किसका? अज्ञानी बाह्य संयोग में शरण मानकर—निर्भयता मानकर उसमें वर्तते हैं, किन्तु वह तो सचमुच भय का स्थान है। जिन्हें शरणभूत माना है, वे संयोग एक क्षण में दूर हो जायेंगे.... जिन माता-पिता या पुत्र को शरणभूत माना है, वे एक क्षण में न जाने कहाँ उड़ जायेंगे....लक्ष्मी और शरीर कहीं चले जायेंगे... इसलिए उनमें कहीं भी अभयस्थान नहीं है। जगत के किसी भी पदार्थ का संयोग ऐसा ध्रुव नहीं है कि जो शरणभूत हो सके! अरे, संयोग की ओर वर्तता हुआ तेरा ज्ञान भी एक क्षण में पलट जायेगा; उसमें भी तेरी शरण नहीं है; एक आतमराम ही तुझे शरणभूत है; उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके उसी में रमणता कर! वही अभयस्थान है।

हे नाथ! ऐसे अभयस्वरूप आत्मा की प्राप्ति का क्या उपाय है?—ऐसा पूछनेवाले शिष्य को आत्मप्राप्ति की विधि आगामी गाथा में समझायेंगे। ●

> **''आतमराम अविनाशी आव्यो एकलो....**
> **ज्ञान अने दरशन छे तारुं रूप जो....**
> **बहिरभावो ते स्पर्शे नहि आत्मने,**
> **खरे खरो अे ज्ञायक वीर गणाय जो...''**

परमात्म-प्राप्ति की विधि

शिष्य पूछता है कि प्रभो! ऐसे शरणभूत आत्मा की प्राप्ति का उपाय क्या है? अभयपदरूप जो मेरा परमात्मतत्त्व, उसका क्या स्वरूप है और मैं किस प्रकार उसका अनुभव करूँ?—ऐसा पूछने पर श्री पूज्यपाद—'जिनेन्द्रबुद्धि' देवनन्दीस्वामी कहते हैं कि—

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना।
यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मनः॥३०॥

इन्द्रिय विषय विरक्त हो, स्थिर हो निज में आत्म।
उस क्षण जो अनुभव वही, है निश्चय परमात्म॥३०॥

अन्वयार्थ :- (**सर्वेन्द्रियाणि**) सम्पूर्ण पाँचों इन्द्रियों को (**संयम्य**) अपने विषयों में यथेष्ट प्रवृत्ति करने से रोककर (**स्तिमितेन**) स्थिर हुए (**अन्तरात्मना**) अन्तःकरण के द्वारा (**क्षणं पश्यतः**) क्षणमात्र के लिए अनुभव करनेवाले जीव के (**यत्**) जो चिदानन्दस्वरूप (**भाति**) प्रतिभासित होता है, (**तत्**) वही (**परमात्मनः**) परमात्मा का (**तत्त्वं**) स्वरूप है।

सर्व इन्द्रियों को रोककर, अर्थात् उपयोग को अन्तर्मुख करके, स्थिर होकर अन्तर आत्मा द्वारा अवलोकन करने पर उस क्षण जो अनुभव में आता है, वही परमात्मतत्त्व है।

यह परमात्मतत्त्व अन्तर्मुख अनुभव का ही विषय है; बाह्य इन्द्रियों द्वारा वह प्रतिभासित नहीं होता। अतीन्द्रिय परमानन्दमय आत्मतत्त्व है; ज्ञानी अन्तर अवलोकन से उसका अनुभव करते हैं। सङ्कल्प-विकल्प द्वारा भी चैतन्यतत्त्व अनुभव में नहीं आता। आत्मा में उपयोग को स्थिर करने से ही वह अनुभव में आता है। यही परमात्मतत्त्व की

प्राप्ति का उपाय है। ऐसा परमात्मस्वरूप ही आत्मा को अभय का स्थान है; उससे बाहर तो सब भयस्थान ही हैं; कहीं शरण नहीं है।

जिसे आत्महित करना है, आत्मा के आनन्द का अनुभव करना है, उसे बाह्य विषयों से विमुख होकर, अन्तर स्वभावोन्मुख होने जैसा है। अभी जो बाह्य विषयों में सुख मानता है, बाह्य पदार्थों का कर्तृत्व मानता है, वह बाह्य विषयों से विमुख होकर अन्तरोन्मुख कैसे होगा? अन्तर के चैतन्य में ही सुख है; बाह्य विषयों में मेरा किञ्चित् सुख नहीं है—ऐसा निर्णय करके, उपयोग को अन्तर्मुख करके स्थिर होने से परमात्मतत्त्व के आनन्द का अनुभव होता है। चैतन्यसत्ता के अवलोकन की विद्या के बिना जीव का हित नहीं होता। चैतन्यसत्ता की शरण के बिना निर्भयता नहीं होती।

इन्द्रियों से पार होकर अन्तर्मुख ज्ञान द्वारा जहाँ परमात्मस्वरूप को जाना, वहाँ भान हुआ कि मेरा आत्मा ही परमात्मा है। अन्तर में स्वसंवेदन से जो तत्त्व जाना, वही परमात्मा का स्वरूप है। आत्मा के अनुभव द्वारा ऐसे परमात्मतत्त्व को जानने का उद्यम करना चाहिए।

अतीन्द्रिय आत्मा की ओर झुकाव होने से बाह्य इन्द्रियविषयों की वृत्ति छूट जाती है। बाह्य विषय तो छूटे ही हैं, किन्तु उपयोग को उस ओर से हटाकर आत्मस्वभाव में ले जाना है। प्रथम तो अपने परिणाम में ही ऐसा भासित होना चाहिए कि मेरे उपयोग का झुकाव पर की ओर जाये, उसमें मेरा सुख नहीं है... अन्तर में उपयोग की उन्मुखता ही सुख है—ऐसे निर्णयपूर्वक उपयोग को अन्तर में एकाग्र करना ही परम आनन्द के अनुभव की रीति है।

इस प्रकार उपयोग को अन्तर में एकाग्र करते ही अपना परमात्मतत्त्व अपने को साक्षात् दिखता है, अनुभव में आता है।●

केवलज्ञान का हृदय खोल दिया

दिगम्बर सन्तों ने जो बात कही है, वह अन्य कोई कह ही नहीं सकता। वह बात अन्य मत में तो होती ही नहीं। अहो! केवलज्ञान के साधकों ने केवली का हृदय खोल दिया है। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, दृष्टि ना निधान, बोल २६४*

मेरा आत्मा परमात्मा....
....मैं ही मेरा उपास्य

ज्ञानी जानता है कि मैंने स्वानुभव से जिस परमात्मतत्त्व को जाना, वही मैं हूँ; मैं ही परमात्मा हूँ; इसलिए मैं ही अपनी उपासना के योग्य हूँ, अपने से भिन्न अन्य कोई मुझे उपास्य नहीं है—ऐसा अब कहते हैं।

यः परात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥३१॥

मैं ही वह परमात्म हूँ, हूँ निज अनुभवगम्य।
मैं उपास्य अपना स्वयं, निश्चय है नहीं अन्य ॥३१॥

अन्वयार्थ :- (**यः**) जो (**परात्मा**) परमात्मा है, (**स एव**) वह ही (**अहं**) मैं हूँ तथा (**यः**) जो स्वानुभवगम्य (**अहं**) मैं हूँ, (**सः**) वही (**परमः**) परमात्मा है, (**ततः**) इसलिए, जबकि परमात्मा और आत्मा में अभेद है, (**अहं एव**) मैं ही (**मया**) मेरे द्वारा (**उपास्य**) उपासना किये जाने के योग्य हूँ (**कश्चित् अन्यः न**), दूसरा कोई मेरा उपास्य नहीं (**इति स्थितिः**) — ऐसी वस्तुस्थिति है।

जो परमात्मतत्त्व है, वही मैं हूँ और जो मैं हूँ, वही परमात्मतत्त्व हैं; इसलिए मैं ही अपना उपास्य हूँ; मुझसे भिन्न अन्य कोई मुझे उपास्य नहीं है—ऐसी वस्तुस्थिति है। आराध्य-आराधकभाव की व्यवस्था अपने स्वतत्त्व में ही समाहित होती है।

अज्ञानी ऐसा नहीं जानता कि 'आत्मा ही परमात्मा है' और आत्मा से भिन्न बाह्य में दूसरे को अपना उपास्य मानता है। ज्ञानी तो जानता है कि परमात्मशक्ति का पिण्ड मेरा आत्मा ही है; परमात्मा और मैं पृथक् नहीं हूँ; इसलिए मेरा आत्मा ही मेरा उपास्य है और

मैं अपना ही उपासक हूँ। कौन से परमात्मा ?—अपने से भिन्न अरहन्त और सिद्धपरमात्मा वास्तव में इस आत्मा के उपास्य नहीं हैं; स्वयं अपने आत्मा को ही परमात्मारूप से जानकर, उसी की अभेदरूप से उपासना करे, तब व्यवहार से अन्य परमात्मा की उपासना कही जाती है। अरहन्त और सिद्ध परमात्मा व्यवहार से ही इस आत्मा के उपास्य हैं और यह आत्मा उनका उपासक है, किन्तु निश्चय से अरहन्त और सिद्ध समान मेरा आत्मा ही मुझे उपास्य है; परमात्मपने की शक्ति मुझमें ही है। उसकी अभेदरूप से उपासना करने पर मैं स्वयं ही परमात्मा हो जाऊँगा। मुझसे भिन्न बाह्य में अन्य कोई मुझे उपासना के योग्य नहीं है। अपने आराध्य में एकाग्र होकर तल्लीन हो जाना, वह सच्ची उपासना है।

देखो, यह उपासना!! भाई! तुम किसके उपासक हो ?—ज्ञानी कहते हैं कि हम तो अपने शुद्ध आत्मा के ही उपासक हैं; अपना शुद्ध आत्मा ही हमारा परम इष्ट आराध्यदेव है। पञ्च परमेष्ठी प्रभु व्यवहार से आराध्य है, किन्तु निश्चय से उन जैसा मेरा शुद्ध आत्मा ही मेरा आराध्य है। अन्तर्मुख होकर स्वयं अपने आत्मा की उपासना करना, वह परमात्मा होने का उपाय है—ऐसी ही वस्तु की मर्यादा है।

किसकी आराधना से आत्मा को समाधि होती है—उसकी यह बात है।

जैसे सिद्धभगवान है, वैसा ही परिपूर्ण मेरा स्वरूप मुझमें शक्तिरूप से है। मैं जिस परमात्मपद को प्राप्त करना चाहता हूँ, वह कहीं बाह्य में नहीं है किन्तु मुझमें ही है—ऐसी आत्मस्वभाव की भावना के बल से ही समाधि होती है। ऐसे चैतन्य की भावना का अवलम्बन करने पर इन्द्रियविषयों से विरक्ति होकर वैराग्य की दृढ़ता होती है।

जीव, विकार से तो छूटना चाहता है। जिससे छूटना चाहता है, वही कहीं छूटने में सहायता करेगा ? रागादि विकार से तो छूटना है, तो फिर उस छूटने में राग कैसे सहायक होगा ? राग करते-करते छुटकारा होगा—ऐसा जो मानता है, उसे वास्तव में राग से छूटने की भावना नहीं है। पुण्य करते-करते मोक्ष के द्वार खुल जायेंगे—ऐसा माननेवाले को मोक्ष की सच्ची भावना ही नहीं है; मोक्ष को वह वास्तव में जानता ही नहीं है।

यहाँ पूज्यपादस्वामी कहते हैं कि अहो! जिन्हें मोक्ष की भावना हो, आत्मा को भवभ्रमण से छुड़ाना हो, वे जीव ऐसी भावना करें कि मैं तो परमात्मस्वरूप हूँ; जिस

परमपद को मैं साधना चाहता हूँ, वह मुझमें ही है; अपना परमात्मस्वभाव ही मुझे उपासने-योग्य है। ऐसी स्वभाव की भावना करो और राग की भावना छोड़ो। स्वभावभाव की भावना करके उसमें एकत्व करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और मोक्ष होता है। यदि राग से लाभ होने का भगवान का उपदेश हो तो वे भगवान स्वयं राग में क्यों नहीं रुके? भगवान, राग को छोड़कर वीतराग क्यों हुए? भगवान स्वयं राग को छोड़कर स्वरूप में स्थिर हुए, उसी से ऐसा सिद्ध होता है कि राग छोड़ने का ही भगवान का उपदेश है। राग से लाभ होता है—ऐसा जो मानता है, वह भगवान के उपदेश को नहीं मानता है।

भगवान का उपदेश तो ऐसा है कि तेरा आत्मा ही परमात्मा है, उसकी भावना कर। अपना परमात्मस्वरूप ही तुझे आराध्य है; राग आराध्य नहीं है; इसलिए पर से तथा राग से पराङ्मुख होकर आत्मस्वभाव की ही आराधना कर। जो ऐसी आराधना करता है, वही भगवान के दिव्य उपदेश को झेलकर उनके पदचिह्नों पर चलता है। जो राग को धर्म मानकर राग की ही आराधना करता है, वह भगवान के मार्ग पर चलनेवाला नहीं है। अरे जीव! तुझे सर्वज्ञ-भगवान के मार्ग पर चलना हो तो राग की भावना छोड़कर चिदानन्दस्वरूप की ही भावना कर... उसकी भावना में एकाग्र होकर चैतन्य जिनप्रतिमा बन... ऐसा परमात्मा का मार्ग है। जो ऐसे मार्ग पर चलता है, वह स्वयं परमात्मा हो जाता है। ●

ऐसा धन्य अवसर कब प्राप्त होगा?

चारित्रदशा के बिना मुक्ति नहीं है, धर्मात्मा श्रावक वैराग्यभावसहित सदा मुनिदशा की भावना भाता है।

तीर्थङ्करादि महापुरुष जिस चारित्र पन्थ में विचरण करके मोक्ष गये.... महापुरुषों के उस मार्ग में हम भी कब विचरेंगे, ऐसा धन्य अवसर हमारा कब आएगा। सम्पूर्ण प्रकार का बाह्याभ्यन्तर बन्धन या परिग्रह छोड़कर, निर्ग्रन्थरूप मुनि होकर और केवलज्ञान को साधकर मोक्ष प्राप्त करें। अहा! ऐसा अपूर्व अवसर हमारा कब आएगा।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, छहढाला प्रवचन, ५/४४८

ज्ञानी को आनन्दमय आत्मप्राप्ति

मेरा आत्मा ही परमात्मस्वरूप है, इसलिए वही मुझे उपास्य है—ऐसा जाननेवाला धर्मी क्या करता है ? – वह बतलाते हैं—

प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितम्।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्दनिर्वृतम्॥३२॥

निज में स्थित निज आत्म कर, कर मन विषायातीत।
पाता निजबल आत्म वह, परमानन्द पुनीत॥३२॥

अन्वयार्थ :– (**मां**) मुझे–मेरे आत्मा को (**विषयेभ्यः**) पञ्चेन्द्रियों के विषयों से (**प्रच्याव्य**) हटाकर, (**मया एव**) मेरे द्वारा ही–अपने ही आत्मा द्वारा (**अहं**) मैं (**मयि स्थितं**) मुझ में स्थित (**परमानन्दनिर्वृत्तम्**) परमानन्द से परिपूर्ण (**बोधात्मानम्**) ज्ञानस्वरूप आत्मा को (**प्रपन्नोऽस्मि**) को प्राप्त हुआ हूँ।

मेरा आत्मा ही परमात्मस्वरूप है, इसलिए वही मुझे आराध्य है—ऐसा मैंने जान लिया है; इसलिए अब बाह्य इन्द्रियविषयों से अपने आत्मा को च्युत करके, अपने में स्थित ज्ञानस्वरूप एवं परम आनन्द से परिपूर्ण ऐसे अपने आत्मा को, मैंने अपने ही द्वारा प्राप्त किया है।

अपने ज्ञान–आनन्दस्वरूप को मैंने अपने ही द्वारा प्राप्त किया है, राग द्वारा नहीं। राग के मार्ग पर चलने से ज्ञान–आनन्दमय परमात्मपद की प्राप्ति नहीं होती। राग के मार्ग पर चलते–चलते धर्म का होना जो मानता है, वह जीव, परमात्मा के मार्ग को नहीं जानता; वह परमात्मा के पन्थ पर—परमात्मा के पदचिह्नों पर—नहीं चलता। जिसे परमात्मा होना हो, उसे परमात्मा के पन्थ पर चलना चाहिए। बाह्य विषयों से च्युत होकर आत्मा के परम

ज्ञानानन्दस्वरूप में स्थिर होना ही परमात्मा का पन्थ है। हे जीव! तुझे परमात्मा होना हो तो तू इस प्रकार परमात्मस्वरूप की भावना करके परमात्मा के पदचिह्नों का अनुसरण कर... परमात्मतत्त्व की अभेद भावना भाकर चैतन्य जिनप्रतिमा बन!

धर्मी कहता है कि अपने परमात्मस्वरूप को ही परम आराध्य जानकर, मैं अपने में स्थिर हुआ हूँ और इस प्रकार मैं जिनेन्द्र भगवान के पुनीत पदचिह्नों पर चला जा रहा हूँ। जो राग से धर्म मानता है, वह जीव, विषयों से च्युत होकर ज्ञानानन्दस्वरूप में स्थिर नहीं होता; इसलिए वह भगवान के पदचिह्नों पर नहीं आता। मैं अपने आत्मा की ही उपासना करके उपासक / साधक हुआ हूँ। ऐसी साधना ही परमात्म-पद की प्राप्ति का उपाय है। देहादि से भिन्न मेरा आत्मा ही परमात्मशक्ति से परिपूर्ण हैं—ऐसा जानकर धर्मी अपने आत्मा को ही उपास्य मानकर, उसमें एकाग्रता द्वारा उसकी आराधना करता है और उस उपाय से परमात्मपद प्राप्त करके अनन्त काल तक शान्त परमानन्द रस में ही मग्न रहता है।

•

जगत में बलिहारी है

अहो! सन्तों के श्रीमुख से आत्मा के आनन्द की अथवा सम्यग्दर्शन की बात सुनने पर भी आत्मार्थी जीव को कैसा उल्लास आता है! सन्तों के हृदय में से प्रवाहित वह आनन्द का झरना कैसी भी प्रतिकूलता को भूला देता है और परिणति को सुख-सागर स्वभाव की ओर ले जाता है। यही मुमुक्षु का जीवन ध्येय है।

अहा! सम्यग्दर्शन कैसी परम शरणभूत वस्तु है कि किसी भी प्रसङ्ग में उसे स्मरण करने से जगत का सम्पूर्ण दुःख विस्मृत होकर आत्मा में आनन्द की स्फुरणा जागृत होती है। तब उस सम्यग्दर्शन के साक्षात् वेदन की क्या बात! वस्तुतः उन आनन्दमग्न समकिती सन्तों की जगत में बलिहारी है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, रत्न संग्रह, पृष्ठ २

निजात्मा की उपासना बिना दूसरे किसी उपाय से मुक्ति नहीं

ज्ञानी अन्तर्मुख होकर देहादि से भिन्न अपने चैतन्यस्वरूप की ही आराधना करते हैं—ऐसा ३२ वीं गाथा में कहा। अब, देहादि से भिन्न चैतन्यस्वरूप मेरा आत्मा ही मुझे आराध्य है—ऐसा जो नहीं जानता, वह जीव घोर तप करे, तथापि मुक्ति प्राप्त नहीं करता—ऐसा अब कहते हैं:—

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम्।
लभते स न निर्वाणं तप्त्वाऽपि परमं तपः॥३३॥

तन से भिन्न-गिने नहीं, अव्ययरूप निजात्म।
करे उग्र तप मोक्ष नहीं, जब तक लखे न आत्म॥३३॥

अन्वयार्थ :- (**एवं**) उक्त प्रकार से (**यः**) जो (**अव्ययं**) अविनाशी (**आत्मानं**) आत्मा को (**देहात्**) शरीर से (**परं न वेत्ति**) भिन्न नहीं जानता है, (**सः**) वह (**परमं तपः तप्त्वापि**) घोर तपश्चरण करके भी (**निर्वाणं**) मोक्ष को (**न लभते**) प्राप्त नहीं करता है।

इस प्रकार अपने उपयोग को बाह्य विषयों से च्युत करके, अर्थात् अन्तर्मुख करके, देहादि से भिन्न अविनाशी आत्मा को जो जीव नहीं जानता, वह महान तप करे, तथापि निर्वाण को प्राप्त नहीं होता।

निर्वाण का मार्ग तो अन्तर में आत्मा के आधार से है। आत्मा की शक्ति को जो नहीं जानता, वह पराधीनरूप से संसार में भटकता है। आत्मा दैवीय चैतन्यशक्तिवाला देव है, स्वयं ही अपना आराध्य देव है।

आप किस शक्ति के उपासक हैं ?—ऐसा पूछने पर धर्मी कहता है कि मैं अपनी चैतन्यशक्ति का ही उपासक हूँ। अपनी चैतन्यशक्ति को जानकर उसकी उपासना के बिना अन्य किसी उपाय से मुक्ति नहीं होती।

जिसे देह से भिन्न चैतन्यतत्त्व का भान नहीं है, चैतन्य के आह्लाद का वेदन नहीं है और देह को ही आत्मा मानकर घोर तपश्चरण करता है, वह जीव घोर तप करने पर भी मुक्ति को प्राप्त नहीं होता; मात्र खेद को ही प्राप्त होता है। आनन्द में लीनता हो, वहाँ तो खेद के बिना सहज ही तप हो जाता है।

देह से भिन्न चैतन्यतत्त्व ही धर्म का साधन है; उसे जो नहीं जानता और शरीर को धर्म का साधन मानता है, वह शरीर को ही आत्मा मानता है। वह अविनाशी चैतन्य का अवलोकन नहीं करता और शरीर को आत्मा मानता है, उसकी तो दृष्टि ही विपरीत है। विपरीत दृष्टि से चाहे जितने व्रत-तप-त्याग करे किन्तु उसे मुक्ति नहीं होती; वह मोक्ष के कारण को नहीं जानता। आत्मा क्या और अनात्मा क्या ?—उसके भेदज्ञान बिना धर्म का साधन नहीं होता। शुद्ध चिदानन्दस्वभाव मैं हूँ—इस प्रकार जहाँ ज्ञान स्वोन्मुख हुआ, वहाँ रागादि को हेय जानकर उससे विमुख हुआ। यदि राग को हेय न जाने तो ज्ञान उसकी उपेक्षा करके स्वोन्मुख कैसे हो ? ज्ञायकमूर्ति आत्मा ही मुझे उपादेय है—ऐसा जानकर स्वभाव की साधना के अतिरिक्त अन्य कोई मोक्ष का उपाय नहीं है। चैतन्य के आनन्द में लीनता के बिना अज्ञानी जो तप आदि करता है, वह सब क्लेश है। भगवान जिनदेव की आज्ञा को जाने बिना वह क्लेश करता है तो करे, किन्तु उस क्लेश द्वारा कहीं मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। वास्तव में तो जिसमें क्लेश है, उसे तप कहा ही नहीं जाता; तप तो उसे कहा जाता है, जहाँ चैतन्य का प्रतपन हो... चैतन्य के आनन्द का उग्र अनुभव हो... जहाँ चैतन्य की शान्ति का वेदन नहीं है, वहाँ वास्तव में तप नहीं है किन्तु 'ताप' है, क्लेश है।

आत्मा का चैतन्यस्वभाव स्वयं सुखरूप है और दु:ख का कारण तो विकार है। चैतन्यस्वभाव और विकार—इन दोनों का जहाँ भेदज्ञान नहीं है, वहाँ विकार से आत्मा का छुटकारा कैसे हो ? आत्मा का स्वभाव क्या और उससे विरुद्ध विभाव क्या—उन दोनों की भिन्नता को जो नहीं जानता और देहादि को ही आत्मा मानता है, उसकी तो मूल में भूल है। जहाँ मूल में भूल है, वहाँ जो भी साधन किये जायें, वे सब व्यर्थ हैं। आत्मा के ज्ञान बिना वह भूल दूर नहीं होती और निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती; इसलिए देह से भिन्न स्वसंवेद्य ज्ञानानन्दतत्त्व को जानने का उपदेश है।

मोक्ष तो देहरहित है-रागरहित है। देह को और राग को ही जो आत्मा का स्वरूप मानता हो, वह उससे कैसे छूटेगा? चैतन्यस्वभाव, देह से और राग से पार है; उसका स्वसंवेदन ही मोक्ष का उपाय है। देह को तथा राग को आत्मा मानकर मन्दकषाय से तप करे, वह अनाज को छोड़कर मात्र भूसी कूटने के समान है; उसके तप को ज्ञानी, अज्ञान तप-कुतप-बालतप कहते हैं और ऐसे अज्ञानतप से कभी मुक्ति नहीं होती। रागादि से लाभ माननेवाले को मन्दकषाय कहना भी व्यवहाराभास का स्थूल व्यवहार (मात्र शुभ परिणाम की अपेक्षा से) है; अभिप्राय की अपेक्षा से तो वह अनन्त कषाय में डूबा है।

चेतनस्वरूप आत्मा के अन्तरङ्ग परिचय के बिना शुभराग से चाहे जितने व्रत-तप करे, तथापि मुक्ति का उपाय हाथ नहीं आता। देह से और राग से पृथक् होना है, उसके बदले जो देह को और राग को ही आत्मा मानता हो तो उनसे कब छूट सकेगा? देह से और राग से भिन्न मैं तो चैतन्यस्वरूप हूँ—ऐसा ज्ञान करके, उसमें एकाग्रता द्वारा ही जीव मुक्त होता है।

अज्ञानी को चैतन्य के आनन्द का भान नहीं है; इसलिए उसके व्रत-तप तो सांसारिक भोग के हेतु ही हैं; आत्मा के अतीन्द्रिय चैतन्य विषय की रुचि छोड़कर जिसने व्रत-तप के राग की रुचि की—राग से हित माना, उस जीव को संसार के भोग की प्राप्ति है और संसार के भोग की वांछा तो महान अशुभ (-मिथ्यात्व) है; उसके फल में वह जीव घोर संसार में परिभ्रमण करेगा।

व्रत-तप में खेद के परिणाम हों, वह तो पाप हैं, किन्तु कदाचित् शुभभाव से व्रत -तप करे तो भी ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा में एकाग्रता के बिना वह सब निरर्थक है; उसका फल भी संसार ही है; उसके द्वारा निर्वाण प्राप्त नहीं होता।

इस ३३ वीं गाथा में ऐसा कहा है कि अज्ञानी, घोर तपश्चरणादि करने पर भी निर्वाण को प्राप्त नहीं होता, किन्तु क्लेश ही पाता है। उसके समक्ष ज्ञानी की बात करते हुए अब ३४ वीं गाथा में कहेंगे कि—ज्ञानी, भेदज्ञान द्वारा चैतन्य के आह्लाद का अनुभव करता हुआ घोर तपश्चरणादि में भी किञ्चित् क्लेश प्राप्त नहीं करता। ●

ज्ञानी का तप आनन्ददायक है

जिसे आनन्दस्वरूप आत्मा का भान नहीं है—ऐसे अज्ञानी को स्वयं तपश्चरण व्रतादि में खेद लगता है; इसलिए वह मानता है कि ज्ञानी सन्तों को भी तपश्चरण में खेद होता होगा; उसे ऐसी शङ्का होती है कि मुक्ति के लिये घोर तप करनेवाले ज्ञानी-सन्तों को भी महा दु:ख होता होगा और चित्त में खेदखिन्न रहते होंगे; इसलिए उन्हें मुक्ति कैसे हो सकती है ? उस शङ्का का समाधान करते हुए आचार्य पूज्यपादस्वामी कहते हैं कि—

आत्म-देहान्तर-ज्ञान-जनिताह्लाद-निर्वृतः।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते॥३४॥

भेदज्ञान बल है जहाँ, प्रगट आत्म आह्लाद।
हो तप दुष्कर घोर पर, होता नहीं विषाद॥३४॥

अन्वयार्थ :- (**आत्मदेहांतरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः**) आत्मा और शरीर के भेद-विज्ञान से उत्पन्न हुए आनन्द से जो आनन्दित है, वह (**तपसा**) तप के द्वारा-द्वादश प्रकार के तप द्वारा उदय में लाए हुए (**घोरं दुष्कृतं**) भयानक दुष्कर्मों के फल को (**भुञ्जानः अपि**) भोगता हुआ भी (**न खिद्यते**) खेद को प्राप्त नहीं होता है।

अरे भाई! आत्मा और शरीर के भेदज्ञान द्वारा, चैतन्य में एकाग्र हुए धर्मात्मा तो आनन्द से आह्लादित हैं, वे तो चैतन्य के आनन्द में झूलते हैं, अनाकुल शान्तरस के वेदन में डुबकी लगाकर लीन हुए हैं, वहाँ अनेक उपवासादि तपश्चरण सहज ही हो जाते हैं; उनमें उन्हें खेद नहीं होता, किन्तु चैतन्य के आनन्द का विषयातीत आह्लाद आता है। अरे! चैतन्य के अनुभव में दु:ख कैसा ? भगवान ऋषभदेव छह महीने तक ध्यान में ऐसे लीन रहे कि चैतन्य के आनन्द में बीच में आहार की वृत्ति ही नहीं उठी। उसमें कहीं उन्हें दु:ख

नहीं था। तत्पश्चात् दूसरे छह महीने भी तप किया। लगभग एक वर्ष के उपवास हुए, तथापि परिणाम में किञ्चित् खेद नहीं था; आत्मा के आनन्द में विशेष लीनता थी। ज्ञानी आनन्द में लीनता द्वारा मुक्ति को साधते हैं। मुक्ति की साधना करते हुए दु:ख का अनुभव हो तो उसने मुक्ति के मार्ग को जाना ही नहीं है। मुक्ति तो परमानन्द की प्राप्ति है और उसका उपाय भी आनन्दमय है; उसके उपाय में दु:ख नहीं है।

बाह्य में चाहे जैसी प्रतिकूलता आ पड़े, तथापि आत्मा के आनन्द से आनन्दित सन्तों को किञ्चित् दु:ख या खेद नहीं होता। देह को और संयोगों को अपने से भिन्न जानकर जो आत्मा में ही लीन हुए हैं, उन्हें दु:ख कैसा? चैतन्य का स्वभाव ही आनन्द है—**'आनन्दं ब्रह्मणो रूपं'**—उसके चिन्तन में दु:ख क्यों होगा?

अहो! ज्ञानी को तो आत्मस्वरूप में अन्तर्लीनता से अपूर्व आनन्द का अनुभव है, किन्तु संयोगदृष्टिवाले मूढ़ अज्ञानी जीव को ज्ञानी के अन्तर की खबर नहीं है। वे मूढ़ता के कारण ऐसा मानते हैं कि प्रतिकूल संयोगों से ज्ञानी को दु:ख होता होगा। सिंह आकर ध्यानस्थ मुनि के शरीर को फाड़ रहा हो, वहाँ जिसे ऐसा लगे कि —'अरे रे! इन मुनि को महा दु:ख होगा!'—तो वह जीव महा मूढ़ है। अरे मूढ़! सन्त तो अन्तर चैतन्यस्वरूप की लीनता से महा सुखी हैं—महा आनन्दी हैं; शरीर को सिंह खा रहा हो उसमें क्या हुआ? शरीर से आत्मा को भिन्न जानकर, सन्त तो चैतन्य में लीन होकर आनन्द का ही अनुभव करते हैं।

साधक सन्तों पर उपसर्ग आये तो धर्मात्मा भक्तों को उसे दूर करने की वृत्ति उठे बिना नहीं रहती, किन्तु वहाँ सामनेवाले सन्तों को दु:खी मानकर वह भाव नहीं आता; अपने राग के कारण—भक्तिभाव के कारण—वह वृत्ति उठती है। संयोग की ओर झुकाव के कारण जिसे राग-द्वेष होते हैं, उसी को दु:ख होता है, किन्तु जिन्हें संयोग के प्रति झुकाव नहीं है और स्वभाव की ओर उन्मुख हो गये हैं—ऐसे सन्तों को राग-द्वेष नहीं होते और चाहे जैसे संयोग से उन्हें दु:ख नहीं होता; आनन्द का ही अनुभव है और इस प्रकार चैतन्य के आनन्द में लीन होकर वे मुक्ति की साधना करते हैं।

जहाँ शरीर को आत्मा माना, वहाँ शरीर के प्रति ममत्व के कारण ही अज्ञानी

दुःखी—खेदखिन्न होता है, किन्तु जहाँ आत्मा को शरीर से भिन्न जाना, शरीर का ममत्व ही छूट गया और चैतन्य में लीनता हुई, वहाँ धर्मी को आनन्द की ही अटूट धारा बहती है; उसमें उसे खेद या दुःख नहीं होता। भेदज्ञानपूर्वक ऐसी तपस्या ही मोक्ष का कारण है।

आत्मा और शरीर का भेदज्ञान करके जहाँ आत्मा में एकाग्र हुआ, वहाँ समस्त बाह्य विषयों की चिन्ता छूट जाती है और अपने परम अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है। चाहे जैसे बाह्य संयोगों में भी उनका आनन्द अबाधित रहता है; बाह्य संयोगों की प्रतिकूलता से या व्रत-तप से उन्हें खेद नहीं होता। ●

वचनातीत आनन्दमय मुनिदशा

मुनि तो आश्चर्यकारी आनन्द तरङ्गों में डोलते हैं। अहा! उसका वर्णन वाणी से नहीं हो सकता! जहाँ शक्ति में से व्यक्ति / प्रगटता हुई, शान्ति का, आनन्द का, स्वच्छता का, सम्यग्दर्शन का, स्वसम्वेदन का, चारित्र का ज्वार आया, वहाँ ज्ञानी आश्चर्यकारी आनन्द तरङ्गों में डोलता है। अन्तर में आनन्द का नाथ उल्लसित हुआ है, उसमें दृष्टि और एकाग्रता होने पर, वह एकाग्रता की पर्याय आनन्द तरङ्गों में डोलती है।

यहाँ तो अनन्तगुणों से भरपूर आत्मा स्वभाव के सन्मुख हुआ और रागादि विभाव तथा पर्याय से विमुख हुआ, तब अन्तर में चमत्कारिक पर्यायों की तरङ्गें उठीं आश्चर्यजनक ज्ञानपर्याय, आश्चर्यजनक सम्यक्त्वपर्याय, आश्चर्यजनक चारित्रपर्याय, आश्चर्यजनक आनन्दपर्याय आदि अनन्त गुणों की अद्‌भुत पर्यायें मुनिराज को उत्पन्न हुईं। पञ्च महाव्रत या नग्नता, वह मुनिपना नहीं है, परन्तु भीतर अनन्त गुणों का समुद्र भरा है उसमें दृष्टि देने पर, उसकी प्रतीति होने पर आनन्दादि गुणों की तरङ्गें उठें वह धर्म एवं मुनिपना है। जैसे समुद्र में ज्वार और नदी में बाढ़ आती है, वैसे ही साधक सन्तों की-मुनिराज को-अन्तर में आनन्दादि तरङ्गें उछलती हैं, पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का ज्वार आता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, पृष्ठ २७७

जहाँ खेद है वहाँ आत्मा नहीं
निजानन्द के कल्लोल को ज्ञानी ही देखता है

जब तक बाह्य पदार्थों में 'यह मुझे इष्ट और यह अनिष्ट'—ऐसी राग-द्वेष की बुद्धिरूप कल्लोलों से जीव चञ्चल है, तब तक चैतन्य के आनन्द का अनुभव नहीं होता। जिसका चित्त समस्त बाह्य पदार्थों से भिन्न अपने ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की ओर उन्मुख हुआ है; वह जीव, राग-द्वेषादि कल्लोलों से रहित स्थिर है और ऐसे स्थिर चित्तवाला जीव ही परम आनन्दमय आत्मतत्त्व को देखता है, दूसरे नहीं देख सकते—ऐसा अब कहते हैं—

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनो जलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं स तत्त्वं नेतरो जनः ॥३५॥

चञ्चल चित्त लहे न जब, राग रु द्वेष हिलोर।
आत्म-तत्त्व वह ही लखे, नहीं क्षुब्ध नर ओर॥३५॥

अन्वयार्थ :- (**यन्मनोजलम्**) जिसका मनरूपी जल (**राग-द्वेषादिकल्लोलैः**) राग-द्वेष-काम-क्रोध-मान-माया-लोभादि तरङ्गों से (**अलोलं**) चञ्चल नहीं होता, (**सः**) वही पुरुष, (**आत्मनः तत्त्वम्**) आत्मा के यथार्थस्वरूप को (**पश्यति**) देखता है-अनुभव करता है; (**सः तत्त्वम्**) उस आत्मतत्त्व को (**इतरो जनः**) दूसरा राग-द्वेषादि कल्लोलों से आकुलितचित्त मनुष्य (**न पश्यति**) नहीं देख सकता है।

जिसका ज्ञानरूपी जल, राग-द्वेषादि कल्लोलों से अविक्षिप्त है, वह आत्मतत्त्व को देखता है, दूसरे जन उसे नहीं देखते। जिस प्रकार मैले या तरंगयुक्त पानी में पड़ी हुई वस्तु दिखायी नहीं देती; उसी प्रकार जिसका ज्ञानजल, मिथ्यात्वरूपी मैल से या राग

-द्वेषरूपी कल्लोलों से विक्षिप्त है—चञ्चल है, उसके ज्ञान में आनन्दमय आत्मा का अनुभव नहीं होता।

यह आत्मतत्त्व, राग-द्वेषादि कल्लोलों द्वारा वेदन में नहीं आता। जिसे आत्मा की आराधना में कष्ट होता है, उसने आत्मा को देखा ही नहीं है। परमानन्दस्वरूप आत्मा की आराधना में कष्ट क्यों होगा? बाह्य पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट सङ्कल्पों के तरङ्ग से जो डाँवाडोल वर्तता है, उसे आत्मा के आनन्द में लीनता नहीं होती। चैतन्य-सरोवर का जल, राग-द्वेष की तरङ्गों से डोल रहा है, वहाँ समाधि नहीं होती। राग-द्वेष से परिपूर्ण मनरूपी घट फूटे बिना मन, आत्मा में स्थिर नहीं होता। जिस प्रकार तरङ्गों से उछलते हुए पानी की गहराई में पड़ी हुई वस्तु दिखायी नहीं देती; उसी प्रकार जिसका ज्ञान जल, मिथ्यात्वरूपी मैल से या राग-द्वेषरूपी कल्लोलों से विक्षिप्त है—चञ्चल है, उसके ज्ञान में आनन्दमय आत्मा का अनुभव नहीं होता।

यह आत्मतत्त्व राग-द्वेषादि कल्लोलों द्वारा वेदन में नहीं आता। जिसे आत्मा की आराधना में कष्ट का अनुभव होता है, उसने आत्मा को देखा ही नहीं है। परमानन्दस्वरूप आत्मा की आराधना में कष्ट क्यों होगा? बाह्य पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट सङ्कल्पों की तरङ्गों से जो डाँवाडोल वर्तता है, उसे आत्मानन्द में लीनता नहीं होती। चैतन्य सरोवर का जल राग-द्वेषरूपी तरङ्गों से डोल रहा है, वहाँ समाधि नहीं होती। राग-द्वेष से परिपूर्ण मनरूपी घट फूटे बिना मन आत्मा में स्थिर नहीं होता। जिस प्रकार तरङ्गों से उछलते हुए पानी की गइराई में पड़ी हुई वस्तु दिखायी नहीं देती, उसी प्रकार जिसका ज्ञान जल-राग-द्वेषरूपी तरङ्गों से उछल रहा है, उसे भीतर विद्यमान आत्मतत्त्व का दर्शन नहीं होता। राग-द्वेषरहित निर्विकल्प चित्त द्वारा आत्मदर्शन होता है। चिदानन्दतत्त्व में गहराई तक उतरने से राग-द्वेषादि के सङ्कल्प छूट जाते हैं और मन स्थिर-शान्त होकर आत्मा में आनन्द की कल्लोल उछलती हैं। ऐसे शान्त उपयोगवाला जीव ही अपने परम तत्त्व को देखता है; अन्यजन उसे नहीं देख सकते।

प्रभो! आत्मदर्शन क्या है-उसकी भी तुझे खबर नहीं है, तो शान्ति या समाधि कहाँ से होगी? अन्तर के चैतन्य का निर्विकल्प वेदन न हो, तब तक तो सम्यग्दर्शन भी नहीं होता। सङ्कल्प-विकल्पों से विमुख होकर, चैतन्यस्वभाव की ओर झुककर, निर्विकल्प

वेदन करे, तब जीव को सम्यग्दर्शन होता है; सम्यग्दर्शन के पश्चात् मुनिदशा या समाधि होती है। सम्यग्दर्शन होने से अमुक शान्ति और समाधि तो हुई है किन्तु अभी मुनिदशा की विशेष समाधि नहीं है। सङ्कल्प-विकल्प रहित चैतन्यतत्त्व का आनन्द जिसके वेदन में नहीं आया, उसे दुःख और खेद के परिणाम हुए बिना नहीं रहते। निर्विकल्प मन द्वारा आत्मदर्शन होता है; यहाँ 'मन' अर्थात् ज्ञान समझना। ज्ञान जहाँ अन्तर्मुख हुआ, वहाँ निर्विकल्प हो गया, और आत्मा के आनन्द का वेदन होने लगा। अब वह ज्ञानसरोवर राग-द्वेषादि तरङ्गों से डोलायमान नहीं होता; उसमें राग-द्वेष के विक्षेप नहीं हैं, उस चैतन्य में सरोवर में आनन्द की तरंगें हैं।

मिथ्यात्व सबसे बड़ा विक्षेप है; रागादि से किञ्चित् भी लाभ होगा—ऐसी मिथ्याबुद्धि, वह आत्मदर्शन में महान विक्षेप है। उस विक्षेप में अटका हुआ ज्ञान अन्तर्मुख होकर आत्मा को नहीं देख सकता। मिथ्यात्व का नाश करके आत्मा का सम्यग्ज्ञान प्रगट करने के पश्चात् जब तक राग-द्वेषरूपी कल्लोलों से ज्ञानजल चंचल वर्त रहा है, तब तक निर्विकल्प आनन्द का वेदन नहीं होता। जब ज्ञान उपयोग अन्तरोन्मुख होकर, राग-द्वेषरहित निर्विकल्परूप से स्थिर होता है, तब आत्मतत्त्व स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से अनुभव में आता है; राग-द्वेष के विकल्प में युक्त ज्ञान, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से आत्मा का अनुभव नहीं कर सकता।

अतीन्द्रिय आत्मस्वरूप की सन्मुखता द्वारा राग-द्वेषादि तरङ्गें शान्त हो जाती हैं। चैतन्यस्वभाव की सन्मुखता के बिना अन्य किसी उपाय से राग-द्वेष की तरङ्गें शान्त नहीं होती। बाह्य अनुकूलता के लक्ष्य से जो शान्त परिणाम दिखायी दें, वह सच्ची शान्ति नहीं है। अन्तरस्वभाव के लक्ष्य से राग-द्वेष का अभाव होते ही सच्ची शान्ति होती है। अन्तर्मुख उपयोग के समय निर्विकल्पदशा में परमात्मतत्त्व आनन्दसहित स्फुरायमान होता है-प्रगट अनुभव में आता है। ज्यों-ज्यों ऐसा अनुभव बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों राग-द्वेष छूटते जाते हैं और वीतरागी समाधि होती जाती है; फिर बाह्य में चाहे जैसी प्रतिकूलता या अनुकूलता से भी उसका चित्त चलायमान नहीं होता, स्वरूपलीनता में जो अचिन्त्य आनन्द है, उसे धर्मी स्वयं ही जानते हैं; दूसरे बाह्यदृष्टि जीव उसे नहीं जानते।

इसलिए हे जीव! तू अपने मन को अन्तर्मुख करके चैतन्यस्वरूप में स्थिर कर—ऐसा अगली गाथा में कहते हैं।●

चित्त को चैतन्य में स्थिर कर

राग-द्वेषरहित होकर चैतन्यस्वभाव के सन्मुख एकाग्र होना ही आत्मा का अविक्षिप्त मन है; वही आत्मा का तत्त्व है; और राग-द्वेष में लगा हुआ मन तो विक्षिप्त है; उसे आत्मा का तत्त्व नहीं मानते। विक्षिप्त मन तो आस्रव-बन्ध है और अविक्षिप्त मन, वह संवर-निर्जरा है। इसलिए आचार्यदेव, विक्षिप्त मन छोड़कर चैतन्यस्वरूपोन्मुख होकर अविक्षिप्त मन धारण करने को कहते हैं—

अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः।
धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः ॥३६॥

निश्चल मन ही तत्त्व है, चञ्चलता निज-भ्रान्ति।
स्थिर में स्थिरता राखि, तज अस्थिर मूल अशान्ति ॥३६॥

अन्वयार्थ :- (**अविक्षिप्तं**) रागादि परिणति से रहित तथा शरीर और आत्मा को एक माननेरूप मिथ्याअभिप्राय से रहित, जो स्वरूप में स्थिर है, (**मनः**) वही मन है, (**आत्मनः तत्त्वं**) आत्मा का वास्तविक रूप है और (**विक्षिप्तं**) रागादिरूप परिणत हुआ एवं शरीर तथा आत्मा के भेदज्ञान से शून्य मन है, वह (**आत्मनः भ्रान्तिः**) आत्मा का विभ्रम है; आत्मा का निजरूप नहीं है; (**ततः**) इसलिए तत् (**अविक्षिप्तं**) उस राग-द्वेषादि से रहित मन को (**धारयेत्**) धारण करना चाहिए और (**विक्षिप्तं**) राग-द्वेषादि से क्षुब्ध हुए मन को (**न आश्रयेत्**) आश्रय नहीं देना चाहिए।

अविक्षिप्त मन, अर्थात् राग-द्वेषरहित अन्तर में स्थिर हुआ ज्ञान ही आत्मा का तत्त्व है; और रागादिरूप से परिणत विक्षिप्त मन तो आत्मा का विभ्रम है—वह वास्तविक स्वरूप नहीं है; इसलिए हे भव्य ! तू उस अविक्षिप्त मन को धारण कर और राग-द्वेष में वर्तते हुए विक्षिप्त मन को धारण न कर।

'अविक्षिप्त मन' अर्थात् निर्विकल्प स्थिरता, वह आत्मतत्त्व है; अन्तर में स्थिर निर्मलपर्याय को ही अभेदरूप से आत्मा कह दिया है, और 'विक्षिप्त मन' अर्थात् सङ्कल्प-विकल्प, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है; देहादि में आत्मबुद्धि करना, वह भ्रान्ति है; उसे यहाँ विक्षिप्त मन कहा है। पर में आत्मबुद्धिवाले जीव का मन कभी सङ्कल्प-विकल्परहित होकर स्थिर नहीं होता; इसलिए अविक्षिप्त नहीं होता, किन्तु राग-द्वेष से विक्षिप्त ही रहता है; वह वास्तव में आत्मा का तत्त्व नहीं है। जो जीव देहादि तथा विकार से भेदज्ञान करके आत्मा में ही आत्मबुद्धि करता है, उसका मन सङ्कल्प-विकल्परहित होकर चैतन्य में स्थिर होता है; वह अविक्षिप्त मन, आत्मा का तत्त्व है। अन्तरोन्मुख सम्यक्भावश्रुतज्ञान को यहाँ अविक्षिप्त मन कहा है तथा उसी को आत्मा कहा है। उस 'मन' को बाह्य विषयों का अथवा जड़ मन का अवलम्बन नहीं है; चैतन्य का ही अवलम्बन है। 'भावमन भी आत्मा का स्वरूप नहीं है'—ऐसा कहा जाता है, वह तो सङ्कल्प-विकल्प / राग-द्वेषवाले मन की बात है और यहाँ अविक्षिप्त मन को आत्मा कहा है, वह सङ्कल्प-विकल्परहित होकर अन्तर में एकाग्र हुए निर्विकल्प भाव की बात है।

जो आत्मलाभ की इच्छा रखते हों, वे राग-द्वेषवाले विक्षिप्त चित्त को छोड़ें और चैतन्य में ही मन को एकाग्र करके अविक्षिप्त करें। उस अविक्षिप्त मन से आत्मा की प्राप्ति होती है।

बाह्य विषयों में वर्तता हुआ सङ्कल्प-विकल्पसहित मन तो संसार का कारण है और चैतन्य में स्थिर हुआ निर्विकल्प मन, वह मोक्ष का कारण है। बाह्य-विषयों का मनन-चिन्तवन करनेवाला मन, संसार का कारण है और चैतन्य विषय का मनन करनेवाला मन, वह मोक्ष का कारण है; इसलिए चैतन्यस्वरूप में मन को स्थिर करने का दृढ़ प्रयत्न करो—ऐसा पूज्यपादस्वामी का उपदेश है।

जहाँ सुख का अनुभव हो, वहाँ ज्ञान स्थिर होता है... जिसे पर में सुख का अनुभव होता हो, उसका ज्ञान, राग से हटकर स्वभाव में स्थिर नहीं होता। आननद तो आत्मा का स्वभाव ही है; इसलिए आत्मा स्वयं ही आनन्दस्वरूप परिणमित होता है—ऐसा निर्णय करके जो जीव अन्तर्मुख होता है, उसका चित्त अविक्षिप्त होता है, वह रागादि से विक्षिप्त नहीं होता।

अहा! वास्तविक आनन्द क्या है—उसकी भी जगत के जीवों को खबर नहीं है और भ्रम के कारण बाह्य विषयों में से आनन्द लेने के लिये उस ओर ज्ञान को युक्त करते हैं, इसलिए उनका चित्त सदैव बाह्य विषयों के प्रति राग-द्वेष से विक्षिप्त ही रहता है; और जिसका चित्त अन्तर्मुख होकर चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन में ही लगा है, उसका चित्त अविक्षिप्त रहता है, किन्हीं भी विषयों से विक्षिप्त नहीं होता क्योंकि बाह्य विषयों की ओर उसका झुकाव ही नहीं है। आत्मा का आनन्द 'निर्विषय' अर्थात् बाह्य विषयों से रहित है।

अहा! जहाँ अन्तर के आनन्दानुभव में लीन हुआ, वहाँ जगत के बाह्य विषय उसका क्या करेंगे?—जगत का कोई अनुकूल विषय उसे ललचाने में समर्थ नहीं है तथा चाहे जैसा प्रतिकूल विषय भी उसे डिगाने में समर्थ नहीं है; उसके चित्त में किसी के प्रति राग-द्वेष का विक्षेप ही नहीं रहता, उसका चित्त समभाव में स्थिर हो गया है। ऐसा अविक्षिप्त चित्त, वह मोक्ष का कारण है; इसलिए हे भव्य जीवो! आनन्दस्वरूप आत्मा को पहिचान कर उसमें चित्त को स्थिर करो—ऐसा सन्तों का उपदेश है।●

भगवान को भी मुनिदशा के बिना मुक्ति नहीं

देखो! इन्द्र भी जिनका जन्मोत्सव मनाते हैं, ऐसे भगवान को भी अन्तर में ऐसी चारित्रदशा प्रगट हुए बिना केवलज्ञान नहीं होता – ऐसा वस्तु का स्वभाव है। अन्तर में जैसा रागरहित स्वभाव है, वैसी रागरहित दशा आत्मा की हो तो बाहर में जैसा माता ने जन्म दिया है, वैसी शरीर की दशा स्वयं हो जाती है – ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध मुनिदशा में होता है। अन्तर में वीतरागभाव प्रगट हो गया हो और बाह्य में बुद्धिपूर्वक वस्त्रादि का सम्बन्ध रहे – ऐसा तीन काल और तीन लोक में नहीं होता। भगवान ऐसी पवित्रदशा की भावना भाते थे और आज उन्होंने वह दशा अङ्गीकार की है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, महामहोत्सव प्रवचन, पृष्ठ २४

चित्त की स्थिरता के लिये आत्मभावना

मन किस कारण से विक्षिप्त होता है और उसे किस प्रकार अविक्षिप्त करें, वह अब बतलाते हैं—

अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः।
तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते॥३७॥

हों संस्कार अज्ञानमय, निश्चय हो मन भ्रान्त।
ज्ञान संस्कृत मन करे, स्वयं तत्त्व विश्रान्ति॥३७॥

अन्वयार्थ :- (**अविद्याभ्याससंस्कारैः**) शरीरादिक को शुचि, स्थिर और आत्मीय माननेरूप जो अविद्या / अज्ञान है, उसके पुनः पुनः प्रवृत्तिरूप अभ्यास से उत्पन्न हुए संस्कारों द्वारा (**मनः**) मन (**अवशं**) स्वाधीन न रहकर, (**क्षिप्यते**) विक्षिप्त हो जाता है, रागी-द्वेषी बन जाता है और (**तदेव**) वही मन (**ज्ञानसंस्कारैः**) आत्म-देह के भेद -विज्ञानरूप संस्कारों द्वारा (**स्वतः**) स्वयं ही (**तत्त्वे**) आत्मस्वरूप में (**अवतिष्ठते**) स्थिर हो जाता है।

शरीर ही मैं हूँ—ऐसी जो भ्रमणा है, वह अविद्या है; उस अविद्या के संस्कार के कारण मन पराधीन वर्तता हुआ क्षुब्ध होता है, किन्तु मैं ज्ञायक हूँ—ऐसे सम्यग्ज्ञानरूप विद्या के संस्कार से मन अपने स्वतत्त्व में एकाग्र होता है और विक्षिप्त नहीं होता।

आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप में एकाग्रता, वह समाधि है और राग-द्वेष में एकाग्रता, वह असमाधि है। आत्मज्ञान, वह समाधि का कारण है और अज्ञान, वह असमाधि का कारण है।

देह मैं हूँ; मैं देह को पवित्र रखूँ—ऐसी मान्यता, वह अविद्या है; उसके संस्कार से जीव का मन, शरीरादि बाह्य विषयों में ही वर्तता है, किन्तु ज्ञानस्वरूप में स्थिर नहीं होता।

मैं तो ज्ञायक हूँ; देह से-राग से भिन्न पवित्र ज्ञानस्वरूप ही हूँ—ऐसे ज्ञानसंस्कार द्वारा मन, आत्मा में स्थिर होता है। (मन अर्थात् ज्ञान का उपयोग।)

शरीर तो जड़ है; अशुचि का धाम है; अस्थिर है और पर है; तथापि जीव उसी को आत्मा मानता है; उसी को शुचि, स्थिर और अपना मानता है, वह अविद्या है; उस अविद्या के अभ्यास के कारण अज्ञानी का मन, क्षुब्ध होकर बाह्य विषयों में ही वर्तता है। मैं देह से भिन्न, शुचि, स्थिर तथा ज्ञायकस्वरूप हूँ; यह शरीर मेरा नहीं है—ऐसे भेदज्ञान की भावना से अपने चैतन्यस्वरूप में एकाग्रता होती है, वही समाधि का उपाय है।

जिसे ज्ञानस्वभाव की भावना नहीं है और बाह्य विषयों में (शुभ या अशुभ में) ही जिसका चित्त वर्तता है, उसका चित्त कभी अविक्षिप्त नहीं होता; ज्ञानस्वभाव की भावना के बिना किसी प्रकार शान्ति नहीं होती। जहाँ बाह्य से लाभ-हानि होने की मान्यता है, वहाँ राग-द्वेष वर्तता ही रहता है। एक ओर ज्ञायकस्वरूप पवित्र आत्मा है और दूसरी ओर समस्त बाह्य विषय हैं...... जो जीव, अन्तरोन्मुख होकर बारम्बार आत्मा की भावना करता है, उसे राग-द्वेषरहित उपशान्तभावरूप समाधि होती है; और जो जीव बाह्य विषयों की भावना भाता है, उसे राग-द्वेषरूप विक्षेप से असमाधि ही वर्तती है। इसलिए ज्ञान संस्कार, अर्थात् शुद्ध आत्मा की भावना ही समाधि का कारण है और बाह्य विषयों की भावनारूप अविद्या के संस्कार, वह असमाधि का कारण है।

पहले अन्तर्मुख होकर देह से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की श्रद्धा द्वारा सम्यग्दर्शन करना, वह अपूर्व विद्या है और वह भी समाधि है। उसे चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वसंवेदन होता है; आनन्द का वेदन ही अविक्षिप्त मन है। आत्मानन्द के वेदन बिना मन से विक्षेप मिटकर समाधि नहीं होती। चैतन्योन्मुख होने पर ज्यों-ज्यों उसके आनन्द का वेदन बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों मन में से राग-द्वेषरूप विक्षेप छूटते जाते हैं और वीतरागी शान्ति-समाधि होती जाती है।

सम्यग्ज्ञान के बाद भी जितने राग-द्वेष हैं, उतना चैतन्य की स्थिरता में विक्षेप आता है। जीव को अनादि से अज्ञानदशा में राग-द्वेष करने की आदत पड़ गयी है; उन संस्कारों के कारण मन, चैतन्य में स्थिर नहीं होता। राग-द्वेष का मूल जो अज्ञान है, वह तो दूर हो

गया है, तथापि उसके अभ्यास के संस्कारों के कारण अभी राग-द्वेष सर्वथा दूर नहीं हुए हैं। कहीं पूर्व के कारण वर्तमान में राग-द्वेष होते हैं, ऐसा नहीं है किन्तु वर्तमान में अपने अपराध के कारण स्वयं ही वे संस्कार बना रखे हैं; इसलिए अभी राग-द्वेष होते हैं। उन राग-द्वेष का नाश किस प्रकार होता है ? तो कहते हैं कि अपने ज्ञानतत्त्व के दृढ़ संस्कार द्वारा स्वरूप में स्थिर होने से राग-द्वेष का नाश हो जाता है। आमने-सामने दो संस्कार लिये हैं—एक अविद्या के संस्कार और दूसरे ज्ञान के संस्कार। ज्ञान के उग्र संस्कार, अर्थात् बारम्बार तीव्र रस से उसी का परिचय करना, वह अज्ञान संस्कार के नाश का उपाय है। ज्यों-ज्यों ज्ञान में एकाग्रता होती जाती है, त्यों-त्यों राग-द्वेष के संस्कार छूटते जाते हैं और वीतरागता में वृद्धि होती है; इसलिए जब तक ज्ञान अपने में लीन होकर वीतरागता न हो, तब तक अति दृढ़तापूर्वक ज्ञानतत्त्व की भावना करते रहना चाहिए।

समयसार में कहते हैं कि—

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते॥

यह भेदविज्ञान अच्छिन्नधारा से—अखण्ड प्रवाहरूप से विच्छेद पड़े बिना तब तक भाना चाहिए कि जब तक परभावों से छूटकर ज्ञान, ज्ञान में ही स्थिर हो जाये।

—इस प्रकार ज्ञान में स्थिरता के अभ्यास द्वारा ऐसी वीतरागी समाधि होती है कि मान-अपमान के प्रसङ्ग में भी उसके चित्त में विक्षेप नहीं होता—ऐसा अब अगली गाथा में कहेंगे। ●

जैनदर्शन की मुद्रा

अहो! मुनिदशा तो अलौकिक दशा है - वह तो जैनदर्शन की मुद्रा है। उनकी ऐसी दशा हो गयी है कि मानो चलते-फिरते सिद्ध! ऐसा मुनिदशा का स्वरूप है। जो उसको विपरीत मानता है, उसे जैनदर्शन की खबर नहीं है। उसकी दृष्टि में भूल है, ज्ञान में भूल है, चारित्र में भूल है, तप में भूल है; वह जीव मार्ग से भ्रष्ट है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, अष्टपाहुड़ प्रवचन, १/९०

जिसका चित्त आत्मा में लगा है उसे मान-अपमान नहीं

राग-द्वेष से विक्षिप्त हुआ मन, ज्ञान के उग्र संस्कार द्वारा स्वतत्त्व में स्थिर होता है— ऐसा कहा। अब कहते हैं कि ज्ञानस्वभाव की भावना से जिसने अपने चित्त को स्वरूप में एकाग्र करके अविक्षिप्त किया है, उसे मान-अपमान से विक्षेप नहीं होता और जिसका चित्त चैतन्यभावना में एकाग्र नहीं हुआ, उसी को मान-अपमान से चित्त में विक्षेप-क्षुब्धता होती है—

अपमानादयस्तस्य विक्षेपो यस्य चेतसः।
नापमानादयस्तस्य न क्षेपो यस्य चेतसः ॥३८॥

चञ्चल-मन गिनता सदा, मान और अपमान।
निश्चल-मन देता नहीं, तिरस्कार पर ध्यान ॥३८॥

अन्वयार्थ :- (**यस्य चेतसः**) जिसके चित्त का (**विक्षेपः**) रागादिरूप परिणमन होता है, (**तस्य**) उसी के (**अपमानादयः**) अपमानादिक होते हैं; (**यस्यचेतसः**) जिसके चित्त का (**क्षेपः न**) राग-द्वेषादिरूप परिणमन नहीं होता, (**तस्य**) उसके (**अपमानादयः न**) अपमान-तिरस्कारादि नहीं होते हैं।

चैतन्य की भावना में जिसका चित्त स्थिर न होने से, जिसके चित्त में राग-द्वेष का विक्षेप वर्तता है, उसी को मान-अपमान लगता है, किन्तु चैतन्य की भावना में जिसका चित्त स्थिर हुआ है, अर्थात् जिसके चित्त में राग-द्वेष का विक्षेप नहीं वर्तता, उसे मान-अपमान कुछ नहीं है, अर्थात् मान-अपमान में उसे समभाव वर्तता है।

'इसने मुझे मान दिया, इसने मेरा अपमान किया; इसने मेरा आदर किया; इसने मेरा

तिरस्कार किया'—इत्यादि मान-अपमान की कल्पना जीव को तभी तक सताती है, जब तक उसका चित्त, राग-द्वेषादि विभावों से कुत्सित वर्तता है; राग-द्वेषादि विभावों में वर्तता जीव ही मान-अपमान की कल्पना से दु:खी होता है परन्तु जिसका चित्त, राग-द्वेष -मोहरूपी विभावों से दूर होकर अपने ज्ञानस्वरूप में स्थिर हुआ है, उसे ऐसी मान-अपमान की कल्पनाएँ नहीं सताती। चैतन्य के आनन्द में लीन होने पर, निन्दा-स्तुति का विकल्प ही नहीं उठता; सर्वत्र समभाव वर्तता है—

''शत्रु-मित्र के प्रति वर्ते समदर्शिता,
मान-अमान में वर्ते ही स्वभाव जब।
जन्म-मरण में हो नहिं न्यून-अधिकता,
भव-मुक्ति में भी वर्ते समभाव जब॥''

देखो, यह सन्तों की समाधिदशा!—किन्तु ऐसी वीतरागी समाधि किस प्रकार होती है! —तो कहते हैं कि ज्ञानस्वभाव का भान करके उसमें एकाग्रता के दृढ़ संस्कार से ऐसी वीतरागी समाधि होती है।

मेरे ज्ञानस्वभाव के अतिरिक्त अन्य कोई मेरा नहीं है; इन्द्रियों का मुझे आधार नहीं है, राग मुझे शरणभूत नहीं है—ऐसी भावनावाले ज्ञानी को परद्रव्य से अपना मान-अपमान नहीं लगता। मेरी महत्ता तो मेरे ज्ञानस्वभाव से ही है; मेरे स्वभाव की महत्ता तो तोड़ने के लिये जगत में कोई समर्थ नहीं है।

—इस प्रकार जिसे अपने स्वभाव की महत्ता भासित नहीं होती और पर संयोग द्वारा ही जिसने अपनी महत्ता मानी है—ऐसे अज्ञानी को मान-अपमान लगे बिना नहीं रहता। कोई अनादर करे—निन्दा करे-द्वेष करे, वहाँ अज्ञानी को ऐसा अपमान लगता है जैसे उसके स्वभाव का ही हनन हो गया हो! और जहाँ मान-प्रतिष्ठा या सुविधा प्राप्त हो, वहाँ उसे ऐसा अनुभव होता है जैसे उसके स्वभाव में वृद्धि हो गयी हो!—ऐसी मान-अपमान की वृत्ति अज्ञानी को ही होती है; ज्ञानी को ऐसी वृत्ति नहीं होती क्योंकि वे परसंयोग के द्वारा अपने आत्मा की महत्ता या हीनता नहीं मानते। अस्थिरता के कारण किञ्चित् मान-अपमान की वृत्ति हो, वहाँ ज्ञानी को स्वभाव की भावना छूटकर वह वृत्ति नहीं हुई है।

मुनिवरों को तो इतना वीतरागी चारित्र हो गया है कि उन्हें मान-अपमान की वृत्ति ही नहीं उठती। सम्यक्त्वी गृहस्थ को इतना वीतरागी चारित्र नहीं हुआ है, किन्तु पर संयोग के प्रभाव से रहित अपने ज्ञानानन्दस्वरूप की दृष्टि हो गयी है, अज्ञान के संस्कार छूट गये हैं, ज्ञानस्वभाव की महत्ता भासित हुई है; इसलिए उस ज्ञानस्वभाव की महत्ता के समक्ष अन्य पदार्थों की किञ्चित् महत्ता भासित नहीं होती; इसलिए अन्य पदार्थों के द्वारा वह अपनी महत्ता नहीं मानता तथा निन्दा आदि प्रतिकूल प्रसङ्गों में भी उसे अपमान का अनुभव नहीं होता। कोई निन्दा करे या प्रशंसा करे, किन्तु दोनों समय, मैं तो उसने पृथक् ज्ञानस्वरूप हूँ; निन्दा या प्रशंसा के शब्द मुझमें नहीं आते; निन्दा करनेवाला उसके अपने द्वेषभाव को करता है और प्रशंसा करनेवाला उसके अपने रागभाव को करता है, किन्तु मेरे ज्ञानस्वभाव में वे कोई कुछ नहीं करते—ऐसे भान में धर्मी को मान-अपमान की बुद्धि छूट गयी है। किञ्चित् राग-द्वेष की वृत्ति हो जाती है, वह अपने अस्थिर भाव के कारण है; संयोग के कारण नहीं है—ऐसा वह जानता है और ज्ञानभावना में स्थिर होकर उस राग-द्वेष की वृत्ति को तोड़ देता है।

अज्ञानी को ज्ञानस्वभाव की भावना नहीं है; संयोग की ही भावना है; संयोग से वह अपनी हीनता-अधिकता मानता है। अनुकूल संयोगों में अपने बड़प्पन का अनुभव करता है और प्रतिकूल संयोगों में अपनी हीनता दिखायी देती है; इसलिए उसे संयोगों के प्रति राग-द्वेष होता ही रहता है; अविद्या के संस्कारों के कारण उसे सर्वत्र अपना मान-अपमान भासित होता है। मैं तो संयोग से भिन्न ज्ञायकस्वभावी हूँ; मेरे ज्ञान की जगत में कोई प्रतिकूल या अनुकूल नहीं है; सब मेरे ज्ञेय ही हैं—ऐसी स्वभावभावना द्वारा ही मान-अपमान की वृत्ति दूर होकर समाधि / शान्ति होती है।

भरत और बाहुबली दोनों चरमशरीरी सम्यक्त्वी थे। भरत चक्रवर्ती ने बाहुबली से नमन करने को कहा तो बाहुबली को ऐसा लगा कि हमारे पिता (ऋषभदेव भगवान) ने हम दोनों को राज्य दिया है। भरत राजा हैं तो मैं भी राजा हूँ; फिर मैं भरत को क्यों नमन करूँ? इस प्रकार किञ्चित् मान की वृत्ति आयी; फिर दोनों में युद्ध हुआ और भरत हार गये, तब उन्हें भी किञ्चित् अपमान की वृत्ति हो आयी। इस प्रकार मान-अपमान की वृत्ति

होने पर भी उन दोनों धर्मात्माओं को उस समय भी ज्ञानस्वभाव की ही भावना है। ज्ञानस्वभाव की भावना छूटकर राग-द्वेष की वृत्ति नहीं हुई है; अधिकता तो ज्ञानभावना की ही है। मान-अपमान की वृत्ति उठी; इसलिए उस समय वे अज्ञानी थे—ऐसा नहीं है।

अन्तर में ज्ञानभावना का बल होने से उनका ज्ञान, मान-अपमानरूप परिणमित ही नहीं होता—इस बात की अज्ञानी को खबर नहीं है। ज्ञानभावना को छोड़कर, जो अज्ञान से परसंयोग में मान-अपमान की बुद्धि करता है, वह अज्ञानी है। जिसे ज्ञानस्वभाव की भावना नहीं है—ऐसे अज्ञानी को ही बाह्यदृष्टि से एकान्त मान-अपमानरूप परिणमन होता है। ज्ञानस्वभाव की भावना में ज्ञानी को ज्ञान का ही परिणमन होता है; मान-अपमानरूप परिणमन नहीं होता। किञ्चित् राग-द्वेष की वृत्ति हो, वहाँ उस वृत्ति को भी ज्ञान से भिन्न परज्ञेयरूप ही जानते हैं और ज्ञानस्वभाव की भावना द्वारा ज्ञान की अधिकतारूप ही परिणमित होते हैं। ज्ञानी की ऐसी भावना को अज्ञानी नहीं जानता; इसलिए ज्ञानी को किञ्चित् राग-द्वेष की वृत्ति देखे, वहाँ उसे ऐसा भ्रम होता है कि ज्ञानी ही इस राग-द्वेष को करते हैं, किन्तु ज्ञानी तो उस समय राग-द्वेष से अधिक ज्ञानभावनारूप ही परिणमित होते हैं, उसे अज्ञानी नहीं देख सकता क्योंकि उसे स्वयं को ज्ञानभावना जागृत नहीं हुई है।

यहाँ ऐसा कहते हैं कि जिसे ज्ञानभावना नहीं है, वही संयोग में मान-अपमान की कल्पना करके राग-द्वेषरूप परिणमित होता है; ज्ञानी को किसी संयोग में मान-अपमान की बुद्धि से राग-द्वेषरूप परिणमन होता ही नहीं। इसलिए हे जीव! तू अपने चित्त को चैतन्यभावना में स्थिर कर, ताकि वह राग-द्वेष से क्षुब्ध न हो। और जहाँ चित्त का क्षोभ नहीं है, वहाँ मान-अपमान की कल्पना नहीं होती; इसलिए राग-द्वेषरूप परिणमन नहीं होता, किन्तु समाधि ही होती है। चाहे जैसे प्रतिकूल या अनुकूल प्रसङ्गों पर वह चैतन्यभावनावाला जीव अपने सम्यग्दर्शनादि से च्युत नहीं होता, ज्ञानभावना से च्युत नहीं होता। इस प्रकार ज्ञानस्वभाव की भावना ही वीतरागी समाधि का उपाय है और वही भावना भानेयोग्य है—ऐसा पूज्यपादस्वामी का उपदेश है।

अनुकूल संयोगों में मुझे राग होगा और प्रतिकूल संयोगों में द्वेष होगा—ऐसा

अज्ञानी का अभिप्राय है; इसलिए वह ज्ञान का नहीं, किन्तु राग-द्वेष का ही अभिप्राय है। अनुकूल संयोगों से मेरा मान और प्रतिकूल संयोगों से अपमान—ऐसा जिसने माना, उस अज्ञानी को मात्र बाह्यदृष्टि होने से राग-द्वेष होते ही रहते हैं। ज्ञानी तो जानते हैं कि मान का प्रसङ्ग हो या अपमान का, किन्तु मैं तो ज्ञान ही हूँ; अनुकूल या प्रतिकूल प्रसङ्ग के समय भी मैं तो 'ज्ञान' ही हूँ; इस प्रकार सर्व प्रसङ्गों में मैं तो ज्ञानस्वभाव ही हूँ—ऐसी ज्ञानभावना ज्ञानी को वर्तती है और उस भावना के बल से उनके राग-द्वेष का नाश ही होता जाता है; इसलिए उन्हें समाधि / शान्ति होती है।

अब, मान-अपमान सम्बन्धी विकल्प दूर करने का उपाय बतलायेंगे। ●

आनन्दादि ऋद्धियों का प्रगट वेदन

जैसे आत्मा अपने ज्ञान और आनन्दादि त्रैकालिक स्वभाव से शून्य नहीं है और जैसे केवली भगवान केवलज्ञानादि स्वभावचतुष्टय से शून्य नहीं हैं, वैसे ही साधकसन्त स्वसम्वेदन के समय पर्याय में बुद्धिपूर्वक के रागशून्य होने पर भी वहाँ सर्वथा शून्यता नहीं है, किन्तु जागृतरूप से आनन्दादि अलौकिक ऋद्धियों का अत्यन्त स्पष्टरूप वेदन है। जैसे राग का अर्थात् पुण्य और पाप का वेदन प्रत्यक्ष है, वैसे ही राग से भिन्न हुए मुनिराज को तथा सम्यग्दृष्टि को अनुभवकाल में स्वभाव का सम्वेदन प्रत्यक्ष है; वह आनन्द और शान्ति से रिक्त नहीं है – शून्य नहीं है।

अहा! जहाँ पर्याय में अलौकिक चैतन्यऋद्धि का अत्यन्त स्पष्ट सम्वेदन है, प्रभु! वहाँ तू जा, तुझे चैतन्यदेव के दर्शन होंगे। जैसे बाह्य में लक्ष्य करने से राग के तथा विकार के दर्शन होते हैं, वैसे ही अन्तर में जाने पर तुझे आनन्दकन्द ज्ञायकदेव के दर्शन होंगे। अहा! ऐसी बात है। सच्चे मुनि हों या सम्यग्दृष्टि हों-सबके लिये यह एक ही बात है। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, पृष्ठ २७९*

राग-द्वेष जीतने का उपाय :
स्वस्थ आत्मा की भावना

३८ वीं गाथा में कहा है कि जिसका चित्त, चैतन्य में स्थिर नहीं है, उसी को मान-अपमान के विकल्प सताते हैं, किन्तु जिसका चित्त, चैतन्य में स्थिर है, उसे मान-अपमान के विकल्प नहीं आते। अब, उन मान-अपमान के विकल्पों को किस प्रकार दूर करना चाहिए, यह कहते हैं—

यदा मोहात्प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विनः।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात्॥३९॥

मोह-दृष्टि से जब जगे, मुनि को राग रु द्वेष।
स्वस्थ-भावना आत्म से, मिटे क्षणिक उद्वेग॥३९॥

अन्वयार्थ :- (**यदा**) जिस समय (**तपस्विनः**) किसी तपस्वी अन्तरात्मा के (**मोहात्**) मोहनीयकर्म के उदय से (**राग-द्वेषौ**) राग और द्वेष (**प्रजायेते**) उत्पन्न हो जावें, (**तदा एव**) उसी समय वह तपस्वी (**स्वस्थं आत्मानं**) अपने शुद्ध आत्मस्वरूप की (**भावयेत्**) भावना करे। इससे वे राग-द्वेषादिक (**क्षणात्**) क्षणभर में (**शाम्यतः**) शान्त हो जाते हैं।

मान-अपमान सम्बन्धी राग-द्वेष होने के प्रसङ्ग पर, उसी क्षण चित्त को अन्तरोन्मुख करके, स्वस्थ आत्मा—शुद्ध आत्मा की भावना करना चाहिए। शुद्ध आत्मा की भावना से क्षणमात्र में राग-द्वेष शान्त हो जाते हैं।

प्रथम तो रागादि तथा पर से रहित, शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की प्रतीति करना चाहिए, तत्पश्चात् विशेष समाधि की यह बात है। शुद्ध आत्मा की भावना के अतिरिक्त

राग-द्वेष टालने तथा समाधि प्रगट करने का अन्य कोई उपाय नहीं है... अन्तर्मुख होकर चैतन्य का स्पर्श करते ही रागादि अलोप हो जाते हैं... और उपशान्तरस की धारा प्रवाहित होती है, इसी का नाम वीतरागी समाधि है।

राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ की उत्पत्ति का मूलकारण अज्ञान है। जहाँ मूल में अज्ञान पड़ा है, वहाँ राग-द्वेषादि विभावों का वृक्ष फले बिना नहीं रहेगा। भेदविज्ञान द्वारा शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न जानकर, आत्मा की भावना करना ही राग-द्वेषादि विभावों के नाश का उपाय है।

सम्यक्त्वी को राग-द्वेष के समय भी उससे भिन्न चैतन्य का भेदज्ञान तो साथ में वर्त ही रहा है। उस भेदज्ञान के उपरान्त ज्ञानी, अस्थिरता सम्बन्धी राग-द्वेष को टालने के लिये चैतन्यस्वभाव का चिन्तन करता है।

अरे! प्रथम अन्तर में आत्मा की रुचि जागृत होना चाहिए कि मेरे आत्मा को शान्ति कैसे हो! उसे कौन शरणभूत है!! सन्त कहते हैं कि यह शरीर या राग कोई तुझे शरण नहीं है। प्रभो! अन्तर में एक समय में ज्ञानानन्द से परिपूर्ण तेरा आत्मा ही तुझे शरणभूत है.... उसे पहिचान!

दो सगे भाई नरक में एकसाथ पड़े हों; उनमें एक सम्यक्त्वी हो और दूसरा मिथ्यादृष्टि! वहाँ सम्यग्दृष्टि को तो नरक की घोर प्रतिकूलता में भी चैतन्य के आनन्द का अंशत: वेदन वर्तता है और मिथ्यादृष्टि, मात्र संयोगों की ओर देखकर दु:खों से व्याकुल होकर तड़पता है। वह अपने भाई से पूछता है कि 'हे भाई! है कोई शरणभूत! इस घोर दु:ख में है कोई सहायक! इस वेदना से कोई छुड़ा सकता है!!' तब सम्यक्त्वी भाई कहता है कि अरे बन्धु! कोई सहायक नहीं है; अन्तर में भगवान चैतन्य ही आनन्द से परिपूर्ण है; उसी की भावना इस दु:ख से छुड़ानेवाली है; चैतन्य भावना के अतिरिक्त अन्य कोई दु:ख से बचानेवाला नहीं है; अन्य कोई सहायक नहीं है। इस शरीर और इन प्रतिकूल संयोगों से पार चैतन्यस्वरूपी आत्मा है—ऐसे भेदज्ञान की भावना के अतिरिक्त जगत में अन्य कोई दु:ख से बचानेवाला नहीं है, कोई शरण नहीं है। इसलिए भाई! एक बार संयोग को भूल जा... और अन्तर में चैतन्यतत्त्व आनन्दस्वरूप है, उसके सन्मुख देख; वह एक ही

शरण है। पूर्वकाल में आत्मा की दरकार नहीं की और पाप करते समय पीछे मुड़कर नहीं देखा, इसलिए यह नरक में अवतार हुआ... अब तो इसी स्थिति में हजारों वर्ष की आयु पूर्ण करना होगी... संयोग नहीं बदलेगा, अपना लक्ष्य बदल दे... आत्मा संयोग से पृथक् है, उस पर लक्ष्य कर।

संयोग में तेरा दुःख नहीं है; अपने आनन्द को भूलकर तूने ही मोह से दुःख उत्पन्न किया है; इसलिए एक बार संयोग को और आत्मा को भिन्न जानकर, संयोग की भावना छोड़ और चैतन्य की भावना कर। मैं तो ज्ञानमूर्ति-आनन्दमूर्ति हूँ; यह संयोग और यह दुःख—इन दोनों से मेरा आत्मस्वभाव पृथक् आनन्द की मूर्ति है। ऐसे आत्मा का निर्णय करके उसकी भावना करना ही दुःख के नाश का उपाय है। चैतन्य की भावना में दुःख कभी प्रवेश नहीं कर सकता। 'जहाँ कभी दुःख प्रवेश न कर सके, वहीं निवास करना चाहिये...' चैतन्यस्वरूप आत्मा की भावना में आनन्द का वेदन है, उसमें दुःख का प्रवेश नहीं है... ऐसे चैतन्य में एकाग्र होकर निवास करना ही दुःख से छूटने का उपाय है। कषायों से संतृप्त आत्मा को अपने शुद्धस्वरूप का चिन्तन ही उससे छूटने का उपाय है। इसलिए 'जिनेन्द्रबुद्धि' श्री पूज्यपादस्वामी कहते हैं कि हे अन्तरात्मा! राग-द्वेषादि विभावों की उत्पत्ति रोकने के लिये स्वस्थ होकर अपने शुद्ध आत्मा की भावना कर... उसके चिन्तन से तेरे विभाव क्षणमात्र में शान्त हो जायेंगे। अज्ञानी जीवों को सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये भी चैतन्य की भावना ही उपाय है।

इसका विचार विवेकपूर्वक शान्त होकर कीजिये;
तो सर्व आत्मिक ज्ञान के सिद्धान्त का रस पीजिये॥

जिस प्रकार प्रचण्ड ग्रीष्मातप से संतृप्त प्राणी, वृक्ष की शीतल छाया का आश्रय लेते हैं; उसी प्रकार इस संसार के घोर संताप से व्याकुल जीवों को चिदानन्दस्वभाव की शीतल छाया ही शरणरूप है, उसी के आश्रय से शान्ति प्राप्त होती है।

धर्मी जानता है कि अहो! मेरे चैतन्यवृक्ष की छाया ऐसी शान्त-शीतल है कि उसमें मोहसूर्य की प्रचण्ड किरणें प्रवेश नहीं कर सकतीं; इसलिए मोहजनित विभावों के आतप से बचने के लिये मैं अपने शान्त-शीतल-उपशान्त-आनन्दमय चैतन्यतत्त्व की छाया में ही जाता हूँ—चैतन्यस्वभाव की ही भावना करता हूँ।●

जड़ काया का प्रेम छोड़,
ज्ञायकशरीर में प्रेम जोड़

राग-द्वेष के विषयरूप जो शरीर, उसका प्रेम छोड़कर, उससे भिन्न ऐसे ज्ञायकशरीरी आत्मा में प्रेम कर—ऐसा अब उपदेश देते हैं:—

यत्र काये मुनेः प्रेम ततः प्रच्याव्य देहिनम्।
बुद्ध्या तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम नश्यति॥४०॥

हे मुनि! तन से प्रेम यदि, धारो भेद-विज्ञान।
चिन्मय-तन से प्रेम कर, तजो प्रेम अज्ञान॥४०॥

अन्वयार्थ :- (**यत्र काये**) जिस शरीर में (**मुनेः**) मुनि का-अन्तरात्मा का (**प्रेम**) प्रेम-स्नेह है, (**ततः**) उससे (**बुद्ध्या**) भेदविज्ञान के आधार पर (**देहिनम्**) आत्मा को (**प्रच्याव्य**) पृथक् करके, (**तदुत्तमे काये**) उस उत्तम चिदानन्दमय काय में-आत्मस्वरूप में (**योजयेत्**) लगावे — ऐसा करने से (**प्रेम नश्यति**) बाह्य शरीर और इन्द्रिय विषयों में होनेवाला प्रेम नष्ट हो जाता है।

जिस शरीर, शिष्य आदि में मुनि को किञ्चित् प्रेम हो, उनसे भेदज्ञान की बुद्धि द्वारा अपने आत्मा को पृथक् करके, ज्ञानानन्दस्वरूप उत्तम काय में, अर्थात् शुद्ध जीवास्तिकाय में अपना चित्त लगाये; इस प्रकार शुद्धात्मस्वरूप में चित्त लगाने पर, उससे बाह्य ऐसे शरीरादि का स्नेह नष्ट हो जाता है। चैतन्य के आनन्द में जिसका चित्त लगा है, उसका चित्त जगत के किसी भी विषय में नहीं लगता। चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्दरस के समक्ष जगत के समस्त रस उसे नीरस मालूम होते हैं; चैतन्य के उत्साह के समक्ष देहादि की क्रिया की ओर का उत्साह नष्ट हो जाता है। जब तक इस जीव को अपने निजानन्दमय निराकुल शान्त

उपवन में क्रीड़ा करने का अवसर प्राप्त नहीं होता, तभी तक वह मल, मूत्र और माँस से परिपूर्ण ऐसे अपवित्र शरीर में तथा इन्द्रिय विषयों में आसक्त रहता है परन्तु पुरुषार्थ के अपूर्व बल द्वारा जब वह सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है और उसका विवेक-ज्ञान जागृत होता है, तब वह अपने उपशान्त चैतन्य उपवन में निजानन्दमय सुधारस का पान करने लगता है तथा बाह्य इन्द्रियविषयों को अत्यन्त नीरस, पराधीन और हेय समझकर उनसे अत्यन्त उदासीन हो जाता है। चैतन्य के अनुभव में बारम्बार उपयोग को लगाने से, बाह्य पदार्थों की ओर का प्रेम सर्वथा छूटकर वह वीतराग हो जाता है और फिर पूर्ण परमानन्द प्रगट करके परमात्मा हो जाता है। इसलिए कहते हैं कि हे मुमुक्षु! तू अपने चित्त के उपयोग को बारम्बार उस चैतन्यस्वरूप में लगा।

देखो, भावलिङ्गी सन्त-मुनि को समाधिमरण का अवसर हो, आस-पास अन्य मुनि बैठे हों... वहाँ उन मुनि को कभी कदाचित् पानी पीने की इच्छा हो और पानी माँगे कि 'पानी!' तो वहाँ दूसरे मुनि उन्हें वात्सल्यपूर्ण सम्बोधन करते हैं कि अरे मुनि!! अन्तर में निर्विकल्परस का पान करो! अन्तर में भरे हुए अतीन्द्रिय आनन्दसागर में से आनन्दामृत पियो... यह पानी की वृत्ति छोड़ दो... इस समय समाधि का अवसर है... अनन्त बार समुद्र भर जाये इतना जल पिया... तथापि तृषा शान्त नहीं हुई... इसलिए इस पानी को भूल जाओ... और अन्तर के निर्विकल्प अमृत का पान करो... निर्विकल्प आनन्द में लीन होओ...!

निर्विकल्पसमुत्पन्नं ज्ञानमेव सुधारसम्।
विवेकमंजुलिं कृत्वा तत् पिबंति तपस्विनः॥

वे मुनि भी तुरन्त पानी की वृत्ति छोड़कर, निर्विकल्प होकर, अतीन्द्रिय आनन्दामृत का पान करते हैं और इस प्रकार अखण्ड आराधनापूर्वक समाधिसहित देह-त्याग करते हैं।

[समाधिमरण की तैयारीवाले क्षपकमुनि को रत्नत्रय की अखण्ड आराधना में उत्साहित करने और उपसर्ग-परिग्रह आदि से रक्षा करने के लिये दूसरे मुनिराज, वीतराग उपदेशरूपी कवच पहनाते हैं, इसका अद्भुत भावभीना वर्णन भगवती आराधना के 'कवच', अधिकार में आचार्य शिवकोटिदेव ने किया है। उस भावभीने प्रसंग का वर्णन पढ़ते हुए, मानो आराधक मुनिवरों का समूह नजर के सम्मुख विराजमान हों और मुनिराज आराधना के उपदेश की कोई अखण्ड धारा बहा रहे हों—ऐसी भावना जागृत होती है और उन आराधक साधु-भगवन्तों के प्रति हृदय नम्रीभूत हो जाता है; आराधना के प्रति अचिन्त्य महिमा और बहुमान

जागृत होता है। पूज्य कानजीस्वामी प्रवचनों में अनेक बार परम भक्तिसहित इस कवच अधिकार का उल्लेख करके मुनिवरों की शान्त अनुभूतिरूप अद्भुत दशा का वर्णन करते हैं। तब मुमुक्षुओं के तो रोमांच उल्लसित हो जाते हैं... और आराधना के प्रति तथा आराधक जीवों के प्रति परम भक्तिसहित, आत्मा में भी आराधना की शूरवीरता जाग उठती है। ऐसे कवच अधिकार की १७८ गाथायें हैं, उनके सार का संकलन किसी दूसरी पुस्तक में प्रकाशित करूँगा। -संकलनकार]

जिसे चैतन्य के आनन्द का अनुभव नहीं है, उसे बाह्य विषयों में सुखबुद्धि होती है और चैतन्य के आनन्द का भान होने पर भी, जिसे उसके अनुभव में लीनता नहीं है, उसी को बाह्य पदार्थों सम्बन्धी राग-द्वेष होते हैं। उपयोग को अन्तर्मुख करके जिसे अपने अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव में लीनता वर्तती है, उसका झुकाव बाह्य पदार्थों के प्रति होता ही नहीं; इसलिए उसे तो किसी पदार्थ सम्बन्धी राग-द्वेष नहीं होते।

राग-द्वेष दूर करने का उपाय क्या?

—चैतन्यस्वरूप में उपयोग को लगाना ही राग-द्वेष को दूर करने का उपाय है। इसके अतिरिक्त बाह्य पदार्थों के प्रति आकर्षण रखकर, राग-द्वेष को दूर करना चाहे तो वे कभी दूर नहीं हो सकते। प्रथम तो जिसने देहादि से भिन्न और रागादि से भी परमार्थतः भिन्न ऐसे चिदानन्दस्वरूप का भान किया हो, उसी को उसमें उपयोग की लीनता होती है परन्तु जो जीव, शरीरादि की क्रिया को अपनी मानता हो अथवा राग से लाभ मानता हो; उसका उपयोग, शरीर या राग से हटकर चैतन्योन्मुख कैसे होगा? जहाँ लाभ मानता हो, वहाँ से अपने उपयोग को क्यों हटायेगा?—नहीं हटा सकता। इसलिए उपयोग को अपने चिदानन्दस्वरूप में एकाग्र करने की इच्छा रखनेवाले को प्रथम तो अपने स्वरूप को देहादि से तथा रागादि से अत्यन्त भिन्न जानना चाहिए। जगत के किसी भी बाह्य विषय में अथवा उस ओर के राग में कहीं स्वप्न में भी मेरा सुख या शान्ति नहीं है। अनन्त काल तक बाह्य भाव किये, किन्तु मुझे किञ्चित् सुख प्राप्त नहीं हुआ। जगत में यदि कहीं मेरा सुख हो तो वह मेरे निजस्वरूप में ही है, अन्यत्र कहीं नहीं। इसलिए अब मैं बाह्य उपयोग को छोड़कर अपने स्वरूप में ही उपयोग को लगाता हूँ। ऐसे दृढ़ निर्णयपूर्वक धर्मी जीव बारम्बार अपने उपयोग को अन्तरस्वरूप में लगाता है।

इस प्रकार उपयोग को अन्तरस्वरूप में लगाना ही जिन-आज्ञा है, वही आराधना है, वही समाधि है, वही सुख है तथा वही मोक्ष का पन्थ है। ●

आत्मज्ञान द्वारा ही दुःख का शमन और निर्वाण प्राप्ति

चैतन्यस्वभाव की महत्ता और बाह्य इन्द्रियविषयों की तुच्छता जानकर, अपने उपयोग को बारम्बार चैतन्यभावना में लगाना चाहिए; ऐसा करने से पर के ओर की आसक्ति नष्ट होती है और वीतरागी आनन्द का अनुभव होता है—ऐसा पूर्व गाथा में कहा है। उसी बात को दृढ़ करते हुए अब कहते हैं कि आत्मा के विभ्रम से उत्पन्न हुआ दुःख, आत्मा की भावना से ही नष्ट होता है। जो आत्मज्ञान का उद्यम नहीं करते, वे घोर तप करने पर भी निर्वाण को प्राप्त नहीं होते—

आत्मविभ्रमजं दुःखमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति।
नाऽयतास्तत्र निर्वान्ति कृत्वापि परमं तपः ॥४१॥

आत्मभ्रान्ति से दुःख हो, आत्म-ज्ञान से शान्त।
इस बिन शान्ति न हो भले, कर ले तप दुर्दान्त ॥४१॥

अन्वयार्थ :- (**आत्मविभ्रजं**) शरीरादिक में आत्मबुद्धिरूप विभ्रम से उत्पन्न होनेवाला (**दुःखं**) दुख-कष्ट, (**आत्मज्ञानात्**) शरीरादिक से भिन्नरूप आत्मस्वरूप के अनुभव करने से (**प्रशाम्यति**) शान्त हो जाता है। अतएव जो पुरुष, (**तत्र**) भेदविज्ञान के द्वारा आत्मस्वरूप की प्राप्ति करने में (**अयताः**) प्रयत्न नहीं करते, वे (**परमं**) उत्कृष्ट एवं दुर्द्धर (**तपः**) तप को (**कृत्वापि**) करके भी, (**न निर्वान्ति**) निर्वाण को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते हैं।

आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसे भूलकर शरीरादि में आत्मबुद्धिरूप जो विभ्रम है,

वही दुःख का मूल है। उस आत्मविभ्रम से हुआ दुःख, आत्मज्ञान द्वारा ही दूर होता है। 'देहादिक से भिन्न नित्य ज्ञान-दर्शनस्वरूप ही मैं हूँ, अन्य कोई मेरा नहीं है'—ऐसे आत्मज्ञान के बिना दुःख दूर करने का कोई अन्य उपाय नहीं है। ऐसे आत्मज्ञान के बिना घोर तप करे, तथापि जीव निर्वाण-पद को प्राप्त नहीं होता।

जो आत्मज्ञान का तो प्रयत्न नहीं करते और व्रत-तप का ही उद्यम करते हैं, वे मात्र क्लेश को ही प्राप्त होते हैं; निर्वाण को प्राप्त नहीं होते। उन्हें जो व्रत-तप हैं, वे आत्मा की भावना से नहीं है, किन्तु राग की और विषयों की ही भावना से हैं। भले ही प्रत्यक्षरूप से विषयों की इच्छारूप पाप भावना तो न हो, किन्तु अन्तर में जो विषयातीत चैतन्य का वेदन नहीं करता, वह राग के ही वेदन में रुका है, इसलिए उसके अभिप्राय में राग की रुचि और राग के फलरूप इन्द्रियविषयों की भावना विद्यमान ही है। आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद बिना, विषयों की भावना वास्तव में टूटती ही नहीं।

जो आत्मज्ञान का प्रयत्न करते हैं, वे ही दुःख से छूटते हैं; जो आत्मज्ञान का प्रयत्न नहीं करते, वे दुःख से नहीं छूट सकते।

देखो, इन पूज्यपादस्वामी ने 'तत्त्वार्थसूत्र' पर 'सर्वार्थसिद्धि' नाम की टीका रची है; वे कहते हैं कि आत्मा का विभ्रम ही दुःख का कारण है। कर्म के कारण दुःख है—ऐसा नहीं कहा, किन्तु आत्मज्ञान का प्रयत्न स्वयं नहीं करता, इसीलिए दुःख है। 'कर्म बिचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई'; अपनी भूल से ही आत्मा दुःखी होता है, कर्म बेचारे क्या कर सकते हैं? तथापि अज्ञानी कर्मों को दोष देता है कि कर्म मुझे दुःख देते हैं! अपना दोष दूसरे पर डालता है, वह अनीति है; वह जैननीति को नहीं जानता। यदि जिनधर्म को समझ ले तो ऐसी अनीति की सम्भावना नहीं रहती। मोक्षमार्गप्रकाशक में कहते हैं कि—'तत्त्व निर्णय करने में उपयोग नहीं लगाता, वह जीव का ही दोष है... तत्त्वनिर्णय करने में कहीं कर्म का तो दोष नहीं है, किन्तु तेरा ही दोष है... जीव स्वयं तो महन्त रहना चाहता है और अपना दोष कर्मादि पर डाल रहा है परन्तु जिन-आज्ञा को मान ले तो ऐसी अनीति की सम्भावना नहीं रहती...' अर्थात् तो अपना दोष कर्म पर डालता है, वह जीव, जिनाज्ञा से बाहर है।

आत्मस्वरूप के ज्ञान बिना उसमें एकाग्रतारूप तप होता ही नहीं। आत्मज्ञान के बिना हठपूर्वक व्रत-तप करना चाहे तो उसमें मात्र कष्ट ही है। भले ही शुभराग करे, तथापि उसमें केवल कष्ट ही है; आत्मा की शान्ति किञ्चित् नहीं है। दु:ख कारण तो आत्मविभ्रम है; उस भ्रम को दूर किये बिना दु:ख दूर हो ही नहीं सकता। आनन्द का वेदन हो दु:ख के अभाव की रीति है। जिस तप में आत्मा के आनन्द का वेदन नहीं, उसमें कष्ट ही है।

आत्मज्ञान के बिना रागादिक कम हो ही नहीं सकते। पहले आत्मज्ञान करे, फिर उसमें लीनता द्वारा रागादिक कम होने पर, व्रत-तप और मुनिदशा होती है। पण्डित टोडरमलजी भी कहते हैं कि—जिनमत में तो ऐसी परिपाटी है कि प्रथम सम्यक्त्व होता है और फिर व्रत होते हैं। अब, सम्यक्त्व तो स्व-पर का श्रद्धान होने पर होता है, तथा वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने से होता है; इसलिए प्रथम द्रव्यानुयोग -अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि हो और फिर चरणानुयोग-अनुसार व्रतादिक धारण करके व्रती होता है।

जीव को जब तक अपना यथार्थ स्वरूप लक्ष्य में न आये, तब तक परभावों में आत्मबुद्धि दूर नहीं होती; इसलिए रागादि परभाव के वेदन में अटककर 'इतना ही मैं' अथवा 'देहादि की क्रिया है, वह मैं हूँ'—ऐसी आत्मभ्रमणा से परभावों में ही लीन होकर जीव महान दु:ख का वेदन कर रहा है। यह आत्मभ्रमणा ही महान दु:ख का मूल है—यह बात जब तक ख्याल में न आये, तब तक आत्मज्ञान का सच्चा पुरुषार्थ जागृत नहीं होता और आत्मज्ञान के बिना सच्ची शान्ति नहीं होती।

भाई! तुझे आत्मा की शान्ति चाहिए हो.... तुझे अतीन्द्रिय आनन्द की आवश्यकता हो तथा दु:ख दूर करना हो तो अपने आत्मज्ञान का उद्यम कर... एक आत्मज्ञान ही शान्ति और आनन्द का उपाय है; उसी उपाय से दु:ख दूर होता है; अन्य किसी उपाय से दु:ख दूर नहीं होता। 'छहढाला' में कहा है कि—

ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण,
यह परमामृत जन्म जरा मृत्यु रोग निवारण॥

आत्मज्ञान के बिना अन्य किसी उपाय से सुख नहीं होता—यह बात भी 'छहढाला' में कही है—

मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो,
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो॥

आत्मज्ञान के बिना मात्र शुभराग से पञ्च महाव्रत का पालन करके नववें ग्रैवेयक तक देवलोक में गया, तथापि वहाँ किञ्चित् सुख प्राप्त नहीं हुआ; दुःख ही मिला। अज्ञानी जीव की क्रिया संसार के लिये सफल है और मोक्ष के लिये निष्फल है तथा ज्ञानी की जो धर्मक्रिया है, वह संसार के लिये निष्फल है और मोक्ष के लिये सफल है। जिसके अन्तर में स्वसन्मुख प्रयत्न नहीं है, वह जितना परोन्मुख प्रयत्न करता है, उसका फल दुःख और संसार ही है। आत्मस्वभाव में स्वसन्मुख प्रयत्न से ही सुख और मुक्ति होती है; इसलिए आत्मज्ञान के उद्यम का उपदेश है।

बहिरात्मा क्या चाहता है और धर्मात्मा क्या ?—वह आगे कहेंगे।●

मुनिदशा अर्थात् धर्म का मौसम

जिस प्रकार व्यापारी दीपावली आदि अच्छे सीजन में व्यापार की भाग-दौड़ करके थोड़े समय में बहुत कमायी कर लेता है; उसी प्रकार चारित्रदशा तो धर्मी जीव के धर्म साधने का वास्तविक सीजन है, उसमें शीघ्र ही धर्म की साधना करके वह थोड़े ही काल में महान मोक्ष-वैभव को साध लेता है – ऐसी दशा को साधु पद कहते हैं। अहा! सम्यग्दर्शन तो हुआ है, अब आत्मा में लीन होकर, बारम्बार निर्विकल्प अनुभूति करके, स्वरूप में स्थिरता करके मुनिदशा प्रगट करूँगा। ऐसी भावना धर्मी जीव भाता है। वाह! ऐसी चारित्रदशा किसे नहीं रुचेगी। ऐसी चारित्रदशावन्त मुनियों के तो हम दास हैं, उनके चरणों के सेवक हैं, उन्हें हम बहुमान से नमस्कार करते हैं। णमो लोए त्रिकालवर्ती सव्व साहूणं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, छहढाला प्रवचन, ५/४४९

देहबुद्धिवाला जीव, देहादि को ही चाहता है; तत्त्वज्ञानी, देह से भिन्न आत्मा को भाता है

बहिरात्मा क्या चाहता है और धर्मात्मा क्या चाहता है ? यह अब कहते हैं।

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवाञ्छति।
उत्पन्नाऽऽत्ममतिर्देहे तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम्॥४२॥

तन तन्मय ही चाहता, सुन्दर-तन सुर-भोग।
ज्ञानी चाहे छूटना, विषय-भोग संयोग॥४२॥

अन्वयार्थ :- (देहे उत्पन्नात्ममतिः) शरीर में जिसको आत्मत्वबुद्धि उत्पन्न हो गयी है — ऐसा बहिरात्मा, तप करके **(शुभं शरीरं च)** सुन्दर शरीर और **(दिव्यान् विषयान्)** उत्तमोत्तम अथवा स्वर्ग के विषय भोगों को **(अभिवाञ्छति)** चाहता है और **(तत्त्वज्ञानी)** ज्ञानी अन्तरात्मा **(ततः)** शरीर और तत्सम्बन्धी विषयों से **(च्युतिम्)** छूटना चाहता है।

अज्ञानी को देह में ही आत्मबुद्धि होने से वह शुभ शरीर को और स्वर्ग के विषयभोगों को ही चाहता है और ज्ञानी तो शरीर तथा विषयों से छूटना चाहता है, बाह्य विषयों से छूटकर अन्तर के चैतन्यस्वभाव में ही स्थिर रहना चाहता है।

जिसे शुभराग की भावना है, उसे उस राग के फलरूप स्वर्ग के भोग की और शरीर की ही अभिलाषा है। जिसे पुण्य की रुचि है, उसे जड़ की रुचि है; उसे आत्मा के धर्म की रुचि नहीं। दिव्य चैतन्यशक्तिवाला अतीन्द्रिय आत्मा है, उसे भूलकर अज्ञानी जीव, देवलोक के दिव्य शरीर को और इन्द्रिय विषय को ही चाहता है। ज्ञानी तो रागादि की वृत्ति को दु:खदायक जानकर उससे छूटना चाहता है।

शुभराग, वह भोग का हेतु है; जो जीव, शुभराग को धर्म मानकर श्रद्धा करता है-आदर करता है, वह जीव, भोगहेतु धर्म को ही श्रद्धता है, परन्तु मोक्ष के हेतुरूप धर्म को वह नहीं जानता। समयसार में आचार्य भगवान कहते हैं कि

वह धर्म को श्रद्धे, रुचि अरु स्पर्शन करे।
वह भोग हेतु धर्म को, नहीं कर्मक्षय के हेतु को।।

रागरहित ज्ञानचेतनामात्र जो परमार्थ धर्म, उसे तो अज्ञानी जीव श्रद्धान नहीं करता परन्तु भोग के निमित्तरूप ऐसे शुभकर्म को ही धर्म मानकर उसकी श्रद्धा करता है; इसलिए वास्तव में मोक्ष के कारणरूप धर्म को वह नहीं आराधता परन्तु स्वर्गादि के भोग के कारणरूप ऐसे राग को ही वह आराधता है, अर्थात् संसार को ही सेवन करता है और जो धर्मात्मा ही है, वह तो राग में या पुण्य के फलरूप विषयों में कहीं स्वप्न में भी सुख नहीं मानता; राग से पार ऐसे चिदानन्दस्वभाव को ही वह आराधता है; इसलिए राग और राग के फलरूप विषयों से तो वह दूर रहना चाहता है और रागरहित होकर अन्तरस्वभाव में एकाग्र होना चाहता है। चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द के अतिरिक्त जगत् में कोई भी उसे प्रिय नहीं है। स्वर्ग के दिव्य भोगों को भी वह पुद्गल की रचना जानता है। चैतन्य के अचिन्त्य आनन्द के समक्ष वह सबको तुच्छ जानता है, इसलिए अन्तर्मुख होकर वह अपने ध्येय को सिद्ध करता है। जिसने भेदज्ञान द्वारा अन्तर में चैतन्यरस का स्वाद चखा है, उसकी दशा ही अलौकिक होती है।

यह आत्मा देह से भिन्न अतीन्द्रिय चैतन्यमूर्ति है। वह अन्तर का विषय है और उसमें ही सुख है। जिसने ऐसे अन्तर के विषय को नहीं जाना, उसे बाह्य विषयों में आत्मबुद्धि हुई; यह देह ही आत्मा है, इन्द्रिय के विषयों में सुख है-ऐसी मिथ्याबुद्धि हुई; वह जीव, उत्तम शरीर को और स्वर्ग इत्यादि विषयभोगों को ही चाहता है। वस्तुतः उत्तम ऐसे चैतन्य आत्मा को नहीं जाना, इसलिए बाहर में उत्तम जड़ शरीर को अपना मानकर चाहता है। सीधेरूप से जो विषयभोगों की इच्छा करे, उसे तो पाप है, उसे कहीं उत्तम स्वर्ग नहीं मिलता। अज्ञानी द्रव्यलिङ्गी होकर व्रत-तप करता है, उसे सीधेरूप से तो विषयों की अभिलाषा नहीं है परन्तु उसके अभिप्राय में चैतन्य की ओर का झुकाव नहीं है और राग की ओर का ही झुकाव है, राग की ही भावना है, इसलिए उस राग के फलरूप विषयों की

भी भावना उसके अभिप्राय में पड़ी ही है। राग की भावनारूप मिथ्यात्व में अनन्त विषय-भोगों का मूल खड़ा है; इसलिए अज्ञानी जो व्रतादि करता है, वे भोग-हेतु ही हैं—ऐसा कहा है, वह यथार्थ है।

ज्ञानी तो अतीन्द्रिय चैतन्यतत्त्व की ही भावना करता है। शुभ-अशुभ हों भले, परन्तु उसे उनकी भावना नहीं है और जहाँ राग की भावना नहीं, वहाँ राग के फलरूप विषयों की भावना कैसे होगी? वीतरागी चैतन्यतत्त्व को जाने बिना राग की भावना नहीं मिटती और जहाँ राग की भावना नहीं मिटी, वहाँ राग के फलरूप विषयों की भावना भी नहीं मिटी।

मेरा आत्मा ही ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, बाह्य विषयों के बिना ही मेरे आत्मा में आनन्द है—ऐसे अतीन्द्रिय आत्मा का स्पर्श-रुचि-अनुभव जिसे नहीं है, उस जीव को इन्द्रिय-विषयों का ही स्पर्श-रुचि-अनुभव है। देखो, इस अन्तर के वेदन से ज्ञानी-अज्ञानी का माप निकाला है। जिसे अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन है, उसे ही इन्द्रिय-विषयों की रुचि छूटी है। एक ओर अतीन्द्रिय आनन्द का विषय और दूसरी ओर इन्द्रिय-विषय—इन दोनों की रुचि एकसाथ नहीं हो सकती। जिसे एक की रुचि है, उसे दूसरे की रुचि नहीं। राग का फल अतीन्द्रिय आनन्द नहीं परन्तु इन्द्रिय-विषय ही है; इसलिए जिसे राग की रुचि है, उसे अतीन्द्रिय आत्मा की रुचि नहीं है।

भगवान के द्वारा कथित व्यवहार व्रत-तप पालता होने पर भी, अज्ञानी को मुक्ति क्यों नहीं होती? उसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि वह अज्ञानी जीव, राग की और राग के फलरूप भोग की ही रुचि से व्रतादि करता है; इसलिए वह मोक्ष को प्राप्त नहीं करता; उसे राग से पार और इन्द्रिय-विषयों से पार चिदानन्दस्वभाव की रुचि-प्रतीति-श्रद्धा नहीं है; उसके वेदन में वह राग को ही वेदता है। रागरहित आत्मस्वभाव को वह नहीं वेदता; इसलिए उसे कर्मक्षय नहीं होता।

ज्ञानी तो चैतन्यस्वभाव की भावना से राग में से छूटना चाहता है और देहादि विषयों से भी छूटना चाहता है। चैतन्य के आनन्द का वेदन ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों राग और विषय छूटते जाते हैं। जिसे राग में और देह में आत्मबुद्धि होती है, उसे राग या देह से छूटने की वास्तविक भावना कहाँ से होगी? चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द की अस्ति बिना इन्द्रिय-विषयों की नास्ति कहाँ से होगी?

कषाय की मन्दता करके, शुभराग से कुछ व्रत-तप करे, उस राग की मिठास से मूढ़ अज्ञानी को ऐसा हो जाता है कि मैंने बहुत किया... पञ्च महाव्रत पाले, वहाँ अज्ञानी को ऐसा हो जाता है कि मैंने बहुत मोक्षमार्ग सेवन किया... मैं धर्म में बहुत आगे बढ़ गया... परन्तु वह वास्तव में मोक्षमार्ग में आया ही नहीं; संसारमार्ग में ही खड़ा है और कोई ज्ञानी धर्मात्मा गृहस्थपने में हों, उन्हें अन्तर में विषयों से और राग से पार चैतन्यतत्त्व के आनन्द का वेदन हो गया है; उन्हें व्रत-तप न होने पर भी, अन्तर में अपूर्वदृष्टि के बल से अनन्त संसार काट दिया है और मोक्ष का आराधक हो गये हैं। वहाँ अज्ञानी उनकी अपूर्व अन्तर्दृष्टि की अचिन्त्य महिमा को तो पहचानता नहीं और मूढ़ता से ऐसा मानता है कि इन्हें तो कोई व्रत-तप नहीं और हम तो व्रत-तप पालते हैं, इसलिए हम तो इनसे बहुत आगे बढ़ गये हैं! — ऐसे जीव को यहाँ पूज्यपादस्वामी कहते हैं कि अरे मूढ़ अज्ञानी! तेरे व्रत-तप तो संसार का ही कारण है; तुझे चैतन्य का तो भान नहीं और विषयों की भावना छूटी नहीं; तेरा संसार जरा भी नहीं छूटा है और धर्मात्मा को अन्तर में चैतन्यभावना से अनन्त संसार छूट गया है। व्रत-तप करने पर भी तू तो संसारमार्गी है और इस धर्मात्मा को व्रत-तप न होने पर भी, वह मोक्षमार्गी है; तथापि उसे हल्का मानकर और स्वयं को उससे अधिक मानकर तू मोक्षमार्ग की बड़ी विराधना कर रहा है।

समकिती धर्मात्मा को चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द के अतिरिक्त बाह्य विषय क्लेशदायक लगते हैं; बाह्य विषयों की ओर झुकाव जाये, वह दुःख है और चैतन्य में एकाग्रता रहे, वह सुख है। अज्ञानी को बाह्य विषयों की अनुकूलता में सुख लगता है, अर्थात् व्रत-तप में उसे क्लेश-बोझ लगता है। बहुत उपवास हो, वहाँ बहुत क्लेश लगता है और ज्ञानी मुनि को तो आत्मा के आनन्द की लीनतापूर्वक आहारादि की इच्छा टूट जाने से सहज अनेक उपवासादि तप हो जाते हैं।

ज्ञानी को आत्मा के आनन्द के अतिरिक्त बाहर के किसी भी विषयों में सुखबुद्धि नहीं है, इसलिए उसे उनकी भावना नहीं है। अज्ञानी को आत्मा के आनन्द का भान नहीं है; इसलिए बाह्य विषयों में ही सुखबुद्धि वर्तती है; इसलिए उसे बाह्य विषयों की ही अभिलाषा वर्तती है।

इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी की अन्तरभावना में आकाश-पाताल का अन्तर है। ●

स्व में एकत्व होने से मुक्ति
पर में एकत्वबुद्धि से बन्धन

स्वरूप से च्युत होकर पर में आत्मबुद्धि से बहिरात्मा अवश्य बँधता है और स्वरूप में ही आत्मबुद्धिवाले अन्तरात्मा मुक्त होते हैं—ऐसा अब कहते हैं:—

परत्राहम्मतिः स्वस्माच्च्युतो बध्नात्यसंशयम्।
स्वस्मिन्नहम्मतिश्च्युत्वा परस्मान्मुच्यते बुधः॥ ४३॥

स्व से च्युत, पर-मुग्ध नर, बँधता, पर-सङ्ग आप।
पर से च्युत, निज-मुग्ध बुध, हरे कर्म-सन्ताप॥ ४३॥

अन्वयार्थ :- (**परत्राहम्मतिः**) शरीरादिक परपदार्थों में जिसकी आत्मबुद्धि हो रही है - ऐसा बहिरात्मा (**स्वस्मात्**) अपने आत्मस्वरूप से (**च्युतः**) भ्रष्ट हुआ (**असंशयम्**) निःसन्देह (**बध्नाति**) अपने को कर्मबन्धन से बद्ध करता है और (**स्वस्मिन्नहम्मतिः**) अपने आत्मा के स्वरूप में ही आत्मबुद्धि रखनेवाला (**बुधः**) अन्तरात्मा, (**परस्मात्**) शरीरादिक पर के सम्बन्ध से (**च्युत्वा**) च्युत होकर (**मुच्यते**) कर्मबन्धन से छूट जाता है।

समस्त परद्रव्यों से भिन्न मैं ज्ञायकस्वरूप हूँ—ऐसा निर्णय करके, जो ज्ञायक -स्वरूपोन्मुख नहीं होता, और शरीर-रागादि में ही आत्मबुद्धि करके वर्तता है, वह जीव स्वरूप से भ्रष्ट हुआ बँधता है—इसमें संशय नहीं है और बुध-धर्मात्मा अपने ज्ञानानन्दस्वरूप में ही आत्मबुद्धि से वर्तता है तथा पर से च्युत होकर स्वरूप में स्थिर होता है; इसलिए वह नियम से मुक्त होता है।

देखो, स्वतत्त्व और परतत्त्व—ऐसे दो भाग करके संक्षेप में समझाया। जो स्व-द्रव्योन्मुख हुआ, वह मुक्त होता है और जिसने परद्रव्य को उपादेय माना, वह बँधता है। पर द्रव्याश्रित बँधन और स्वद्रव्याश्रित मुक्ति—यह संक्षिप्त सिद्धान्त है।

सात तत्त्वों में जीव, वह स्वतत्त्व; अजीव, वह परतत्त्व। आस्रव और बंध, अजीव के आश्रय से होने के कारण अजीव के साथ अभेद हुए; और संवर-निर्जरा-मोक्षरूप पर्यायें शुद्ध जीव स्वभाव के आश्रय से होने के कारण जीव के साथ अभेद हुई। इस प्रकार शुद्ध पर्यायसहित जीवतत्त्व, वह स्वद्रव्य है और वही उपादेय है। अशुद्धता और अजीव, वे सब परद्रव्य हैं और वे हेय हैं। इस प्रकार दो भाग करके स्पष्ट समझाया है। उसमें उपादेयरूप स्वतत्त्व में जो आत्मबुद्धि करता है, वह तो अजीव से—आस्रव से तथा बंधन से च्युत होकर मुक्ति प्राप्त करता है और हेयरूप परतत्त्व में (देहादि-रागादि में) जो आत्मबुद्धि करता है, वह निजस्वरूप से च्युत होकर संसार में भटकता है।

बहिरात्मा की दृष्टि ही बाह्य में है; बाह्य पदार्थ उपेक्षायोग्य (हेय) होने पर भी, उनमें वह उपादेयबुद्धि करता है, किन्तु अन्तर के ज्ञानानन्दस्वरूप को उपादेय नहीं करता—उस ओर ढलता नहीं है। इस प्रकार हितकारी स्वतत्त्व को हेय तथा परद्रव्यों को उपादेय करता है; इसलिए वह जीव, राग-द्वेष-मोह से बँधता ही है, असमाधिरूप से ही वर्तता है तथा अहित को ही प्राप्त होता है। ज्ञानी अपने ज्ञानानन्दस्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी को उपादेय नहीं मानता; एक शुद्ध स्वतत्त्व को ही उपादेय मानकर, उसकी उपासना करता है—उसकी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र करता है और इसलिए वह कर्मबन्धन से छूटकर मुक्ति प्राप्त करता है, परम समाधि को प्राप्त करता है।

समता रमता ऊर्ध्वता ज्ञायकता सुखभास,
वेदकता चैतन्यता ये सब जीव विलास।

और

तनता मनता वचनता जड़ता जड़ संमेल,
गुरुता लघुता गमनता ये अजीव के खेल।

ज्ञानी जानता है कि यह तन-मन-वचन आदि तो जड़ अजीव के खेल हैं, वे कोई

मेरे कार्य नहीं हैं, उनके साथ मेरा सम्बन्ध नहीं है। मैं तो तन-मन-वचन रहित, ज्ञान-दर्शन-सुख का पिण्ड हूँ; मेरा विलास तो चैतन्यरूप है। चैतन्यविलास ही मेरा स्वतत्त्व है और शरीरादिक जड़ का विलास, वह परतत्त्व है। इस प्रकार स्व-परतत्त्वों को भिन्न-भिन्न जानकर, ज्ञानी अपने स्वतत्त्व को ही उपादेय करके, उसमें एकाग्र होता है और परतत्त्वों को हेय जानकर उनकी अपेक्षा करता है—ऐसे ज्ञानी तो स्वतत्त्व के आश्रय से मुक्ति प्राप्त करता है और मूढ़ बहिरात्मा तो शरीरादि परद्रव्यों को ही उपादेय मानकर अपने स्वरूप से च्युत होकर बँधता है।

निजस्वरूप में एकत्व से जीव, मुक्ति प्राप्त करता है और परपदार्थों में एकत्व से जीव, बँधता है—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥

स्वतत्त्व क्या, परतत्त्व क्या—ऐसे स्व-पर के भेदविज्ञान बिना जीव की मति पर में ही बनी रहती है, किन्तु स्वहित को नहीं साधती। मति, अर्थात् बुद्धि कहाँ वर्तती है, उस पर बंध-मोक्ष का आधार है। जिसकी मति अन्तर्मुख होकर शुद्ध आत्मा में वर्तती है, वह मोक्ष प्राप्त करता है, और जिसकी मति बहिर्मुख पर में ही वर्तती है, वह बँधता है।

जीव, अजीवादि तत्त्वों को जानने का तात्पर्य भी यही है कि स्वद्रव्य में सन्मुख होना और परद्रव्यों से पराङ्मुख होना; हितकारी तत्त्वों को उपादेय मानना और अहितकारी तत्त्वों को हेय जानकर छोड़ना। हितकारी तत्त्व, संवर-निर्जरा-मोक्ष हैं, वे शुद्ध आत्मा के ही आश्रय से होते हैं; इसलिए सात तत्त्वों को जानकर शुद्धात्मा का तो आश्रय करना चाहिए और आस्रव-बन्ध अहितकारी तत्त्व हैं, वे पर के आश्रय से होते हैं; इसलिए सात तत्त्वों को जानकर उस अजीव का आश्रय छोड़ना चाहिए। इस प्रकार सात तत्त्वों को जानकर, उनमें हेय-उपादेयरूप प्रवृत्ति से जीव के हितरूप प्रयोजन की सिद्धि होती है। ●

चैतन्य आत्मा इन्द्रियगोचर नहीं

अज्ञानी की बाह्य दृष्टि होने से, बाह्य में दिखायी देनेवाले इन तीन लिङ्गरूप शरीरों को ही वह आत्मारूप से जानता है और ज्ञानी तो अन्तर्दृष्टि के द्वारा उन स्त्री-पुरुष के शरीरों से भिन्न आत्मा को जानता है—ऐसा अब कहते हैं:—

दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्गमवबुध्यते।
इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्दवर्जितम् ॥४४॥

दिखते त्रय तन चिह्न को, मूढ़ कहे निजरूप।
ज्ञानी मानें आपको, वचन बिना चिद्रूप॥४४॥

अन्वयार्थ :- (**मूढः**) अज्ञानी बहिरात्मा, (**इदं दृश्यमानं**) इस दिखायी देनेवाले शरीर को (**त्रिलिंगं अवबुध्यते**) स्त्री-पुरुष-नपुंसक के भेद से यह आत्मतत्त्व, त्रिलिङ्गरूप है — ऐसा मानता है, किन्तु (**अवबुद्धः**) आत्मज्ञानी अन्तरात्मा, (**इदं**) 'यह आत्मतत्त्व है, वह त्रिलिङ्गरूप नहीं है (**तु**) परन्तु वह (**निष्पन्नं**) अनादि संसिद्ध तथा (**शब्दवर्जितम्**) नामादिक विकल्पों से रहित है' (**इति**) — ऐसा समझता है।

मूढ़ अज्ञानी बहिरात्मा, बाह्य में दृश्यमान ऐसे स्त्री-पुरुष आदि शरीरों को ही देखता है, इसलिए उन्हीं को आत्मा मानता है। आत्मा ही तीन लिङ्ग के तीन भेदरूप है—ऐसा वह मानता है, किन्तु ज्ञानी तो शरीर से भिन्न और वचन से पार अनादि-स्वयं सिद्ध चैतन्यमय अपने आत्मा को जानता है।

जो जीव, राग को ही आत्मा मानता है, राग से लाभ मानता है, वह जीव सचमुच शरीर को ही आत्मा मानता है, क्योंकि शरीर, वह राग का फल है। ज्ञानी जानता है कि यह शरीर मैं नहीं हूँ, जिससे इस शरीर की प्राप्ति हुई, वह भाव भी मेरा स्वरूप नहीं है; मैं तो

ज्ञायकशरीरी / अशरीरी हूँ। अतीन्द्रियज्ञान ही मैं हूँ। अज्ञानी दृश्यमान शरीर को ही देखता है; चैतन्य तो उसे अदृश्य ही ज्ञात होता है। ज्ञानी जानता है कि दृश्यमान ऐसे शरीरादि मैं नहीं हूँ, किन्तु उनका जो दृष्टा है, वही मैं हूँ। मैं पुरुष नहीं हूँ, मैं तो आत्मा हूँ; मैं स्त्री नहीं हूँ, मैं तो आत्मा हूँ। इन्द्रिय के कोई चिह्न मैं नहीं हूँ और न मैं उन चिह्नों द्वारा पहिचान में आता हूँ; मैं तो शरीर के चिह्नों से पार अलिङ्ग हूँ, मेरा आत्मा, इन्द्रियादि लिङ्गों से अग्राह्य है; इसलिए अलिङ्गग्राह्य है। अतीन्द्रियज्ञान द्वारा ही अनुभव में आता है।

इस शरीर की आकृतियों के कारण जीव को विकार होता है—ऐसा जो मानता है, वह जीव अपने को स्त्री-पुरुषादि शरीररूप ही मानता है। इन्द्रियादि के अवलम्बन द्वारा ज्ञान होता है—ऐसा जो मानता है, वह भी वास्तव में इन्द्रियों से भिन्न आत्मा को नहीं मानता, किन्तु इन्द्रियों को ही आत्मा मानता है। पाँच इन्द्रियाँ अथवा उनके किन्हीं भी विषयों में जो सुख मानता है, वह इन्द्रियों तथा शरीर को ही आत्मा मानता है। अतीन्द्रिय आत्मा जब तक लक्ष्य में-प्रतीति में और अनुभव में न आये, तब तक किसी न किसी प्रकार शरीर में आत्मबुद्धि का वेदन होता ही है। अन्तरात्मपना हो तो बहिरात्मपना दूर हो, अर्थात् अन्तर्मुख होकर देहादि से पार आत्मा को पहिचाने तो उसी में ममत्वबुद्धि हो और शरीरादि में ममत्वबुद्धि दूर हो... फिर चाहे जितने सुन्दर शरीर में भी उसे स्वप्न में भी सुख की कल्पना नहीं होगी।

सम्यग्दृष्टि जीव, वस्तुस्वरूप का ज्ञाता है; शरीर से भिन्न अपना चैतन्यस्वरूप उसकी प्रतीति में आ गया है; इसलिए वह अपने को चैतन्यस्वरूप से ही अनुभव करता है; स्त्री अथवा पशु आदि के शरीररूप अपने को नहीं मानता।

देखो, यह भेदज्ञानी की बुद्धि! वह ऊपरी धारणा की बात नहीं, किन्तु अन्तर्वेदन की बात है। शरीर और राग दोनों से पार होकर उसकी दृष्टि ने अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्दवान चैतन्यतत्त्व को देख लिया है; वह दृष्टि अब सारे जगत को अपने से बाह्यरूप ही देखती है.... और बाह्यवस्तु में सुख कैसे हो सकता है? इसलिए कहा है कि:—

सकल जगत ते ऐठवत् अथवा स्वप्न समान
ते कहीये ज्ञानी दशा बाकी वाचा-ज्ञान।

इस संसार में जीव को शरीर, स्त्री आदि के संयोग तो अनन्त बार आये और गये; इस प्रकार अनन्त बार भोगे जाने से वे पदार्थ चैतन्य के लिये जूठन के समान हैं; जूठन को कौन फिर से मुँह में डालेगा ? उसमें कौन सुख मानेगा ? इस प्रकार ज्ञानी को चैतन्य से बाह्य सारे जगत् में कहीं भी सुख की कल्पना नहीं है; इसलिए उसे तो वह जूठन के समान ही है। फिर जगत् के पदार्थ तो जगत् में ही हैं, किन्तु स्वयं जहाँ अन्तर्मुख होकर अपने आत्मा की ओर उन्मुख हुआ, वहाँ उस स्वतत्त्व में जगत भासित नहीं होता; इसलिए उसे स्वप्न-समान कहा है।

अहा! ऐसे चैतन्यतत्त्व के अनुभव की धुन में जगत की अनुकूलता-प्रतिकूलता कहाँ देखें ? चैतन्य की धुन के सामने जगत की अनुकूलता-प्रतिकूलता देखने में ज्ञानी नहीं रुकते; इसलिए चाहे जैसी स्थिति में भी उन्हें चैतन्य की समाधि वर्तती ही रहती है। सम्यग्दर्शन में ही महान समाधि की शक्ति है। सम्यग्दर्शन किसी भी समय-किसी भी स्थिति में स्ववस्तु को नहीं भूलता; स्वविषय में उसे भ्रान्ति ही नहीं होती; इसलिए उसे शान्ति और समाधि होती है। इसके अतिरिक्त जिन्हें शरीरादि की क्रिया में कर्तृत्व वर्तता है—ऐसे अज्ञानी जीवों को कदापि समाधि या शान्ति नहीं होती। ●

भ्रान्ति हो वहाँ शान्ति नहीं,
शान्ति हो वहाँ भ्रान्ति नहीं।

भेदज्ञान की भावना दृढ़ रखना

भेदज्ञानी अन्तरात्मा को अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा में ही 'यह मैं'—ऐसी आत्मबुद्धि है; इसके अतिरिक्त बाह्य में दृश्यमान देहादि किन्हीं भी पदार्थों में उसे आत्मबुद्धि नहीं होती–ऐसा ४४ वीं गाथा में कहा है।

धर्मात्मा ने देह से भिन्न, शब्द से पार और विकल्प से अगोचर—ऐसे आत्मतत्त्व को स्वसंवेदन से जाना है, तथा उसकी भावना भी करता है, तथापि अभी अस्थिरता के कारण उसे राग–द्वेष भी होते दिखायी देते हैं; इसलिए जिज्ञासु शिष्य को समझने के लिये प्रश्न उठता है कि—हे स्वामी! शरीर से भिन्न आत्मा को जान लेने पर भी तथा उसकी भावना करने पर भी, धर्मात्मा को पुनः–पुनः यह राग–द्वेष क्यों होते हैं? राग –द्वेषरहित समाधि तुरन्त क्यों नहीं होती? शरीरादि से भिन्नत्व जान लेने पर भी उनमें राग –द्वेष क्यों होते हैं? (एक प्रश्न तो इस अपेक्षा से है) दूसरी अपेक्षा यह भी है कि—आत्मा शरीर से भिन्न है—ऐसा जान लेने पर भी, तथा उसकी भावना करने पर भी जीव को पुनः भ्रान्ति क्यों होती है? अर्थात् वह पुनः अज्ञानी क्यों हो जाता है? इसके उत्तर में आचार्यदेव कहते हैं कि—

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि।
पूर्वविभ्रमसंस्काराद् भ्रांतिं भूयोऽपि गच्छति॥४५॥

आत्मविज्ञ यद्यपि गिने, जाने तन-जिय भिन्न।
पर विभ्रम संस्कारवश, पड़े भ्राँति में खिन्न॥४५॥

अन्वयार्थ :– अन्तरात्मा (**आत्मनः तत्त्वं**) अपने आत्मा के शुद्ध चैतन्यस्वरूप को (**जानन् अपि**) जानता हुआ भी (**विविक्तं भावयन् अपि**) और शरीरादिक अन्य पर–पदार्थों से भिन्न अनुभव करता हुआ भी, (**पूर्वविभ्रमसंस्कारात्**) पहली बहिरात्मावस्था

में होनेवाली भ्रान्ति के संस्कारवश (**भूयोऽपि**) पुनरपि (**भ्रांतिं गच्छति**) भ्रान्ति को प्राप्त हो जाता है।

शरीर से भिन्न आत्मत्त्व को जानने पर भी तथा भावना करने पर भी पुन: भ्रान्ति हो जाती है अथवा राग-द्वेष होते हैं, वह पूर्वकालीन विभ्रम के संस्कारों का कारण है। शरीर से भिन्नता जानने पर भी, राग-द्वेषरहित समाधि होने के बदले अभी भी राग-द्वेष होते हैं, उसका कारण अनादि से चली आ रही राग-द्वेष की परम्परा अभी सर्वथा टूटी नहीं है; उसके संस्कार अभी बने हुए हैं; इसलिए उसे वह अस्थिरतारूपी भ्रान्ति है। अथवा किसी जीव को एकबार भेदज्ञान होने के पश्चात् पुन: अज्ञान और भ्रान्ति हो जाती है तो जीव वर्तमान में चैतन्य भावना के संस्कारों को भूलकर पूर्वकालीन विभ्रम के संस्कार पुन: जागृत करता है, इसी कारण उसे भ्रान्ति होती है-ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार जो जीव पुन: भ्रान्ति करता है, वह बहिरात्मा हो जाता है। इसलिए अन्तरात्मा को सावधान करते हैं कि—हे अन्तरात्मा! शरीर से भिन्न चैतन्यतत्त्व को जानकर तूने जो अपूर्व दशा प्रगट की है, उसमें भेदज्ञान की ऐसी दृढ़ भावना रख कि पूर्व कालीन भ्रान्ति के संस्कार पुन: जागृत न हों।

अथवा, यह 'समाधि' के उपदेश का शास्त्र होने के कारण समाधि की अपेक्षा से लें तो भेदज्ञान के पश्चात् भी जितने राग-द्वेष होते हैं, उतनी असमाधि है। भेदज्ञानी-अन्तरात्मा होने के पश्चात् भी यह असमाधि क्यों?—तो कहते हैं कि राग-द्वेष के अनादिकालीन संस्कार अभी चले आ रहे हैं, इसलिए राग-द्वेष होते हैं। स्त्री-पुत्र-बंधु आदि के वियोग में धर्मात्मा को भी शोक होता है, रुदन भी करते हैं तथा बंधु-लक्ष्मी-स्त्री-पुत्रादि के संयोग में अपनी कमजोरीवश हर्ष परिणाम भी उसे होते हैं क्योंकि अभी वीतराग समाधि नहीं हुई है; वहाँ भेदज्ञान होने पर भी ऐसे हर्ष-शोक के परिणाम वर्तते हैं; इसलिए ज्ञानचेतना के साथ उसे उतनी कर्मचेतना भी है। उसे श्रद्धा-ज्ञान में भ्रान्ति नहीं है, किन्तु अस्थिरता की अपेक्षा से भ्रान्ति कही जाती है। जिसे श्रद्धा-ज्ञान में भी भ्रान्ति हो जाये, वह तो बहिरात्मा है। भेदज्ञान की भूमिका में भी जितने राग-द्वेष हों, उतनी असमाधि है; उन राग-द्वेष को दूर करके, वीतरागरूप से स्वरूप में स्थिर हो, तभी पूर्ण समाधि एवं शान्ति होती है। ऐसी समाधि प्राप्त करने के लिये धर्मी जीव कैसे चिन्तवन द्वारा उन राग-द्वेष को दूर करके मध्यस्थ होता है—वह अगली गाथा में कहते हैं। ●

वीतरागी समाधि के लिये धर्मी जीव की भावना

वीतरागी समाधि के लिये धर्मी जीव भेदज्ञान की दृढ़ भावना भाता है कि—

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः ॥४६॥

जो दिखते चेतन नहीं, चेतन गोचर नाहिं।
रोष-तोष किससे करूँ, हूँ तटस्थ निज माँहि ॥४६॥

अन्वयार्थ :- अन्तरात्मा तब अपनी विचारपरिणति को इसरूप करे कि **(इदं दृश्यं)** यह जो दृष्टिगोचर होनेवाला पदार्थ-समूह है, वह समस्त ही **(अचेतनं)** चेतनारहित-जड़ है और जो **(चेतनं)** चैतन्यरूप आत्मा है, वह **(अदृश्यं)** इन्द्रियों के द्वारा दिखायी नहीं पड़ता; **(ततः)** इसलिए वह **(क्व रुष्यामि)** मैं किस पर तो क्रोध करूँ और **(क्व तुष्यामि)** किस पर सन्तोष व्यक्त करूँ? **(अतः अहं मध्यस्थः भवामि);** अतः में तो अब राग-द्वेष के परित्यागरूप मध्यस्थभाव को धारण करता हूँ।

यह जो-जो शरीरादि दृश्य पदार्थ हैं, वे तो अचेतन हैं; उन्हें तो कोई खबर नहीं है कि कौन हमारे ऊपर राग करता है अथवा कौन द्वेष करता है? और राग-द्वेषादि को जाननेवाला जो चेतनतत्त्व है, वह तो इन्द्रियों से अग्राह्य-अदृश्य है; तो मैं किस पर राग-द्वेष करूँ? इसलिए बाह्य पदार्थों से उदासीन होकर मैं मध्यस्थ होता हूँ—ऐसा धर्मी विचार करता है और अपनी परिणति में समाधि रखता है।

यह शरीर सुन्दर अथवा यह कुरूप—ऐसी बुद्धि से राग या द्वेष करूँ, तो बेचारा शरीर तो कुछ जानता नहीं है। यह शरीर ही मैं नहीं हूँ, शरीर तो अचेतन है। अचेतन पर

राग-द्वेष करने से क्या ? इसलिए शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न देखनेवाले ज्ञानी को राग-द्वेष का अभिप्राय नहीं रहता। सुन्दर स्त्री को देखे वहाँ, 'यह स्त्री सुन्दर है'—ऐसा मानकर अज्ञानी राग करता है। ज्ञानी तो आत्मा और शरीर को भिन्न-भिन्न देखता है कि यह जो सुन्दर शरीर दिखायी देता है, वह तो मलिन, अचेतन परमाणु का क्षणभंगुर पुतला है; उसे तो खबर नहीं है कि कौन उससे प्रीति करता है ? और स्त्री के शरीर में जो आत्मा विद्यमान है, वह मुझे आँखों से दिखायी नहीं देता, तो बिना देखे उस पर राग कैसा ? इसलिए मेरे राग-द्वेष का कोई विषय नहीं है; मैं तो ज्ञाता रहकर उदासीन -मध्यस्थ होता हूँ। पर के प्रति मध्यस्थ रहकर मैं अपने स्वतत्त्व को ही विषय करता हूँ— आत्मा ही मेरा ध्येय है..... उसी को ज्ञान का विषय बनाकर मैं मध्यस्थ होता हूँ। यह मध्यस्थता ही समाधि है। सम्यक्त्वी को ही ऐसी समाधि होती है। जिसके ज्ञान का विषय स्वतत्त्व नहीं है, उसे पर के प्रति राग-द्वेष का मिथ्या अभिप्राय वर्तता है; इसलिए उसे असमाधि ही होती है।

धर्मात्मा को चारित्र के दोषानुसार अल्प राग-द्वेष हों, तथापि ज्ञान का विषय (ज्ञान का ध्येय) बदल गया है। ज्ञान-आनन्दरूप आत्मा ही मेरा स्वविषय है। जहाँ राग-द्वेष हों, वहाँ अन्तर के चैतन्यविषय का बारम्बार स्पर्श करके ज्ञानी, राग-द्वेष को दूर करता है। अज्ञानी बाह्य विषयों के प्रति रोष-तोष करता है; उसका ध्येय ही बाह्य में घूम रहा है। ज्ञानी ने अन्तर के चैतन्यस्वभाव को ही ध्येय बनाया है और बाहर में भी जड़-चेतन की भिन्नता देखता हुआ वह मध्यस्थ रहता है।

मैं तो ज्ञानमूर्ति ज्ञायक हूँ...... जगत के पदार्थ अपने-अपने परिणमन प्रवाह में चले जाते हैं...... जिस प्रकार नदी में बाढ़ आती है, वहाँ पानी का प्रवाह तो वेगपूर्वक चलता ही रहता है..... कोई अज्ञानी किनारे खड़ा-खड़ा ऐसा माने कि "यह मेरा पानी आया.... और चला जा रहा है !! अरे, मेरा पानी चला जा रहा है !!" तो वह दुःखी होता है। अथवा ऐसा माने कि पानी के प्रवाह में मैं बहा जाता हूँ तो दुःखी ही होगा, किन्तु किनारे खड़ा-खड़ा मध्यस्थरूप से देखता रहे तो उसे कोई दुःख नहीं होगा। उसी प्रकार जगत के पदार्थों का परिणमन प्रवाह चला जाता है; उसका मध्यस्थरूप से ज्ञाता रहने के बदले जो अज्ञानी

जीव ऐसा मानता है कि मैं इन पदार्थों को परिणमित करता है; अथवा यह पदार्थ मेरे हैं, वह जीव, मोह के कारण दु:खी होता है। अथवा जो जीव मध्यस्थ-वीतरागी ज्ञाता न रहकर, उस परिणमन प्रवाह में राग-द्वेष करके बहता है, उसे भी राग-द्वेष की असमाधि और दु:ख होता है। अपने चिदानन्दस्वभाव में एकाग्रता करके बाह्य पदार्थों के प्रति उदासीनता हो जाने से राग-द्वेष नहीं होते और वीतराग-समाधिरूप आनन्द का अनुभव होता है; इसलिए धर्मात्मा को उसी का अवलम्बन लेना चाहिए। ●

मुनिराज की अन्तर-साधना

अतीन्द्रिय आनन्द में झूलनेवाले मुनिराज, छठवें-सातवें गुणस्थान में रहने के काल में भी आत्मशुद्धि की दशा में आगे बढ़े बिना, वहीं के वहीं नहीं रहते। छठवें-सातवें गुणस्थान में रहते हुए भी आत्मशुद्धि की दशा विकसित होती ही रहती है। केवलज्ञान न हो, तब तक मुनिराज शुद्धि की वृद्धि करते ही जाते हैं। **यह तो मुनिराज की अन्तर-साधना है; जगत के जीव मुनिराज की इस अन्तर-साधना को नहीं देख पाते।** साधना कोई बाह्य से देखने की वस्तु नहीं है, क्योंकि यह तो अन्तर की दशा है।

वन में अकेले विचरण करते हों, बाघ-सिंह की दहाड़ गूँजती हो, सिर पर जोरदार पानी बरसता हो व शरीर में रोग हो तो भी मुनिराज को इनका बिल्कुल भान नहीं रहता; वे तो अन्तर में एकाग्र रहते हैं – ऐसे मुनिराज की अन्तरशुद्धि तो वृद्धिगत होती ही है; अन्तर में शुद्धता के लिए चलनेवाला पुरुषार्थ भी उग्र होता जाता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, जिणसासणं सव्वं, पृष्ठ ४०

मूढ़ और धर्मात्मा के ग्रहण-त्याग का विषय

अब, मूढ़ जीवों के त्याग-ग्रहण का विषय क्या है और धर्मात्मा के त्याग-ग्रहण का क्या विषय है ? वह दर्शाते हैं—

त्यागादाने बहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्मवित्।
नान्तर्बहिरुपादानं न त्यागो निष्ठितात्मनः ॥४७॥

बाहर से मोही करे, अन्दर अन्तर-आत्म।
दृढ़ अनुभववाला नहीं, करे ग्रहण और त्याग ॥४७॥

अन्वयार्थ :- (**मूढः**) मूर्ख बहिरात्मा, (**बहिः**) बाह्यपदार्थों का (**त्यागादाने करोति**) त्याग और ग्रहण करता है, अर्थात् द्वेष के उदय से जिनको अनिष्ट समझता है, उनको छोड़ देता है और राग के उदय से जिन्हें इष्ट समझता है, उनको ग्रहण कर लेता है; तथा (**आत्मवित्**) आत्मा के स्वरूप का ज्ञाता अन्तरात्मा, (**अध्यात्मं त्यागादाने करोति**) अन्तरङ्ग राग-द्वेष का त्याग करता है और अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप निजभावों का ग्रहण करता है परन्तु (**निष्ठितात्मनः**) शुद्धस्वरूप में स्थित जो कृतकृत्य परमात्मा हैं, उनके (**अन्तःबहि**) अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग किसी भी पदार्थ का (**न त्यागः**) न तो त्याग और (**न उपादानं**) न ग्रहण होता है।

अज्ञानी का विषय ही बाह्य है, इसलिए बाह्य पदार्थों में ही वह ग्रहण-त्याग की बुद्धि करता है। ये बाह्य पदार्थ इष्ट हैं, इसलिए इन्हें ग्रहण करूँ और ये पदार्थ अनिष्ट हैं, इसलिए उन्हें छोड़ दूँ—इस प्रकार बाह्य पदार्थों में दो भाग करके उनका ग्रहण-त्याग करना चाहता है, उसमें मात्र राग-द्वेष का ही अभिप्राय है; इसलिए उसे असमाधि ही है। ज्ञानी का विषय अन्तर में अपना आत्मा ही है; समस्त बाह्य पदार्थों को वह अपने से भिन्न

ही जानता है, इसलिए किसी बाह्य पदार्थ को मैं ग्रहण करूँ या छोड़ूँ—ऐसा उसके अभिप्राय में नहीं रहा। परपदार्थ मेरे हैं ही नहीं, तो मैं उसका ग्रहण कैसे करूँ अथवा उन्हें कैसे छोड़ूँ?—इसलिए बाह्य में मुझे कुछ भी ग्रहण करने या त्यागनेयोग्य नहीं हैं। अन्तरात्मा अपने शुद्ध आत्मा को ग्रहण करके (अर्थात् उसमें श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से एकाग्र होकर) रागादि परभावों को छोड़ता है। इस प्रकार अन्तर में ही उसे ग्रहण-त्याग है। ज्ञानी की दृष्टि का विषय ही बदल गया है; और जहाँ स्वरूप में स्थिरतारूप समाधि है, वहाँ तो ऐसी कृतकृत्यता है कि कुछ ग्रहण-त्याग करना नहीं रहा... परम तृप्ति है।

बाह्य विषयों से भिन्न अन्तर का चैतन्य विषय जिसकी दृष्टि में नहीं आया, उसे बाह्य पदार्थों के प्रति द्वेषबुद्धि से त्याग की भावना वर्तती है तथा रागबुद्धि से उन्हें ग्रहण करने की भावना वर्तती है। चैतन्य के ग्रहण बिना अज्ञानी की पर के प्रति राग-द्वेष की बुद्धि नहीं छूटती; इसलिए उसका त्याग, द्वेषभावपूर्वक ही होता है; उसे वीतरागभाव नहीं है क्योंकि चैतन्य के अवलम्बन बिना वीतरागभाव नहीं होता और चैतन्य विषय तो अज्ञानी की दृष्टि में आया ही नहीं है। जहाँ अन्तरस्वभाव को विषयरूप करके ज्ञान में लिया, (ज्ञानस्वभाव को ही ग्रहण किया), वहाँ बाह्य विषयों का ग्रहण ही नहीं रहा; इसलिए बाह्य विषयों के प्रति राग-द्वेष नहीं रहा, राग-द्वेष का त्याग होकर समाधि ही हुई। इस प्रकार स्वविषय का ग्रहण ही समाधि का उपाय है। जिसने दृष्टि का विषय नहीं बदला है (—पर विषय छूटकर स्वविषय जिसकी दृष्टि में नहीं आया है), उसे किसी प्रकार समाधि नहीं होती; और समाधिरहित त्याग तो द्वेषपूर्ण त्याग है, क्योंकि उसे राग-द्वेषरहित आत्मशान्ति का वेदन नहीं है।

चैतन्यस्वभाव का अवलम्बन लिये बिना बाह्य में त्याग करने जाता है, वह तो द्वेषगर्भित है। ज्ञानी को अन्तर में चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से ज्यों-ज्यों वीतरागी शान्ति बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों राग-द्वेष छूटते जाते हैं और बाह्य विषयों का अवलम्बन भी छूटता जाता है; इस प्रकार पर से भिन्न आत्मस्वरूप की भावना ही समाधि का उपाय है।

यह समाधि अधिकार है, इसलिए आत्मा को समाधि कैसे हो, शान्ति कैसे हो—उसकी बात चलती है। उसमें कैसे ग्रहण-त्याग से समाधि होती है, यह कहते हैं।

– जो चैतन्यस्वरूप को जानकर परिपूर्ण ज्ञान और आनन्दस्वरूप परमात्मा हो गये, उन्होंने तो ग्रहणयोग्य ऐसा अपना शुद्धस्वरूप ग्रहण कर लिया और त्यागनेयोग्य ऐसे मोह-राग-द्वेष छोड़ दिये; इसलिए उन्हें तो पूर्ण समाधि ही है।

– जो अन्तरात्मा हैं, उन्होंने शरीर आदि समस्त पदार्थों से अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा को भिन्न जाना है; इसलिए पर में तो किसी का ग्रहण या त्याग करना वे मानते नहीं; अपने ज्ञानानन्दस्वरूप को ही उपादेय जाना है और परभावों को हेय जाना है; इसलिए चैतन्यस्वभाव का ही ग्रहण करके, (उसमें लीनता करके), वे परभावों को छोड़ते जाते हैं और उन्हें समाधि होती जाती है। और

– मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा तो बाह्य पदार्थों के साथ स्वयं को एकमेक मानता है; परपदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानता है; इसलिए वह किन्हीं अनुकूल परपदार्थों के प्रति राग करके उन्हें ग्रहण करना चाहता है और किन्हीं प्रतिकूल परपदार्थों के प्रति द्वेष करके उन्हें छोड़ना चाहता है; इस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव, राग-द्वेष से पर को ग्रहण-त्याग करना मानता है। इस तरह मिथ्या अभिप्राय के कारण उसका त्याग भी द्वेषगर्भित है; उसे समाधि नहीं होती परन्तु असमाधि ही रहती है।

घर या जंगल; महल या श्मशान –ये सब आत्मा से भिन्न परद्रव्य हैं, तथापि अज्ञानी बाह्यदृष्टि से ऐसा मानता है कि घर छोड़ूँ और जंगल में जाऊँ तो शान्ति हो... परन्तु अरे भाई! शान्ति जंगल में है या आत्मा में है? मकान तुझे अनिष्ट है या तेरा मोह अनिष्ट है? मोह को तो छोड़ता नहीं और मकान को अनिष्ट मानकर छोड़ना चाहता है, यह अभिप्राय ही मिथ्या है और मिथ्याअभिप्रायसहित का त्याग, वह तो द्वेष से भरपूर है। चैतन्य के वीतरागभाव बिना शान्ति का वेदन नहीं होता।

चैतन्य गुफा में प्रवेश करके शान्ति के वेदन में लीन होने पर, बाह्य पदार्थों के प्रति मोह-राग-द्वेष की वृत्ति ही उत्पन्न न हो, उसका नाम त्याग है और जहाँ राग-द्वेष-मोह छूटे, वहाँ उसके निमित्त (वस्त्रादि) भी सहज छूट जाते हैं; इसलिए उनका त्याग किया— ऐसा निमित्त से कहा जाता है। वस्तुतः बाह्य पदार्थों का ग्रहण-त्याग ज्ञानी नहीं मानते। उन्हें ग्रहण और त्याग तो अन्तर में अपने भाव का ही है। वे अन्तर में स्वभाव को ग्रहण करके

(श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव में लेकर) रागादि को छोड़ते हैं। जिसने राग से पार चिदानन्दस्वभाव को जाना ही नहीं, वह रागादि को किस प्रकार छोड़ेगा? अज्ञानी को आत्मा का तो भान नहीं और बाह्य पदार्थों को ही देखता है; इसलिए बाह्य-सन्मुख ही वर्तता हुआ राग-द्वेष से पर पदार्थों का ग्रहण-त्याग करना वह मानता है। इस विपरीत मान्यता में उसे स्वभाव का त्याग हो जाता है और रागादि विभाव का ग्रहण हो जाता है। पर का ग्रहण-त्याग तो उसे भी नहीं होता।

इस गाथा में तीन बातें बतलायी हैं—

१- परमात्मा को कुछ ग्रहण-त्याग करना नहीं रहा तथा जो आत्मा में स्थिर होते हैं—ऐसे निर्विकल्प योगियों को कुछ ग्रहण-त्याग करना नहीं रहा।

२- अन्तरात्मा को अपने अन्तरभावों में ही ग्रहण-त्याग है; वे अपने शुद्धभावों को ग्रहण करते हैं और परभावों को छोड़ते हैं।

३- बहिरात्मा, बाहर में ग्रहण-त्याग करना मानते हैं।

इसका विवेचन—

(१) परमात्मा तथा निर्विकल्प मुनिवर तो चिदानन्दतत्त्व को समस्त परद्रव्यों और परभावों से भिन्न जानकर, अपने चैतन्यस्वरूप में ही स्थिर हो गये हैं; इसलिए उन्होंने ग्रहणयोग्य ऐसे अपने ज्ञान-आनन्द को ग्रहण कर लिया है और छोड़नेयोग्य परभावों को सर्वथा छोड़ दिया है; इसलिए वे कृतकृत्य हैं। अब कुछ ग्रहण करना या छोड़ना उन्हें बाकी नहीं रहा है। इस प्रकार परमात्मा और निर्विकल्प मुनिवर तो ग्रहण-त्याग से रहित है।

(२) अन्तरात्मा ने अपने चिदानन्दस्वरूप को समस्त परद्रव्यों और परभावों से भिन्न जाना है, परन्तु अभी उसमें पूर्ण लीनता नहीं हुई और रागादि सर्वथा छूटे नहीं हैं; इसलिए वे अन्तर-प्रयत्न द्वारा शुद्धज्ञान-आनन्दस्वभाव को ग्रहण करना चाहते हैं तथा रागादि परभावों को छोड़ना चाहते हैं। बाह्य पदार्थों से तो स्वयं भिन्न ही है—ऐसा जाना है; इसलिए बाहर में तो कुछ ग्रहण-त्याग वह मानता ही नहीं। अन्तर्मुख होकर ग्रहणयोग्य ऐसे शुद्ध आत्मा को ग्रहण करके (उसमें एकाग्र होकर) रागादि परभावों को त्यागता है। इस प्रकार अन्तरात्मा को अपने भाव में ही ग्रहण-त्याग है।

(३) बहिरात्मा, अन्तर के चैतन्यतत्त्व को नहीं जानता और बाह्य पदार्थों को ही देखता है; इसलिए बाह्य पदार्थों में ही वह इष्ट-अनिष्टपना मानकर, उन्हें ग्रहण-त्यागना चाहता है। वह जिसे इष्ट मानता है, उस पर राग का अभिप्राय है और जिसे अनिष्ट मानता है, उस पर द्वेष का अभिप्राय है। इस प्रकार वीतरागी अभिप्राय के अभाव में उसे परभावों का त्याग तो नहीं परन्तु राग-द्वेष के अभिप्राय से वह बाह्य पदार्थों का ग्रहण-त्याग करना मानता है। कदाचित् बाह्य में त्यागी-दिगम्बर साधु होकर वन में रहे तो भी उसे असमाधि ही है। चैतन्य में अन्तर्मुख होकर मिथ्यात्वादि परभावों को छोड़े बिना कभी समाधि होती ही नहीं।

धर्मात्मा कदाचित् गृहस्थपने में हो, तथापि चैतन्य में अन्तर्मुख होने से मिथ्यात्वादि परभाव जितने अंश में छूट गये हैं, उतने अंश में उन्हें समाधि ही वर्तती है। खाते-पीते, बोलते-चलते, जागते-सोते सर्व प्रसंग में उतनी वीतरागी समाधि-शान्ति उन्हें वर्तती ही रहती है; इसलिए वास्तव में वे गृहस्थभाव में नहीं परन्तु चेतनभाव में ही वर्तते हैं।

बाहर के ग्रहण-त्याग से अन्तर का माप हो-ऐसा नहीं है। अन्तर्दृष्टि को नहीं जाननेवाले बाह्यदृष्टि मूढ़ लोग, बाह्य त्याग देखकर ठगाते हैं; धर्मात्मा की अन्तरदशा को वे नहीं पहचानते। बाह्य में कुछ त्याग न हो, राजपाट और भोगोपभोग के संयोग के बीच रहे हों, तथापि धर्मात्मा क्षायिक समकिती होते हैं और एकावतारी होते हैं तथा मिथ्यादृष्टि जीव, विशाल राजपाट और हजारों रानियाँ छोड़कर दिगम्बर त्यागी साधु होकर वन में रहता हो... तथापि अनन्त संसारी होता है! बाह्य से देखनेवाले मूढ़ जीव किस आँख से इसका माप निकालेंगे? किस प्रकार पहचानेंगे? वे तो बाह्यदृष्टि की मूढ़ता के कारण बाह्य त्याग देखकर अनन्त संसारी को भी महा धर्मात्मा मान बैठेंगे और एकावतारी धर्मात्मा को वे नहीं पहचानेंगे। अन्तर का अभिप्राय पहचाने बिना धर्मी-अधर्मी की पहचान नहीं होती; इसलिए पर से भिन्न आत्मा को पहचानकर स्व और परभाव का पृथक्करण करके स्वभाव में एकाग्र रहते हुए परभाव छूट जाते हैं; स्वभाव की अनुभूति में ग्रहण-त्याग का कोई भी विकल्प नहीं है।●

उपयोग को वचन और काया से भिन्न करके आत्मा में जोड़

अन्तरात्मा अपने ज्ञान को आत्मा में ही जोड़कर, मन-वचन-काया के साथ का जुड़ान छोड़ता है। इस प्रकार धर्मी को आत्मा के अतिरिक्त कहीं ग्रहण-बुद्धि नहीं होती और अस्थिरता से जो मन-वचन-काया की ओर जुड़ान होता है उसे भी छोड़कर चैतन्य में ही एकाग्रता करना चाहते हैं, यह बात बतलाते हैं—

युञ्जीत मनसाऽऽत्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत्।
मनसा व्यवहारं तु त्यजेद्वाक्काययोजितम्॥४८॥

जोड़े मन सङ्ग आत्मा, वचन-काय से मुक्त।
वचन-काय व्यवहार में, जोड़े न मन, हो मुक्त॥४८॥

अन्वयार्थ :- (**आत्मानं**) आत्मा को (**मनसा**) मन के साथ (**युञ्जीत**) संयोजित करें-चित्त और आत्मा का अभेदरूप से अध्यवसाय करें, (**वाक्कायाभ्यां**) वचन और काय से (**वियोजयेत्**) अलग करें — उन्हें आत्मा न समझे (**तु**) और (**वाक्काययोजितम्**) वचन-काय से किए हुए (**व्यवहारं**) व्यवहार को (**मनसा**) मन से (**त्यजेत्**) छोड़ देवें; उसमें चित्त को न लगावें।

धर्मी अन्तरात्मा अपने मन को, अर्थात् ज्ञान के उपयोग को आत्मा के साथ जोड़ता है और वचन-काया से भिन्न करता है। वचन-काया की क्रियाओं के साथ के मन के जुड़ान को वह छोड़ता है और चिदानन्दस्वभाव में ही ज्ञान को एकाग्र करके उसका ग्रहण करता है। इसमें परद्रव्य को छोड़ने की बात नहीं परन्तु परद्रव्य की ओर का उपयोग छोड़ता है और आत्मा में उपयोग जोड़ता है। पर से भिन्नता जाने बिना पर से उपयोग नहीं छूटता। परद्रव्य से भिन्न स्वद्रव्य को जाने बिना उपयोग उसमें एकाग्र किस प्रकार होगा? और

स्वरूप में उपयोग जोड़े बिना समाधि किस प्रकार होगी ? इस प्रकार स्व-पर के भेदज्ञान के बिना कभी समाधि नहीं होती। जहाँ शरीर, वाणी इत्यादि का कर्तृत्व मानता है, वहाँ उस ओर ही उपयोग जुड़ता है, परन्तु वहाँ से भिन्न पड़कर उपयोग स्व में नहीं आता और स्व में उपयोग आये बिना शान्ति भी नहीं होती।

धर्मी ने अपने आत्मा को देहादि से अत्यन्त भिन्न जाना है; इसलिए समाधि की सिद्धि के लिये, अर्थात् आत्मा की परम शान्ति के अनुभव के लिये अपने उपयोग को देहादि की ओर से पराङ्मुख करके स्वरूप में जोड़ता है। उपयोग को स्वरूप में जोड़ना ही परम शान्तिदातार अध्यात्मभावना है। इस शास्त्र में बारम्बार उसका ही उपदेश किया है और उसकी ही भावना की है।

जितना बहिर्मुख झुकाव जाता है, उतना ही दु:ख है और अन्तर्मुख चैतन्य वेदन में ही आनन्द है—ऐसा स्वसंवेदन से जान लिया होने से धर्मी अपने उपयोग में आत्मा को ही ग्रहण करना चाहता है। जगत के किसी भी बाह्य पदार्थ के प्रति उपयोग जाये तो उसमें उसे अपना सुख भासित नहीं होता। एक निजस्वरूप में ही सुख भासित हुआ है; इसलिए परसन्मुख के व्यापार को छोड़कर, स्वसन्मुख उपयोग को जोड़ता है, अर्थात् स्वद्रव्य को ही ज्ञान में ग्रहण करता है। यह धर्मी जीव की ग्रहण-त्याग की विधि है। इसके अतिरिक्त बाह्य में कुछ ग्रहण-त्याग करना आत्मा को नहीं है। जहाँ उपयोग में स्वद्रव्य का ग्रहण हुआ, वहाँ समस्त परद्रव्य और परभाव उपयोग से बाहर भिन्न ही रह जाते हैं, अर्थात् स्वसन्मुख ढ़ला हुआ उपयोग उनके त्यागस्वरूप ही है; इस प्रकार उपयोग की निजस्वरूप में सावधानी ही समाधि है, वही मोक्षमार्ग है, उसमें ग्रहणयोग्य का ग्रहण और त्यागनेयोग्य का त्याग हो जाता है।

इस प्रकार अन्तरात्मा की ग्रहण-त्याग की विधि जानना चाहिए।●

अज्ञानी बाह्य वस्तु को रम्य मानकर उसका विश्वास करता है ज्ञानी स्वभाव का ही विश्वास करके उसमें रमता है

अन्तर्मुख होकर धर्मात्मा ने, निजस्वरूप में ही सुख है—ऐसा अनुभव किया है; इसलिए वे उसी का विश्वास करके उसमें रमते हैं। निजस्वरूप से बाह्य किसी भी पदार्थ को वे विश्वस्त या रम्य (सुखरूप) नहीं मानते। जिन्हें सुखस्वरूप आत्मा का भान नहीं और देह को ही आत्मा मान रहे हैं—ऐसे मूढ़ जीव ही परपदार्थ में सुख की कल्पना करते हैं। यह बात आगामी गाथा में कहते हैं।

जगद्देहात्मदृष्टीनां विश्वास्यं रम्यमेव च।
स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः ॥४९॥

मूढ़ रति पर में करे, धरे जगत् विश्वास।
स्वात्म-दृष्टि कैसे करे, जग में रति विश्वास॥४९॥

अन्वयार्थ :-(**देहात्मदृष्टीनां**) शरीर में आत्मदृष्टि रखनेवाले मिथ्यादृष्टि बहिरात्माओं को (**जगत्**) यह स्त्री-पुत्र-मित्रादि का समूहरूप जगत (**विश्वास्यं**) विश्वास के योग्य (**च**) और (**रम्यं एव**) रमणीय ही मालूम पड़ता है, परन्तु (**स्वात्मनि एव आत्मदृष्टीनां**) अपने आत्मा में ही आत्मदृष्टि रखनेवाले सम्यग्दृष्टि अन्तरात्माओं को (**क्व विश्वासः**) इन स्त्री-पुत्रादि परपदार्थों में कैसे विश्वास हो सकता है (**वा**) और (**क्व रतिः**) कैसे आसक्ति हो सकती है ? कभी भी नहीं।

जब तक देह में आत्मबुद्धि है, तब तक ही जगत के पदार्थ विश्वसनीय और रम्य लगते हैं, अर्थात् बहिरात्मा को ही जगत के पदार्थों में सुख भासित होता है परन्तु जहाँ अपने आत्मा में ही सुखबुद्धि हुई, वहाँ दूसरे किसमें विश्वास होगा ? या अन्यत्र कहाँ रति होगी ?

अन्तरात्मा को अपने से बाह्य, जगत के किसी भी पदार्थ में सुख भासित नहीं होता; इसलिए उनमें विश्वास या रति नहीं होती.... चैतन्यस्वरूप का ही विश्वास करके उसमें ही वे रमते हैं।

देखो, यह धर्मात्मा का रम्य स्थान! शान्ति का हरित स्थान छोड़कर तमतमाते वीरान प्रदेश में कौन रमे ? तथा बाह्य पदार्थ तो आत्मा के सुख के लिये वीरान प्रदेश जैसे हैं, उनमें कहीं सुख या शान्ति का छींटा भी नहीं है, अपितु उस ओर की वृत्ति से तो तमतमाते ताप की तरह आकुलता होती है और चैतन्यप्रदेश में रमने से परम शान्ति का वेदन होता है... तो फिर ऐसे शान्त, रम्य हरित चैतन्यप्रदेश को छोड़कर उजाड़, वीरान ऐसे परद्रव्य में कौन रमे ? उन्हें रम्य कौन माने ? धर्मी तो माने ही नहीं। जिसने शान्तिधाम रम्य आत्मप्रदेश नहीं देखा, ऐसे मूढ़ जीव ही परद्रव्य में सुख मानकर उन्हें रम्य समझते हैं।

'जगत में जो पदार्थ दुःखदायक हैं, वे भले रम्य न हों परन्तु जो सुखदायक है—ऐसे स्त्री, पुत्र, लक्ष्मी इत्यादि को तो रम्य कहो ?'—ऐसा किसी अज्ञानी को **प्रश्न** उठे तो उसका इस गाथा में **समाधान** किया है। अरे मूढ़! बाह्य पदार्थ तुझे सुखरूप रम्य लगते हैं, वह तेरी बाह्यदृष्टि और देहदृष्टि के कारण ही लगते हैं। वस्तुतः अपने आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई सुखरूप या रम्य नहीं है।

जिसे देह में आत्मबुद्धि है, उसे संयोग में सुखबुद्धि है और उसे सम्पूर्ण जगत् विश्वासयोग्य तथा रम्य लगता है। ज्ञानी तो अपने आत्मा को जगत् से भिन्न जानकर आत्मा को ही विश्वासयोग्य तथा रम्य जानता है। अपने चैतन्यतत्त्व में ही जिसकी दृष्टि है, उसे बाहर में किसका विश्वास ? और किसका प्रेम ? बाहर के किन्हीं भी पदार्थों में मेरा सुख है—ऐसा विश्वास ज्ञानी नहीं करते हैं। अज्ञानी, परचीज़ को अपने सुख का कारण मानकर उसका विश्वास और प्रीति करता है परन्तु आत्मा में सुख है, उसका विश्वास या प्रीति वह नहीं करता। ज्ञानी को चैतन्य के अतीन्द्रियसुख का वेदन हुआ है; इसलिए उसका ही विश्वास और उसकी ही प्रीति है। जगत् में कहीं पर में मेरा सुख है ही नहीं–ऐसा भान है; इसलिए पर में कहीं सुखबुद्धि से आसक्ति नहीं होती। इस प्रकार आत्मा की ही रति होने से ज्ञानी अपने आत्मज्ञान के अतिरिक्त दूसरा कार्य अधिक काल धारण नहीं करता। यह बात आगामी गाथा में कहेंगे।

विश्वासयोग्य, अर्थात् श्रद्धा करनेयोग्य; और रम्य, अर्थात् रमनेयोग्य-लीन होनेयोग्य; ज्ञानी तो आत्मा में ही सुख जानकर उसकी ही श्रद्धा और लीनता करता है; अज्ञानी पर में सुख मानकर उसकी ही श्रद्धा और लीनता करता है, अर्थात् उसे जगत के बाह्य विषय सुखकर और प्रिय लगते हैं; उसे आत्मा प्रिय नहीं लगता। ज्ञानी को आत्मा ही प्रिय लगता है; आत्मा के अतिरिक्त उसे दूसरा कोई प्रिय नहीं लगता।—'जगत् इष्ट नहीं आत्म से।'

आत्मा के स्वभाव के अतिरिक्त बाहर लक्ष्य जाकर जो शुभवृत्ति उठती है, उस शुभवृत्ति का जिसे प्रेम है, उसे भी जगत् के बाह्य विषयों का प्रेम है, आत्मा के स्वभाव का प्रेम नहीं है। द्रव्यलिङ्गी मुनि होकर जो ऐसा मानता हो कि अट्ठाईस मूलगुण इत्यादि शुभविकल्प मुझे मोक्ष का कारण होंगे तो उसे राग का ही विश्वास है परन्तु मुक्तिदातार ऐसा जो अपना वीतरागी आत्मा, उसका विश्वास उसे नहीं है। बाह्य पदार्थों के विश्वास से वह ठगा जायेगा क्योंकि जो बाह्य पदार्थों के आधार से सुख मानता है, उन बाह्य पदार्थों में जीव का सुख नहीं है। जीव उनसे भिन्न है; इसलिए बाह्य विषयों में जो सुख मानता है, वह अवश्य ठगाया जाता है और ज्ञानी तो चिदानन्दस्वभाव में ही सुख मानकर उसी की श्रद्धा और उसमें रमणता करता है। वह कभी ठगाता नहीं है, क्योंकि अपना आत्मा कभी धोखा नहीं देता, उसके सन्मुख होने से वह सुख देता ही है और उसका कभी वियोग नहीं होता। संयोग तो धोखा देकर क्षण में भिन्न पड़ जाता है; इसलिए संयोग के विश्वास से जो सुखी होना चाहता है, वह अवश्य ठगाया जाता है।

यह शरीर और ये अनुकूल संयोग मानो सदा ऐसे के ऐसे रहा करेंगे—ऐसा उनका विश्वास करके अज्ञानी उनमें सुख मानता है परन्तु जहाँ संयोग पलट जायें और प्रतिकूलता हो जाये, वहाँ मानो कि मेरा सुख चला गया! इस प्रकार वह ठगाया जाता है परन्तु अरे भाई! अनुकूल संयोग के समय भी उसमें कहीं तेरा सुख नहीं था; तू उसमें सुख मानकर ठगाया गया है। ज्ञानी तो जानते हैं कि संयोग का क्या विश्वास? उसमें कहीं सुख दिखता ही नहीं। ज्ञानी की नजर एक आत्मा पर ही ठहरती है, अन्यत्र कहीं जगत में उसकी नजर नहीं ठहरती। राग पर भी उसकी दृष्टि नहीं ठहरती; एक आतमराम में ही उसकी नजर ठहरती

है। अहो! मेरा आत्मा एक ही मेरे सुख का धाम है; उसके अतिरिक्त जगत का कोई तत्त्व मेरे सुख का धाम नहीं है; तो उन परद्रव्यों का क्या विश्वास? और उनमें कैसी रति? मेरा आत्मा ही मेरे आनन्द का धाम है—ऐसी ज्ञानी की श्रद्धा का विषय स्वयं का आत्मा ही है।

ज्ञानी, अपने आत्मा का विश्वास करके उसमें परिणाम जोड़ता है।

अज्ञानी, बाह्य संयोग का विश्वास करके उसमें परिणाम जोड़ता है।

अज्ञानी, बाह्य संयोग को सुख का दातार मानकर उन संयोगों में से सुख लेना चाहता है परन्तु संयोग तो सुख कभी देते नहीं; इसलिए अज्ञानी ठगाया जाता है। श्रीमद् राजचन्द्रजी भी कहते हैं कि—

अनन्त सौख्य, नाम दुख त्यां रही न मित्रता।
अनन्त दुःख नाम सुख, प्रेम वहाँ विचित्रता॥

ज्ञानी बाह्य संयोगों में स्वप्न में भी सुख नहीं मानते। वे तो अपने स्वभाव को ही सुख का सागर जानकर उसका विश्वास और उसमें एकाग्रता करते हैं और इस प्रकार अपने अतीन्द्रियसुख को भोगते हैं। वे ठगाते नहीं हैं।

इसलिए हे भव्य! तेरे आत्मा को ही सुख का स्थान जानकर, उसी का विश्वास कर और उसमें ही रमणता कर; बाह्य संयोगों में सुख की मान्यता छोड़-ऐसा श्री पूज्यपादस्वामी का उपदेश है। समकिती को अपना आत्मा ही इष्ट है, आत्मा ही प्रिय है; आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई जगत में इष्ट या सुखरूप नहीं लगता।

समकिती चक्रवर्ती हो और छह खण्ड का राज्य हो, तथापि उसमें कहीं मेरा सुख है—ऐसा स्वप्न में भी विश्वास नहीं करता; ये सब संयोग तो मुझसे अत्यन्त भिन्न ही है और उन संयोगों की ओर की वृत्ति से भी मुझे दुःख है। उसमें कहीं मेरा सुख नहीं है; मेरा सुख तो मेरे चिदानन्दस्वभाव में ही है। इस प्रकार स्वभाव का विश्वास करके, धर्मी बारम्बार उसे ही स्पर्शता है, उसमें डुबकी मारकर शान्तरस का वेदन करता है। चैतन्य के विश्वास से ज्ञानी का जहाज भवसागर से तिर जाता है और मोक्ष में पहुँच जाता है।●

ज्ञानी की चेतना का देहादि के कार्यों से भिन्नपना

ज्ञानी को अपने आत्मा की ही प्रीति तथा आत्मा का ही विश्वास है; संयोग में वे स्वप्न में भी सुख नहीं मानते—ऐसा गाथा ४९ में कहा है। अब, वहाँ प्रश्न होता है कि यदि ऐसा है तो भोजनादि कार्यों में ज्ञानी की प्रवृत्ति क्यों दिखायी देती है ? उसके उत्तर में श्री पूज्यपादस्वामी कहते हैं कि:—

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥५०॥

आत्मज्ञान बिन कार्य कुछ, मन में थिर नहीं होय।
कारणवश यदि कुछ करे, अनासक्ति वहाँ जोय ॥५०॥

अन्वयार्थ :- अन्तरात्मा को चाहिए कि वह (**आत्मज्ञानात्परं**) आत्मज्ञान से भिन्न, दूसरे (**कार्यं**) कार्य को (**चिरं**) अधिक समय तक (**बुद्धौ**) अपनी बुद्धि में (**न धारयेत्**) धारण नहीं करे। यदि (**अर्थवशात्**) स्व-पर के उपकारादिरूप प्रयोजन के वश (**वाक्कायाभ्यां**) वचन और काय से (**किंचित् कुर्यात्**) कुछ करना ही पड़े तो उसे (**अतत्परः**) अनासक्त होकर (**कुर्यात्**) करे।

धर्मात्मा ज्ञानी, आत्मज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य को अपनी बुद्धि में चिरकाल तक धारण नहीं करते; आत्मस्वभाव की भावना छोड़कर किसी भी कार्य में वे युक्त नहीं होते; आत्मा की भावना एक क्षण भी नहीं छूटती। अस्थिरता के कारण प्रयोजनवश शरीर-वाणी की किञ्चित् चेष्टा में युक्त होते हैं, किन्तु उसमें वे अतत्पर हैं; उन्हें उसकी भावना नहीं है; उसमें वे ज्ञान-आनन्द नहीं मानते; इसलिए उससे वे अनासक्त हैं।

धर्मी को आत्मा के ज्ञान-आनन्द का विश्वास है और उसी में उनकी रति है।

शरीरादि बाह्य विषयों में आत्मा का ज्ञान या आनन्द नहीं है, इसलिए धर्मी उसका विश्वास या रति नहीं करते। ज्ञान-आनन्द के लिये किसका विश्वास करना—उसकी यह बात है।

सम्यक्त्वी अन्तरात्मा को अपने ज्ञानस्वरूप की प्रतीति हो गयी है; तदुपरान्त निर्विकल्प अनुभव में आनन्द का स्वाद भी चखा है; अनन्त काल से बाह्य-विषयों में जिस स्वाद का वेदन कभी नहीं हुआ था—ऐसे अपूर्व स्वाद का वेदन अनुभव में हुआ; इसलिए अब धर्मी, बाह्य विषयों से छूटकर चैतन्यस्वरूप में ही स्थिर रहना चाहते हैं; बारम्बार उसी का प्रयत्न करते हैं; अस्थिरता को बढ़ाना नहीं चाहते; बाह्य विषय उन्हें नहीं सुहाते और जहाँ मुनिदशा हो, वहाँ तो निर्विकल्प अनुभव में बारम्बार स्थिर होते हैं; मुनि की परिणति दीर्घकाल तक बाह्य में नहीं रहती... वे तो स्वरूप में ही तत्पर हैं; आहार-उपदेश आदि की क्रियाओं में अतत्पर हैं... तत्सम्बन्धी विकल्प आये तो उसे बढ़ाते नहीं हैं, किन्तु उस विकल्प को तोड़कर बारम्बार निर्विकल्पस्वरूप का अनुभव करते हैं तथा उन विकल्पों के काल में भी ज्ञानी की ज्ञानचेतना तो उनसे सर्वथा भिन्न ही है।

चौथे गुणस्थानवाला सम्यक्त्वी अन्तरात्मा भी रागादि में और विषयों में अतत्पर हैं, क्योंकि उसमें सुख नहीं माना है। राजपाट हो, रानियाँ हों, खाते-पीते हों, तथापि अन्तर के चैतन्यसुख की प्रीति के समक्ष वे किन्हीं भी बाह्य विषयों में या राग में तत्पर नहीं होते... कब यह राग तोड़ूँ और कब अपने आनन्द में स्थिर होऊँ—यही एक भावना है। यद्यपि अभी अस्थिरता होने से राग होता है, और मन-वाणी-देह की क्रियाओं पर लक्ष्य जाता है, किन्तु उनमें कहीं ऐसी एकाग्रता नहीं होती कि अपने ज्ञान-आनन्द को भूल जायें और बाह्य में आनन्द मानें। अज्ञानी को ऐसा लगता है कि ज्ञानी राजपाट में विद्यमान हैं, खाते-पीते हैं, बोलते हैं; इसलिए उसी में तत्पर हैं, किन्तु ज्ञानी के अन्तरंग-परिणाम, विषयों से और राग से कैसे पार हैं—उसकी अज्ञानी को खबर नहीं होती.... चैतन्य सुख का जो स्वाद ज्ञानी के वेदन में आया, उस स्वाद की अज्ञानी—विषयलुब्ध प्राणी को बेचारे को गन्ध भी नहीं है... इसलिए वह ज्ञानी को अपनी दृष्टि से देखने जाता है, किन्तु ज्ञानी की वास्तविक दशा को वह नहीं पहिचानता।

मुनि ध्यान में आत्मा के आनन्द में लीन हों और कोई सिंह आकर शरीर को फाड़

रहा हो... वहाँ बाह्यदृष्टि मूढ़ प्राणी को तो ऐसा लगता है कि—'अरेरे! यह मुनि कितने दु:खी हैं!!' किन्तु मुनि के अन्तर में तो सर्वार्थसिद्धि के देव से भी अधिक आनन्दरस की धारा उल्लसित हुई है... सिद्ध भगवान जैसे परम आत्मसुख में वे लीन है... यहाँ तो अभी शरीर को सिंह खा रहा है और वहाँ अतीन्द्रिय आनन्द में लीनतासहित, एकावतारीरूप से शरीर छोड़कर वे मुनि तो सिद्ध के पड़ोस में सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न होते हैं! सिद्धशिला से सर्वार्थसिद्धि मात्र बारह योजन दूर है।

संयोग या राग में सुख मानकर धर्मी उसमें अपने आत्मा को नहीं झुलाते, किन्तु वे तो आत्मा का विश्वास करके उसी के आनन्द में आत्मा को झुलाते हैं। स्वरूप के आनन्द से बाहर निकलना तो प्रमाद और दु:ख है। व्यवहार में तो ऐसा कहा जाता है कि जो तीर्थयात्रा न करे, वह आलसी है। शान्तिनाथ भगवान की माता अचिरादेवी से गर्भ-कल्याणक के समय देवियाँ विनोदपूर्वक प्रश्न पूछती हैं कि हे माता! सच्चा आलसी कौन है? तब माताजी उत्तर देती हैं कि जो तीर्थयात्रा न करे और विषयों में ही लीन रहे वह। इस प्रकार वहाँ व्यवहार में ऐसा कहा जाता है, किन्तु परमार्थ से तो चिदानन्दस्वरूप के अनुभव में से बाहर निकलना, वह प्रमाद है-आलस है। चैतन्यानन्द के अनुभव में लीन सन्त उसमें से बाहर निकलने के आलसी हैं... क्योंकि आत्मा के अनुभव के अतिरिक्त उन्हें अन्यत्र कहीं सुख भासित नहीं होता।

इस जड़ शरीर को या उसकी क्रिया को धर्मी अपने चित्त में धारण नहीं करता; वह तो ज्ञान-आनन्दमय अपनी चैतन्य काया को ही धारण करता है। यह शरीर-मन-वाणी मैं नहीं हूँ, मैं उनका कर्ता नहीं हूँ, उनका करानेवाला या अनुमोदन करनेवाला नहीं हूँ; उनसे सर्वथा भिन्न ज्ञान-आनन्दस्वरूप ही हूँ।

हुं देह नहि, वाणी न, मन नहि, तेमनुं कारण नहीं,
कर्ता न कारयिता न, अनुमंता हुं कर्तानो नहीं॥

—इस प्रकार धर्मी अपने आत्मा की ही भावना में तत्पर है। ●

अनासक्त अन्तरात्मा अपनी बुद्धि में आत्मज्ञान को धारण करता है और शरीरादिक को धारण नहीं करता। यह किस प्रकार? सो कहते हैं।

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः।
अन्तः पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम्॥५१॥

इन्द्रिय से जो कुछ प्रगट, मम स्वरूप है नाहिं।
'मैं हूँ आनन्द ज्योति प्रभु', भासे अन्दर माँहि॥५१॥

अन्वयार्थ :- अन्तरात्मा विचारता है कि **(यत्)** जो कुछ शरीरादि बाह्य पदार्थ **(इन्द्रियैः)** इन्द्रियों के द्वारा **(पश्यामि)** मैं देखता हूँ। **(तत्)** वह **(मे)** मेरा स्वरूप **(नास्ति)** नहीं है, किन्तु **(नियतेन्द्रियः)** इन्द्रियों को बाह्य विषयों से रोककर, स्वाधीन करता हुआ **(यत्)** जिस **(उत्तमं)** उत्कृष्ट अतीन्द्रिय **(सानन्दं ज्योतिः)** आनन्दमय ज्ञानप्रकाश को **(अन्तः)** अन्तरङ्ग में **(पश्यामि)** देखता हूँ-अनुभव करता हूँ, **(तत् मे)** वही मेरा वास्तविक स्वरूप **(अस्तु)** हो।

धर्मात्मा, शरीरादिक से भिन्न अपने आत्मा की ऐसी भावना भाता है कि इन्द्रियों द्वारा जो दृष्टिगोचर होता है, वह मैं नहीं हूँ; मेरा स्वरूप तो परम उत्तम ज्ञानज्योति है और आनन्दसहित है। परम प्रसन्नतारूप जो परमार्थ सुख, उससे युक्त है; मैं अपने ऐसे स्वरूप को अन्तर में देखता हूँ; उसमें मुझे परमसुख की अनुभूति है, इसलिए इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर अतीन्द्रियज्ञान द्वारा मैं अपने आत्मा को देखता हूँ—अनुभव करता हूँ और इसके अतिरिक्त समस्त बाह्य विषयों के प्रति अनासक्त हूँ। उनमें कहीं मुझे अपनत्व या सुख भासित नहीं होता।

इन्द्रियों द्वारा बाह्य में जो दृष्टिगोचर होता है, वह कहीं आत्मा का स्वरूप नहीं है। इन्द्रियों द्वारा शरीरादि दिखायी देते हैं, वे तो जड़ हैं; वह कहीं आत्मा नहीं है। आत्मा इन्द्रियों द्वारा दृष्टिगोचर नहीं होता; आत्मा तो अतीन्द्रिय ज्ञानमय है और वह अतीन्द्रियज्ञान से ही दिखायी देता है। धर्मात्मा अपने ज्ञान को विषयों से विमुख करके अन्तर में अपने स्वरूप की ओर उन्मुख करता है; इसलिए वह बाह्य विषयों में अनासक्त है।

अभी तो जो परद्रव्य को अपना माने या पर से अपने को सुख-दुःख माने, उसे सचमुच अनासक्तिभाव होता ही नहीं; उसे तो पर के साथ एकत्वबुद्धि के कारण अनन्त आसक्ति है। धर्मी तो अपने आत्मा को समस्त परद्रव्यों से भिन्न जानकर आत्मोन्मुख हो गये

हैं और आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं स्वप्न में भी आनन्द भासित नहीं होता; इसलिए उन्हीं को समस्त बाह्य विषयों के प्रति सच्ची अनासक्ति होती है। अन्तर्मुख झुकी हुई उनकी परिणति किसी भी बाह्य विषय का धारण नहीं करती, उनसे पृथक् ही रहती है।

मैं तो आनन्दसहित ज्ञानज्योति हूँ, अतीन्द्रियज्ञान और आनन्द मेरा स्वरूप है.... आनन्दधाम आत्मा ही मेरे विश्वास का एवं विश्राम का स्थान है... ऐसे अपने तत्त्व को मैं अन्तर में आनन्दसहित देखता हूँ। आनन्द से परम प्रसन्न ऐसा मेरा आत्मा ही मेरे विश्राम का धाम है; इस प्रकार सम्यक्त्वी अपने आत्मा की भावना करते हुए उसी की आराधना करते हैं; उन्हें अपने आत्मस्वरूप का चिन्तन ही सुखकर प्रतीत होता है और इन्द्रिय-विषय दुःखकारी लगते हैं; इसलिए वे धर्मात्मा अपनी बुद्धि में आत्मा को ही धारण करते हैं और शरीरादि को धारण नहीं करते। ●

गणधर भी जिन्हें वन्दन करते हैं

अज्ञानी कहता है कि चारित्र में कितना सहन करना पड़ता है? बहुत परीषह सहन करने पड़ते हैं, जैसे – गर्म पानी पीना, नङ्गे पैर चलना, रात्रि में आहार नहीं करना, देखकर चलना इत्यादि; इस प्रकार भगवान का मार्ग तो तलवार की धार जैसा अर्थात् दुःखरूप है, दूध के दाँत से लोहे के चने चबाने जैसा है।

बापू! तुझे पता नहीं है, तुझे सत्पुरुषों के चारित्र के स्वरूप की खबर नहीं है, क्योंकि तूने तो चारित्र को दुःखरूप माना है। जबकि चारित्र तो सुखरूप दशा है। जहाँ अन्दर में स्वरूप की सम्यक् दृष्टि हुई, आनन्दमूर्ति आनन्द का धाम मेरी वस्तु है – ऐसा जहाँ अनुभव हुआ, वहाँ उसमें आनन्दमय रमणता होती है अर्थात् आनन्दसहित सुखाकार-स्थिरता होती है, वह चारित्र है और वह तो सन्तों की दशा ही है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/५६

आत्मभावना में दुःख नहीं

आत्मभावना में तत्पर जीव को बाहर में दुःख लगता है

आत्मा स्वयं ज्ञान-आनन्दमय है—ऐसा धर्मी जानते हैं और इसीलिए वे उसी में तत्पर रहते हैं—ऐसा कहा गया है। अब वहाँ **प्रश्न** करते हैं कि हे नाथ! यदि आत्मा का स्वरूप ज्ञान-आनन्दमय है, तथा विषय दुःखरूप हैं तो उन इन्द्रिय-विषयों से विमुख होकर आत्मा का अनुभव करने में कष्ट जैसा क्यों लगता है? उसका **समाधान** करते हुए कहते हैं कि—

सुखमारब्धयोगस्य बहिर्दुःखमथाऽऽत्मनि।
बहिरेवाऽसुखं सौख्यमध्यात्मं भावितात्मनः ॥५२॥

बाहर सुख भासे प्रथम, दुःख भासे निज माँहि।
बाहर दुःख, निजमाँहि सुख, भासे अनुभवी माँहि ॥५२॥

अन्वयार्थ :- (**आरब्धयोगस्य**) योग का अभ्यास शुरू करनेवाले को (**बहिः**) बाह्य विषयों में (**सुखं**) सुख मालूम होता है (**अथ**) और (**आत्मनि**) आत्मस्वरूप की भावना में (**दुःखं**) दुःख प्रतीत होता है किन्तु (**भावितात्मनः**) यथावत् आत्मस्वरूप को जानकर, उसकी भावना के अच्छे अभ्यासी को (**बहिः एव**) बाह्य विषयों में ही (**असुखं**) दुःख जान पड़ता है और (**अध्यात्मं**) अपने आत्मस्वरूप में ही (**सौख्यम्**) सुख का अनुभव होता है।

आत्मा में ही आनन्द है, वही उपादेय है, उसी में एकाग्र होना योग्य है—ऐसी रुचि और भावना तो है, तथा अभी उसमें एकाग्र होने का जो प्रयत्न करता है, उसे प्रारम्भ में कष्ट लगता है क्योंकि अनादि से बाह्य विषयों का ही अभ्यास है, इसलिए उन बाह्य विषयों से

पराङ्मुख होकर आत्मभावना में आते हुए कष्ट प्रतीत होता है। बाह्य विषय सरल हो गये हैं और अन्तर का चैतन्य विषय कठिन लगता है क्योंकि कभी उसका अनुभव नहीं किया है। अन्तर में एकाग्र का प्रयत्न करनेवाला पूछता है कि प्रभो! इसमें तो कष्ट प्रतीत होता है?—ऐसा पूछते हुए कष्ट कहकर वह छोड़ना नहीं चाहता किन्तु उग्र प्रयत्न द्वारा आत्मा का अनुभव करना चाहता है। आचार्यदेव कहते हैं कि अरे भाई! प्रारम्भ में तुझे कष्ट जैसा लगेगा, किन्तु अन्तर प्रयत्न से आत्मा का अनुभव होने पर ऐसा अपूर्व आनन्द होगा कि उसके अतिरिक्त समस्त बाह्य विषय कष्टरूप-दुःखरूप भासित होंगे।

अन्तर्मुख होने का प्रयत्न करते-करते उसमें शान्ति दिखायी देगी और परिणाम में उल्लास होगा; पश्चात् अनुभव का उद्यम करते-करते जहाँ निर्विकल्प आनन्द की अनुभूति हुई—सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ बारम्बार उसी की भावना करते हैं और उन्हें आत्मा में ही सुख भासित होता है तथा बाह्य विषय दुःखरूप लगते हैं। जब आनन्द का अनुभव नहीं था, तब तो अन्तर के अनुभव का उद्यम करने में कष्ट मालूम होता था, और बाह्य में सुख भासित होता था, उन्हें आत्मा के आनन्द की रुचि (व्यवहार-विश्वास) तो है किन्तु अभी अनुभव नहीं हुआ है; इसलिए कष्ट जैसा लगता है; किन्तु जहाँ अन्तर में आनन्द का अनुभव हुआ—स्वाद आया, वहाँ बाह्य रस उड़ गया और चैतन्य के अनुभव में ही सुख है, वह जाना; इसलिए अब तो उन्हें आत्मा के ध्यान का उत्साह आया... ज्यों-ज्यों अधिक एकाग्रता करेंगे, त्यों-त्यों अधिक आनन्द और शान्ति का वेदन होगा। जब तक आनन्द का स्वाद नहीं आया था, तब तक उसमें कष्ट लगता था, किन्तु अब जहाँ आनन्द का स्वाद आया, वहाँ धर्मी को उसमें से बाहर निकलना कष्टरूप-दुःखरूप लगता है।

अज्ञानदशा में अनादिकालीन संस्कारों के कारण, विषय रुचिकर भासित होते थे, किन्तु जहाँ आत्मभावना में एकाग्र होकर उसके आनन्द का वेदन किया, वहाँ बाह्य समस्त विषयों की रुचि छूट गयी, उन्हें चैतन्य के अनुभव से बाहर निकलकर परभाव में आना दुःखरूप लगता है और चैतन्यस्वरूप की भावना में—एकाग्रता में ही सुख का अनुभव होता है। चैतन्य का बारम्बार अभ्यास एवं भावना करते हुए वह सरल मालूम होता है... उसके आनन्द की समीपता होने से बाह्य विषयों की प्रीति छूट जाती है तथा आत्मा के

आनन्द का वेदन होने से बाह्य विषयों के प्रति सुखबुद्धि छूट जाती है, संयोग और विकार की भावना नहीं रहती।

जिस प्रकार मछली को शीतल जल रुचिकर-प्रिय है; उसमें से बाहर धूप में या अग्नि में आते हुए वह दुःख से तड़पने लगती है; उसी प्रकार धर्मात्मा ज्ञानी को अपना शान्त-चैतन्य सरोवर ही सुखकर प्रतीत होता है; उसकी शान्ति के वेदन से बाहर निकलकर पुण्य या पाप के भाव में आना पड़े वह उन्हें दुःखरूप लगता है।

जिसने आत्मा की अतीन्द्रिय शान्ति का कभी अवलोकन ही नहीं किया और बाह्य विषयों को ही देखा है, उसे आत्मानुभव का प्रयत्न प्रारम्भ में कष्टदायक प्रतीत होता है, किन्तु ज्यों-ज्यों उसका अभ्यास और भावना करता है, त्यों-त्यों उसमें उत्साह आता है। अभ्यासदशा में कुछ कष्ट मालूम होता है, किन्तु जहाँ पूर्ण प्रयत्न करके आत्मा के आनन्द का अनुभव करता है, वहाँ चैतन्य सुख के समक्ष उसे सम्पूर्ण जगत नीरस लगता है; समस्त विषय दुःखरूप भासित होते हैं।

नरक में पड़े हुए किसी सम्यक्त्वी जीव को आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन की जो शान्ति आती है, वैसी शान्ति मिथ्यादृष्टि को स्वर्ग के वैभव में भी नहीं होती। अरे! संयोग में शान्ति होती है या स्वभाव में? चैतन्य के शान्तजल से बाहर निकलकर इन्द्रिय-विषयों की ओर दौड़ता है, वही आकुलता है तथा अतीन्द्रिय चैतन्य में उपयोग स्थिर हो, उसमें परम अनाकुल शान्ति है। इसलिए भाई! आत्मा के आनन्द का विश्वास करके, बारम्बार दृढ़रूप से उसमें एकाग्रता का उद्यम कर। जब तक आत्मा के आनन्द का स्वाद अनुभव में न आये, तभी तक बाह्य इन्द्रिय-विषयों में प्रीति-रुचि-उल्लास-सुख का अनुभव होता है और आत्मा का अनुभव कष्टदायक प्रतीत होता है, किन्तु जहाँ चैतन्य के आनन्द का वेदन हुआ, वहाँ आत्मा के आनन्द की ही प्रीति-रुचि-उल्लास एवं भावना होती है; फिर उसमें कष्ट का अनुभव नहीं होता और विषय, सुखरूप नहीं किन्तु कष्टदायक प्रतीत होते हैं। जहाँ आनन्द एवं शान्ति का स्वाद आये, वहाँ कष्ट का अनुभव कैसे होगा? जिसने वह स्वाद नहीं लिया उसी को कष्ट मालूम होता है।

जिस प्रकार जो मनुष्य हमेशा अपने घर के कुएँ का खारा और मैला पानी पीता हो;

जिसने दूसरे गहरे कुएँ का स्वच्छ-मीठा जल कभी न चखा हो; उसे दूर के कुएँ तक जाकर स्वच्छ-मीठा जल पीना कष्टदायक प्रतीत होता है, किन्तु जहाँ एक बार उसने मीठे कुएँ के स्वच्छ जल का स्वाद लिया, वहाँ तुरन्त खारे पानी का स्वाद उड़ गया.... और अब घर के आँगन में मिलनेवाला खारा पानी छोड़कर दूर के कुएँ का पानी लाने में उसे कष्ट का अनुभव नहीं होता। उत्तम जल चखने के बाद गँदला जल नहीं रुचता; उसी प्रकार अज्ञानी जीव ने अनादि काल से सदा बाह्य इन्द्रिय-विषयों का खारा स्वाद लिया है, किन्तु आत्मा के अतीन्द्रिय-अनाकुल मीठे स्वाद का अनुभव नहीं किया; इसलिए उनके प्रयत्न में उसे कष्ट प्रतीत होता है, किन्तु जहाँ अन्तर्मुख चैतन्य-कूप में गहराई तक उतरकर विषयातीत आनन्द का स्वाद लिया, वहाँ उसके बारम्बार प्रयत्न में कष्ट मालूम नहीं होता; बल्कि उसे बाह्य विषय खारे-नीरस प्रतीत होने लगते हैं। इसलिए सदा आत्मा की ही भावना करनी चाहिए। ●

साक्षात् मोक्षतत्त्व! त्रिलोक के मुकुटमणि!!

जो श्रमण त्रिलोक के मुकुटमणि समान निर्मल विवेकरूपी दीपक के प्रकाश द्वारा, यथास्थित पदार्थ के निश्चय द्वारा, उत्सुकता छोड़कर स्वरूप में स्थिर हो गये हैं, आनन्द की धारा में मस्त हो गये हैं, उपशमरस के साँचे में ढल गये हैं और उसमें से बाहर आने के लिए निरुद्यमी हो गये हैं; वन में बाघ, सिंह और भेड़िये चिंघाड़ते हों, तथापि निर्भय होकर स्वरूप के शान्तरस का / अतीन्द्रिय आनन्द का पान करते हैं-चूसते हैं, एक स्वरूप में ही अभिमुख होकर वर्तते हैं, उन श्रमण को साक्षात् मोक्षतत्त्व कहते हैं। अभी है तो साधकदशा, तथापि स्वरूप में ही अभिमुखरूप से वर्तते श्रमण को साक्षात् मोक्षतत्त्व कहते हैं।

अहाहा! पञ्चमकाल के सन्त मुनि, पञ्चमकाल के श्रोता से यह कहते हैं। स्वरूप में वर्तते सन्त को साक्षात् मोक्षतत्त्व कहा है, क्योंकि उन्हें अल्पकाल में मोक्ष होना है, इसलिए उस अल्पकाल को गौण करके साक्षात् मोक्षतत्त्व कहते हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, बोल ४८४

सब परिणामों को आत्मा में जोड़कर आत्मभावना कर

अब, आत्मा की भावना किस प्रकार करना चाहिए, सो कहते हैं:—

तद् ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाऽविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्॥५३॥

कथन पृच्छना, कामना, तत्परता बढ़ जाय।
ज्ञानमय हो परिणमन, मिथ्याबुद्धि नशाय॥५३॥

अन्वयार्थ :- **(तत् ब्रूयात्)** उस आत्मस्वरूप का कथन करे; उसे दूसरों को बतलावे; **(तत् परान् पृच्छेत्)** उस आत्मस्वरूप को दूसरे आत्मानुभवी पुरुषों से-विशेष ज्ञानियों से पूछे, **(तत् इच्छेत्)** उस आत्मस्वरूप की इच्छा करे, उसकी प्राप्ति को अपना इष्ट बनाये, और **(तत्परः भवेत्)** उस आत्मस्वरूप की भावना में सावधान हुआ आदर बढ़ावे, **(येन)** जिससे **(अविद्यामयं रूपं)** यह अज्ञानमय बहिरात्मरूप **(त्यक्त्वा)** छूटकर, **(विद्यामयं व्रजेत्)** ज्ञानमय परमात्मस्वरूप की प्राप्ति होवे।

देखो, आत्मभावना की कितनी सुन्दर गाथा है!

जिसे आत्मा प्रिय है, उसे उसका कथन करना चाहिए, दूसरों के निकट उसकी चर्चा करना चाहिए, अन्य आत्मानुभवी पुरुषों-धर्मात्मा ज्ञानियों के निकट जाकर उस आत्मस्वरूप की पृच्छा करना चाहिए, उसी की अभिलाषा करना चाहिए तथा आत्मस्वरूप की प्राप्ति को ही अपना इष्ट बनाना चाहिए; उसी में तत्पर होना चाहिए, उस आत्मस्वरूप की भावना में सावधान होना चाहिए और उसका आदर बढ़ाना चाहिए। इस प्रकार आत्मस्वरूप की भावना करने से अज्ञानमय बहिरात्मपना छूटकर, ज्ञानमय परमात्मस्वरूप की प्राप्ति होती है।

जिसे आत्मा का अनुभव करना है, उसे तो बारम्बार आत्मस्वरूप की ही भावना करनी चाहिए; उसी की कथा करनी चाहिए; सन्तों के निकट जाकर उसी के सम्बन्ध में पूछना चाहिए; उसी की इच्छा-भावना करनी चाहिए तथा उसी में तत्पर-उत्साहित होना चाहिए। ज्ञान में-श्रद्धा में-उत्साह में-विचार में-सर्व में एक आत्मा को ही विषयरूप बनाना चाहिए... उसी का आदर करना चाहिए—ऐसा करने से परिणति अन्यत्र से हटकर आत्मोन्मुख होती है और आनन्दमय स्वानुभव होता है।

'योगसार' में भी कहते हैं कि:—

(मन्दाक्रान्ता)

अध्येतव्यं स्तिमितमनसा ध्येयमाराधनीयं,
पृच्छयं श्रव्यं भवति विदुषाभ्यस्यमावर्जनीयं।
वेद्यं गद्यं किमपि तदिह प्रार्थनीयं विनेयं,
दृश्यं स्पृश्यं प्रभवति यतः सर्वदात्मस्थिरत्वं ॥६-४९॥ (योगसार-प्राभृत)

विद्वान पुरुषों को, अर्थात् आत्मार्थी मुमुक्षु जीवों को चैतन्यस्वरूप आत्मा निश्चयमन से (१) पढ़ने योग्य है, (२) ध्यान करनेयोग्य है, (३) आराधना करनेयोग्य है, (४) पूछने योग्य है, (५) सुनने योग्य है, (६) अभ्यास करनेयोग्य है, (७) उपार्जन करनेयोग्य है, (८) जानने योग्य है, (९) कहने योग्य है, (१०) प्रार्थना करनेयोग्य है, (११) शिक्षा-उपदेश योग्य है, (१२) दर्शन योग्य है, तथा (१३) स्पर्शन (अनुभवन) योग्य है। इस प्रकार तेरह बोलों से अर्थात् सर्व प्रकार से आत्मस्वरूप की भावना करनेयोग्य है कि जिससे आत्मा सदैव स्थिरता को प्राप्त हो।

निर्जरा अधिकार में यह श्लोक रखकर ऐसा कहा है कि ऐसे आत्मस्वरूप की भावना ही निर्जरा का उपाय है।

ऐसे सर्व प्रकार के आत्मस्वरूप के अनुभव का प्रयत्न करने पर अवश्य उसकी प्राप्ति होती है और अविद्या का नाश हो जाता है। यहाँ तो अभ्यास, श्रवण, तत्परता, आराधना, पढ़ना, पूछना, देखना, जानना इत्यादि अनेक बोल कहकर यह बतलाया है कि सच्चे जिज्ञासु को आत्मस्वरूप के अनुभव की कितनी तीव्र लालसा एवं रुचि होती है।

अन्य सब से विमुख हो-होकर वह सर्व प्रकार से एक चैतन्य की ही भावना का प्रयत्न करता है। जिस प्रकार इकलौता पुत्र खो गया हो तो माता उसे किस-किस प्रकार से ढूँढ़ती है!! और कोई उसे पुत्र का पता बतलाये तो कितने उत्साहपूर्वक सुनती है!! उसी प्रकार जिज्ञासु को आत्मस्वरूप के निर्णय की ऐसी धुन लगी है कि बारम्बार उसी का श्रवण, उसी की पृच्छा, उसी की इच्छा, उसी में तत्परता तथा उसी का विचार करता है और जगत के विषयों का रस छूटता जाता है-विभावों से हटकर आत्मा के रस में वृद्धि होती जाती है—ऐसे दृढ़ अभ्यास से ही आत्मा की प्राप्ति (अनुभव) होती है।

जिज्ञासु को आत्मा की कैसी लगन होती है—वह बतलाने के लिये यहाँ माता-पुत्र का दृष्टान्त दिया है। जिस प्रकार किसी माता का इकलौता पुत्र खो जाने पर वह उसे किस प्रकार ढूँढ़ती है! जो मिलता है, उससे बात करती है तथा यही पूछती है कि 'कहीं मेरा पुत्र देखा है?' एक क्षण भी अपना पुत्र उसके चित्त से दूर नहीं होता; दिन-रात उसे पाने के लिये झूरती है.... उसी प्रकार जिसे आत्मस्वरूप की जिज्ञासा जागृत हुई है, वह आत्मार्थी जीव, सत्समागम से उसी की खोज करता है; उसकी बात पूछता है कि 'प्रभो! आत्मा का अनुभव कैसे होता है?' दिन-रात आत्मस्वरूप को प्राप्त करने की भावना वर्तती है, एक क्षण भी उसे नहीं भूलता... एक आत्मा की ही धुन-लगन लग रही है।

ऐसी लगनपूर्वक दृढ़ प्रयत्न करने से अवश्य ही आत्मा का अनुभव होता है। इसलिए वही करनेयोग्य है—ऐसा आचार्यदेव का उपदेश है।

आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है—ऐसा जिसे भान हुआ है, उसकी वृत्ति बारम्बार उसी ओर जाती है; तथा जिसे आत्मानुभव की रुचि-उत्कण्ठा जागृत हुई है, वह भी बारम्बार उसी का प्रयत्न करता रहता है। 'रुचि अनुसार परिणमन होता है।' जिसे आत्मा की रुचि जागृत हो, उसके परिणाम बारम्बार आत्मा की ओर ढलते रहते हैं।

जिसे शरीर में आत्मबुद्धि है, वह शरीर को अच्छा रखने के लिये रात-दिन उसी का प्रयत्न और चिन्ता करता रहता है; जिसे पुत्र का प्रेम है, वह माता पुत्र के लिये दिन-रात कैसी विह्वल रहती है! खाने-पीने में कहीं चित्त नहीं लगता; मेरा पुत्र, मेरा पुत्र—ऐसी ममता की धुन में रहती है; उसी प्रकार जिसे चैतन्यस्वरूप आत्मा की सच्ची प्रीति है, वह

उसे प्राप्त करने के लिये दिन-रात लालायित रहता है, अर्थात् बारम्बार उसी का प्रयत्न करता रहता है... उसे विषय-कषाय रुचिकर नहीं लगते... एक चैतन्य के अतिरिक्त कहीं चैन नहीं पड़ता; उसी की भावना भाता है... उसी की बात ज्ञानियों से पूछता है... उसी का विचार करता है। जिस प्रकार माता के वियोग में बालक झूरता है और उसे कहीं चैन नहीं पड़ता; कोई पूछे कि तेरा नाम क्या है ? तो कहता है कि 'मेरी माँ!' कुछ खाने को दें तो कहेगा 'मेरी माँ!!' इस प्रकार एक ही रटन लगाता है... माँ के बिना उसे कहीं चैन नहीं पड़ता क्योंकि माता की गोद ही उसे गाढ़ रुचिकर—प्रिय लगती है; उसी प्रकार आत्मार्थी जीव की रुचि एक आत्मा में ही लग रही है, इसलिए मुझे आत्मस्वरूप की प्राप्ति कैसे हो ? —इसके अतिरिक्त उसे कुछ भी नहीं सुहाता... दिन-रात उसी की चर्चा... वही विचार... उसी का रटन... उसी के लिये झूरना... (चिन्तन)। देखो, ऐसी आन्तरिक लगनरूप भावना जागृत होने पर आत्मा की प्राप्ति होती है और जिसे एक बार आत्मा की प्राप्ति हुई-अनुभव हुआ, वह सम्यक्त्वी भी बारम्बार उसी के आनन्द की कथा-चर्चा-विचार-भावना करता है। आत्मा का आनन्द ऐसा... आत्मा की अनुभूति ऐसी...निर्विकल्पता ऐसी... इस प्रकार उसी की लगन लगी है। ज्ञान और आनन्द ही मेरा स्वरूप है—ऐसा जानकर एक उसी में लगन लगी है—उसी में उत्साह है, अन्यत्र कहीं उत्साह नहीं है। इस प्रकार ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की भावना से—दृढ़ प्रयत्न से—अज्ञान दूर होकर ज्ञानमय निजपद की प्राप्ति होती है।●

भावलिङ्गी मुनि अर्थात् चलते-फिरते परमेश्वर

अहो! भावलिङ्गी मुनि अर्थात् चलते-फिरते परमेश्वर! जो भीतर आनन्द के झूले में झूलते हों और पञ्च महाव्रत का राग उठे, उसे विष मानते हों, अहा! जिनके दर्शन बड़े भाग्य से प्राप्त होते हों, जो आनन्द की खेती कर रहे हों ... **वह धन्य दशा अलौकिक है। गणधरों का नमस्कार जिसे पहुँचता हो, उस दशा की क्या बात!**

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, १११३, पृष्ठ २४०

आत्मा, वाणी और शरीर से भिन्न है

बारम्बार आत्मस्वरूप की चर्चा-भावना करने को कहा; वहाँ बहिरात्मा अज्ञानी **प्रश्न** करता है कि प्रभो ! इस शरीर और वचन से पृथक् आत्मा तो हमें दिखायी नहीं देता, तो उसकी भावना किस प्रकार करें ? हमें तो वही आत्मा मालूम होता है, जो इस शरीर को चलाये और वाणी बोले। शरीर और वाणी से पृथक् तो आत्मा का अस्तित्व दिखायी नहीं देता, तो फिर आत्मा की भावना करने का कथन किस प्रकार योग्य है ? अज्ञानी की इस **शङ्का का निराकरण** करते हुए श्री पूज्यपादस्वामी कहते हैं कि —

शरीरे वाचि चात्मानं सन्धत्ते वाक्शरीरयोः।
भ्रान्तोऽभ्रान्तः पुनस्तत्त्वं पृथगेषां निबुध्यते ॥५४॥

तन-वच तन्मय मूढ चित, जुड़े वचन-तन संग।
भ्रान्ति रहित तन-वचन में, चित को गिने असंग ॥५४॥

अन्वयार्थ :- (**वाक् शरीरयोः भ्रान्तः**) वचन और शरीर में जिसकी भ्रान्ति हो रही है, जो उनके वास्तविक स्वरूप को नहीं समझता — ऐसा बहिरात्मा (**वाचि शरीरे च**) वचन और शरीर में (**आत्मानं सन्धत्ते**) आत्मा का आरोपण करता है, अर्थात् वचन को तथा शरीर को आत्मा मानता है, (**पुनः**) किन्तु (**अभ्रान्तः**) वचन और शरीर में आत्मा की भ्रान्ति न रखनेवाला ज्ञानी पुरुष, (**एषां तत्त्वं**) इन शरीर और वचन के स्वरूप को (**पृथक्**) आत्मा से भिन्न (**निबुध्यते**) जानता है।

वचन और शरीर के स्वरूप में जिसे भ्रान्ति है, अर्थात् वचन और शरीर तो जड़-पुद्गल हैं—ऐसा जो नहीं जानता, वह बहिरात्मा ही शरीर और वचन में आत्मा का आरोप

करता है, अर्थात् मैं ही शरीर और वचन हूँ, मैं ही उनका कर्ता हूँ—ऐसा वह अज्ञानी मानता है; इसलिए देहादि से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा की भावना वह नहीं भाता; किन्तु भ्रान्ति रहित ऐसे ज्ञानी धर्मात्मा तो वचन और शरीर को जड़-अचेतन मानते हैं और अपने आत्मा को उनसे भिन्न जानकर निरन्तर उसी की भावना भाते हैं। जड़-चेतन के भेदज्ञानपूर्वक आत्मभावना भायी जाती है। जिसे भेदज्ञान नहीं, उसे सच्ची आत्मभावना नहीं होती।

इच्छानुसार शरीर-वचन की क्रिया हो, वहाँ अज्ञानी को ऐसी भ्रान्ति हो जाती है कि यह क्रियाएँ मेरी ही हैं; शरीरादि जड़ की क्रिया से भिन्न अपना अस्तित्व उसे भासित ही नहीं होता और ज्ञानी तो जड़-चेतन दोनों के भिन्न-भिन्न लक्षणों द्वारा दोनों को अत्यन्त भिन्न जानते हैं और आत्मा को शरीरादि से अत्यन्त भिन्न जानकर उसी की भावना भाते हैं। आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी बाह्य वस्तु को वे अपने लिये हितकारी नहीं मानते। अज्ञानी तो शरीरादि को ही आत्मा मानता है; इसलिए बाह्य विषयों को अपना उपकारी मानता है, इसीलिए शरीरादि से भिन्न आत्मस्वरूप की भावना वह नहीं भाता। ज्ञानी निरन्तर देहादि से भिन्न आत्मा की भावना भाते हैं।

अज्ञानी जीव, जड़-चेतन को एक-दूसरे में मिला देता है, आत्मा से विलक्षण ऐसी जो मूर्त-पुद्गलों की शरीर-रचना-वचन आदि, उन्हें वह आत्मा का ही मानता है, किन्तु आत्मा तो पुद्गल से भिन्न लक्षणवान चैतन्यस्वरूप है, उसका ज्ञान वह नहीं करता; इसलिए जड़ में ही आत्मपने की भ्रान्ति के कारण उसे भिन्न आत्मा की भावना नहीं होती। ज्ञानी विलक्षण द्वारा जड़-चेतन को भिन्न-भिन्न जानता है; शरीर-वाणी आदि जड़ की क्रिया उसे स्वप्न में भी अपनी भासित नहीं होती; चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही वह अपना समझता है। चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ में उसे अपनेपन की भ्रान्ति स्वप्न में भी नहीं होती; इसलिए पर्याय-पर्याय में, क्षण-क्षण में तथा प्रत्येक कार्य में उसे भिन्न आत्मा की भावना वर्तती ही रहती है। वह भावना कहीं बार-बार रटने से नहीं होती, किन्तु अन्तर में जो भेदज्ञान परिणमित हो गया है, उस भेदज्ञान के बल से सहजरूप से भिन्नत्व की भावना सदैव वर्तती ही रहती है; उस भेदज्ञान के अभ्यास के बल से वैराग्य एवं चारित्रदशा प्रगट करके वह ज्ञानी, अल्प काल में शरीर से अत्यन्त भिन्न ऐसी चारित्रदशा को साधता है।●

बाह्य विषयों में जीव का हित नहीं

आत्मस्वरूप को न जाननेवाला तथा शरीरादि बाह्य पदार्थों में आत्मभ्रान्ति से वर्तनेवाला अज्ञानी जीव, उन बाह्य पदार्थों को हितकारी मानकर उनमें आसक्त-चित्त रहता है परन्तु जिन पदार्थों में आसक्त होकर उन्हें हितकारी मानता है, वे कोई पदार्थ उसके लिये हितकर या उपकारी नहीं हैं—ऐसा अगली गाथा में बतलाते हैं :—

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत्क्षेमङ्करमात्मनः।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात्॥५५॥

इन्द्रिय-विषयों में न कुछ, आत्म-लाभ की बात।
तो भी मूढ़ अज्ञानवश, रमता इनके साथ॥५५॥

अन्वयार्थ :- (**इन्द्रियार्थेषु**) पाँचों इन्द्रियों के विषय में (**तत्**) ऐसा कोई पदार्थ (**न अस्ति**) नहीं है (**यत्**) जो (**आत्मनः**) आत्मा का (**क्षेमङ्करं**) भला करनेवाला हो। (**तथापि**) तो भी (**बालः**) यह अज्ञानी बहिरात्मा, (**अज्ञान-भावनात्**) चिरकालीन मिथ्यात्व के संस्कारवश (**तत्रैव**) उन्हीं इन्द्रियों के विषयों में (**रमते**) आसक्त रहता है।

पाँच इन्द्रियों के विषयों में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है कि जो आत्मा के लिये क्षेमकर हो, तथापि बहिरात्मा अज्ञानी जीव, अज्ञान-भावना के कारण उन्हीं में रमण करता है। जिस प्रकार बालक, हित-अहित के विवेक बिना चाहे जिस पदार्थ में खेलने लगता है; उसी प्रकार बालक जैसा अज्ञानी बहिरात्मा, हित-अहित के विवेक बिना स्व-पर का भान न होने से बाह्य इन्द्रिय विषयों में सुख मानकर उनमें खेलता है-रमण करता है, किन्तु **जगत में ऐसा कोई इन्द्रिय-विषय नहीं है, जो आत्मा को सुख प्रदान करे।**

तत्त्वदृष्टि से देखने पर इन्द्रियसुख तो सुख है ही नहीं; दुःख ही है क्योंकि वह

बन्ध का कारण है, आकुलता उत्पन्न करनेवाला है, विषम है, क्षणभंगुर है, पराधीन है, विघ्नसहित है। सुख तो उसे कहते हैं जो आत्माधीन हो-स्वाधीन हो, निराकुल हो, शान्त हो, बन्धनरहित हो, जिसमें अन्य पदार्थों की अपेक्षा न हो— ऐसे सुख को अज्ञानी नहीं जानता और मृगजल समान बाह्य विषयों में सुख की आशा से अनन्त काल तक भटकता है। भाई! उनमें कहीं तेरा सुख नहीं है और न वे कोई पदार्थ तुझे सुख देने में समर्थ ही हैं; क्षेमकर तथा सुखदाता तो तेरा आत्मा ही है; इसलिए पर से भिन्न आत्मा को जानकर भेदज्ञान द्वारा दिन-रात उसी की भावना कर।

अज्ञानी जीव, अज्ञान-भावना के कारण दिन-रात बाह्य पदार्थों की प्राप्ति का रटन कर रहा है, परन्तु परद्रव्य कभी अंशमात्र भी आत्मा के नहीं होते; इसलिए उसे मात्र आकुलता और दुःख का ही वेदन होता है। यदि स्वद्रव्य को पर से भिन्न जानकर स्वरूप की प्राप्ति के प्रयत्न में लगे तो अन्तर्मुहूर्त में उसकी प्राप्ति हो जाये, अर्थात् निराकुल सुख का अनुभव हो।

यहाँ बहिरात्मा की प्रवृत्ति बतलाकर, उसे छोड़ने का उपदेश है, तथा अन्तरात्मा की प्रवृत्ति बतलाकर, उसे प्रगट करने का उपदेश है।●

दीक्षा के लिए तैयार भगवान शान्तिनाथ की भावना

'जिस मार्ग पर अनन्त तीर्थङ्कर चले, उसी पथ का मैं पथिक बनूँगा। हमारे पुरुषार्थ की धारा टूटेगी नहीं, हम अप्रतिहत पुरुषार्थवाले हैं; अब हम अपने स्वभाव में ही ढलते हैं। जिस निर्विकल्प स्वभाव के गीत हम गाते थे, उसे प्रगट करने को अब हम तैयार हैं, अब हमारे स्वरूप में ठहरने का समय आ गया है। अब स्वभाव में लीन होने का भाव जागा है, उसे हम शिथिल नहीं होने देंगे। अखण्डानन्द स्वभाव की भावना के सिवाय अब हमें पुण्य-पाप का भाव नहीं आयेगा।' – दीक्षा के लिए तैयार शान्तिनाथ भगवान ऐसी भावना भाते थे।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, महामहोत्सव प्रवचन, पृष्ठ ३१

अनात्मा में आत्मबुद्धि से अज्ञानी जीव दुःखी है

अनादि काल से आत्मा के स्वरूप को जाने बिना अज्ञानी जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है; उसमें एक क्षण भी उसने समाधि प्राप्त नहीं की। सम्यग्दर्शन वह प्रथम समाधि है, वह कभी एक क्षण प्राप्त नहीं किया। अनादिकाल से मिथ्यात्व-संस्कारों के कारण बहिरात्मा की दशा कैसी हुई है, सो बतलाते हैं—

चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति॥५६॥

मोही मुग्ध कुयोनि में, है अनादि से सुप्त।
जागे तो पर को गिने, आत्मा होकर मुग्ध॥५६॥

अन्वयार्थ :- (**मूढात्मानः**) ये मूर्ख अज्ञानी जीव, (**तमसि**) मिथ्यात्वरूपी अन्धकार के उदयवश (**चिरं**) अनादि काल से (**कुयोनिषु**) नित्यनिगोदादिक कुयोनियों में (**सुषुप्ताः**) सो रहे हैं-अतीव जड़ता को प्राप्त हो रहे हैं। यदि कदाचित् संज्ञी प्राणियों में उत्पन्न होकर कुछ जागते भी हैं तो (**अनात्मीयात्मभूतेषु मम अहम्**) अनात्मीयभूत स्त्री-पुत्रादि में 'ये मेरे हैं' और अनात्मीयभूत शरीरादिकों में 'मैं ही इनरूप हूँ' (**इति जाग्रति**) — ऐसा अध्यवसाय करने लगते हैं।

शरीर को ही आत्मा मानकर, यह मूढ़ अज्ञानी जीव, मिथ्यात्वरूपी अन्धकार के कारण अनादि काल से निगोद तथा नरकादि कुयोनियों में सुषुप्त है—मूर्च्छित हो रहा है—ज्ञानशक्ति का घात हो जाने से जड़ जैसा हो गया है; जो आत्मा का स्वरूप नहीं है—ऐसे अनात्मभूत शरीर-स्त्री-पुत्रादि में 'यह मेरे हैं और मैं वही हूँ'—इस प्रकार जागृति करता

है, किन्तु चैतन्यतत्त्व में जागृति नहीं करता; वहाँ तो मूढ़ होकर सुप्त है। जड़ पदार्थों को अपना मानकर तथा अपने को जड़रूप मानकर संसार में परिभ्रमण करता है। ऐसे अज्ञानभाव के कारण बहिरात्मा जीव ने इस संसार में मिथ्यादृष्टि के योग्य एक भी भव शेष नहीं रखा; चारों गति में अनन्त बार जन्म धारण कर चुका है। शरीर को अपना मानकर शरीर ही धारण किये हैं; अशरीरी चैतन्यसुख को कभी चखा नहीं है।

निगोद से लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक के अवतारों में तो मूढ़ जीव ऐसा सुषुप्त था और विचारशक्ति ही न थी कि 'मैं कौन हूँ?' कभी अनन्त काल में पञ्चेन्द्रिय-संज्ञी हुआ और ज्ञान में विचारशक्ति जागृत हुई, तब भी मूढ़ता के कारण अनात्मभूत ऐसे शरीरादि को ही अपनारूप मानता है, किन्तु शरीरादि से भिन्न चैतन्यतत्त्व हूँ—ऐसा नहीं जानता। अपने वास्तविक स्वरूप के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र आत्मबुद्धि करके जीव, संसार में भटका है। अन्तर में ज्ञाता-दृष्टास्वभाव की दृष्टि के बिना, राग को ही अपना वेदन मानकर, कभी ग्यारह अङ्ग तथा नव पूर्व तक के ज्ञान का विकास हुआ, तब भी उसने रागादिरूप अनात्मभाव को ही आत्मा माना, किन्तु आत्मा के वास्तविक स्वरूप को नहीं जाना। उसने ज्ञान का विषय आत्मा नहीं बनाया, किन्तु अनात्मा के साथ ही ज्ञान को एकाकार माना है।

चैतन्यस्वरूप को लक्ष्य में लेकर उसमें एकता किये बिना, ज्ञान के विकास को जो परविषयों में ही लगाता है, उसके ज्ञान का विषय अनात्मा ही है; आत्म-विषय में तो वह सो रहा है; आत्मा को जानने के लिये ज्ञान की जागृति उसे नहीं हुई है। अरे प्रभु! अनन्त काल में तूने कभी अपने आत्मा को नहीं जाना और अनात्मा को ही ज्ञान का विषय बनाकर उसी को तूने आत्मभूत माना है। जिसकी आत्मा के साथ एकता न हो, वह अनात्मा है।

अज्ञानी कहता है कि शुभराग से—पुण्य से धर्म होता है; यहाँ कहते हैं कि शुभराग या पुण्य तो अनात्मा है। हे जीव! तूने अनात्मा को ही आत्मा मान-मानकर अनन्त संसार की कुयोनियों में इतने दुःख सहन किये हैं कि उन्हें सर्वज्ञ भगवान ही जानते हैं, उन दुःखों का वर्णन वाणी से नहीं हो सकता। भगवान ने वे जाने और तूने सहे.... किसी कर्म के

कारण नहीं, किन्तु अपनी मूढ़ता से ही तूने अनात्मा को आत्मा मानकर ऐसे घोर दु:ख उठाये हैं। एकबार संयोगबुद्धि छोड़, शरीर और राग से पार चैतन्यस्वभाव को लक्ष्य में ले तो तुझे अपूर्व सुख हो और तेरा अनादिकालीन भवभ्रमण दूर हो जाये।

अनादि काल से अनात्मा को आत्मा मानकर मूर्च्छा से भवभ्रमण कर रहा है, वह असमाधि है... राग में कहीं भी आत्मा की समाधि नहीं है-शान्ति नहीं है। शरीरादि से भिन्न मेरा चैतन्यतत्त्व ही मेरे विश्राम का स्थान है और उसके लक्ष्य से ही मुझे समाधि है। इस प्रकार हे जीव! एक बार अपने आत्मा को लक्ष्य में तो ले! जिस स्वरूप को समझे बिना अनादि काल से तूने अनन्त दु:ख पाये हैं और जिसे समझकर अनन्त जीव पूर्ण सुख प्रगट करके परमात्मा हुए हैं, वह क्या वस्तु है? उसे जानने की एक बार जिज्ञासा तो कर। सर्वज्ञ भगवान की दिव्यध्वनि में जिसका गुणगान हुआ है, ऐसा तेरा आत्मस्वरूप क्या है.... उसे जान ले तो तेरी असमाधि दूर हो और तुझे सम्यग्दर्शन की समाधि हो जाये। जो अचेतन को आत्मा मानता हो, उसे समाधि कहाँ से हो? पर को आत्मा मानकर उसमें राग-द्वेष कर-करके जीव, चौरासी लाख योनि में परिभ्रमण करके महादु:खित हो रहा है। उनसे छूटने के लिये भेदज्ञान ही सच्चा उपाय है। ●

मुनिराज की अलौकिक दशा

मुनिराज की दशा अलौकिक है, जात्यन्तर है। **मुनिराज, स्वरूप-उपवन में लीला करते-करते अर्थात् स्वरूप-उपवन में रमते-रमते कर्मों का नाश करते हैं। वे दु:खी नहीं होते** – ऐसी उनकी जात्यन्तर दशा है, लीला है। स्वरूप ही उनका आसन है, स्वरूप ही उनकी बैठक है, स्वरूप ही उनका आहार है, स्वरूप में ही उनका विचरण है, स्वरूप ही उनकी लीला है। जो अन्तर की आनन्द-क्रीड़ा में रमने लगे, उनकी लीला जात्यन्तर है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, जिणसासणं सव्वं, पृष्ठ ३२

स्व-पर का भिन्न देखने का उपदेश

अरे जीव! शरीरादि अचेतन को आत्मा मानने से तो तूने घोर संसार दु:ख सहन किये हैं; इसलिए उन शरीरादि बाह्य पदार्थों में आत्मबुद्धि छोड़..... शरीर को अचेतनरूप से देख और अपने आत्मा को उससे भिन्न चैतन्यस्वरूप देख—ऐसा अब कहते हैं:—

पश्येन्निरंतरं देहमात्मनोऽनात्मचेतसा।
अपरात्मधियाऽन्येषामात्मतत्त्वं व्यवस्थितः ॥५७॥

हो सुव्यवस्थित आत्म में, निज काया जड़ जान।
पर काया में भी करे, जड़ की ही पहिचान॥५७॥

अन्वयार्थ :- अन्तरात्मा को चाहिए कि (**आत्मतत्त्वं**) अपने आत्मस्वरूप में (**व्यवस्थितः**) स्थित होकर (**आत्मनः देहं**) अपने शरीर को (**अनात्मचेतसा**) 'यह शरीर, मेरा आत्मा नहीं' — ऐसी अनात्मबुद्धि से (**निरन्तरं पश्येत्**) सदा देखे-अनुभव करे और (**अन्येषां**) दूसरे प्राणियों के शरीर को (**अपरात्मधिया**) 'यह शरीर, पर का आत्मा नहीं' — ऐसी अनात्मबुद्धि से (**पश्येत्**) सदा अवलोकन करे।

हे जीव! तू आत्मस्वरूप में स्थिर होकर आत्मा को चैतन्यस्वरूप देख... और शरीरादि को अचेतन-अनात्मारूप से निरन्तर देख... तथा उसी प्रकार अन्य जीवों में भी उनके शरीर को अचेतन जान और आत्मा को चैतन्यस्वरूप देख।

देखो, धर्मी अन्तरात्मा इस प्रकार निरन्तर जड़-चेतन को भिन्न-भिन्न स्वरूप में ही देखता है। चैतन्यस्वरूप ही मैं हूँ और शरीरादिक तो जड़ हैं-अचेतन हैं; इस प्रकार निरन्तर भिन्न ही देखता है। किसी भी क्षण शरीरादि की क्रिया को अपनी नहीं देखता।

देखो, शरीर को अचेतन देखने को कहा; किन्तु किस प्रकार ?—शरीर को देखकर,

'यह अचेतन है,' इस प्रकार मात्र परसन्मुख की बात नहीं है, किन्तु आत्मा में स्थित होकर शरीर को अचेतन देख—ऐसा कहा है; अर्थात् आत्मोन्मुख होकर शरीर को भिन्न देखने की बात है।

जहाँ अन्तर्मुख होकर अपने को चैतन्यस्वरूप से ही प्रतीति में-अनुभव में लिया, वहाँ शरीरादि को अपने अनुभव से पृथक् जाना... राग को भी भिन्न माना.... इस प्रकार ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की ओर ढलकर, उसी को निजरूप देख और उससे बाह्य समस्त पदार्थों को अनात्मारूप से देख। धर्मी का लक्ष्य जब पर की ओर जाता है, तब वह पर को पररूप ही जानता है, उसमें कहीं आत्मबुद्धि नहीं होती... निरन्तर भेदज्ञान वर्त रहा है... आत्मज्ञान की धारा अच्छिन्नरूप से प्रवाहमान हो रही है। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! चैतन्योन्मुख होकर तू अपने आत्मा को निरन्तर चेतनास्वरूप ही देख। अन्तरात्मा तो देखता ही है किन्तु बहिरात्मा को समझाते हैं कि तू भी ऐसा देख... तो तेरी अनादिकालीन बहिरात्मता दूर हो जाये और अन्तरात्मता प्रगट हो.... अर्थात् दुःखों का अन्त होकर समाधि की प्राप्ति हो।

जिसे भेदज्ञान हो गया है—ऐसे धर्मात्मा को तो प्रतिक्षण—सोते-जागते, खाते-पीते, चलते-बोलते—निरन्तर अपना आत्मा शरीरादि से अत्यन्त भिन्न ही भासित होता है; शरीरादि को वह सदैव जड़रूप ही देखता है.... राग-द्वेष के परिणाम होते हैं, उन्हें भी अनात्मारूप से देखता है और अपने को उनसे निरन्तर भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वरूप ही देखता है... आत्मा-अनात्मा का जो भेदज्ञान हुआ, उस भेदज्ञान की भावना तथा जागृति ज्ञानी को निरन्तर वर्तती ही रहती है।

मेरा आत्मा तो ज्ञान-आनन्द से भरपूर अरूपी पदार्थ है। यह शरीर मैं नहीं हूँ। जिस प्रकार मकान में रहनेवाला मनुष्य उस मकान से पृथक् है; मकान, वह मनुष्य नहीं है तथा वस्त्र पहिननेवाला वस्त्रों से पृथक् है; उसी प्रकार इस शरीररूपी मकान में स्थित आत्मा शरीर से पृथक् है; शरीर, वह आत्मा नहीं है। मकान गिर जाता है और मनुष्य जीवित रहता है; वस्त्र फट जाता है और पहिननेवाला बना रहता है; उसी प्रकार शरीर नष्ट हो जाता है और आत्मा स्थायी रहता है—ऐसा अरूपी ज्ञानमय आत्मा मैं हूँ। इस प्रकार आत्मा को अन्तर

में स्थिर होकर देखना और शरीरादि को अपने से भिन्न मानना। शरीर मैं नहीं हूँ—ऐसा सामान्यरूप से विचार करे, किन्तु आत्मा का यथार्थ स्वरूप क्या है ?—उसे यदि न जाने तो सचमुच उसने शरीर से भिन्न आत्मा नहीं माना। इसलिए यहाँ तो अस्तिसहित नास्ति की बात है, अर्थात् 'मैं ज्ञान-आनन्दस्वरूप आत्मा है,' इस प्रकार आत्मा को लक्ष्य में लेने पर शरीरादि में आत्मबुद्धि छूट जाती है। इस प्रकार शरीर से भिन्न आत्मा को जाने बिना सुख की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि सुख की सत्ता तो आत्मा में है; कहीं शरीर में सुख नहीं है। जहाँ सुख की सत्ता है, उसे जाने बिना कभी सुख प्राप्त नहीं होता; शरीर में से या इन्द्रिय-विषयों में से सुख लेना चाहे तो अनन्त काल में भी वह प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि उनमें सुख का अस्तित्व है ही नहीं।

हे जीव! एक बार तू विचार तो कर कि जिस सुख को तू चाहता है, वह है कहाँ? जो सुख तू प्राप्त करना चाहता है, उसका अस्तित्व है कहाँ ?—जो वस्तु प्राप्त करना चाहता हो, उसका अस्तित्व तो कहीं होना ही चाहिए। उसके अस्तित्व को स्वीकार किये बिना उसे प्राप्त करने की भावना कैसे होगी ? तू सुख प्राप्त करना चाहता है तो 'सुख कहीं है'—यह तो तू स्वीकार कर रहा है; अब यह विचार कर कि वह सुख काहे में है ? दूसरे, तू सुख प्राप्त करना चाहता है, इसका अर्थ यह हुआ कि वर्तमान में तुझे सुख नहीं है किन्तु दुःख है; तो वह दुःख किस कारण है ?—उसका भी विचार कर। भाई ! तू दुःखी है और सुखी होना चाहता है, तो दुःख क्यों है और सुख कहाँ है—यह बात जानना चाहिए।

प्रथम, तू विचार कर कि सुख कहाँ है ? क्या इस शरीर में सुख है ? शरीर तो अचेतन है, उसमें मेरा सुख नहीं है। इन्द्रिय विषय—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्दादि में भी मेरा सुख नहीं है क्योंकि अनादि काल से मैं उन विषयों में लीन रहा, तथापि मुझे किञ्चित् सुख प्राप्त नहीं हुआ; इसलिए उन विषयों में मेरा सुख नहीं है। बाह्य विषयों में उन्मुखता से जो राग-द्वेष की वृत्ति होती है, उसमें आकुलता है, इसलिए वह दुःखरूप है, उसमें भी मेरा सुख नहीं है। मेरे सुख की सत्ता किन्हीं बाह्य पदार्थों में नहीं है, मेरा सुख तो मुझमें ही है, सुख तो मेरा स्वभाव ही है। जिस प्रकार मेरा आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसी प्रकार सुखस्वरूप भी मेरा आत्मा ही है, मेरे आत्मा में ही सुख की सत्ता है, मेरे आत्मा में ही सुख का अस्तित्व

है, मेरा आत्मा ही सुख से परिपूर्ण है। जिस प्रकार कड़वाहट अफीम का स्वभाव है, खट्टापन नींबू का स्वभाव है; उसी प्रकार सुख मेरा स्वभाव ही है। अपने आत्मस्वभावोन्मुख होने से मुझे शान्ति और सुख का वेदन होता है। अनादि काल से बाह्य विषयों की सन्मुखता से जिस सुख का वेदन कभी नहीं हुआ, उसका वेदन आत्मसन्मुखता से होता है; इसलिए मेरा आत्मा ही सुखस्वरूप है।

—इस प्रकार आत्मा में ही सुख है—ऐसा सुख के अस्तित्व का निर्णय करना चाहिए। ऐसा निर्णय करके आत्मस्वभाव में एकाग्र होना ही सुख का उपाय है। जहाँ सुख है, उसमें एकाग्र होना ही सुखी होने का उपाय है। ज्यों-ज्यों आत्मस्वभाव में एकाग्रता होती जाये, त्यों-त्यों सुख बढ़ता जाता है।

उपरोक्तानुसार सुख और उसके उपाय का निर्णय करने से, 'दुःख क्यों है?'—उसका भी निर्णय हो जाता है; वह इस प्रकार—

मेरे आत्मा में ही सुख होने पर भी, उसे मैंने नहीं जाना और उसमें एकाग्रता नहीं की; आत्मा के सुख को चूककर मैंने शरीरादि बाह्य विषयों में सुख माना और भ्रान्ति से बाह्य में भटका, इसलिए मैं दुःखी हुआ। इस प्रकार अपनी भ्रान्ति से ही मैं दुःखी हुआ; किसी दूसरे ने मुझे दुःखी नहीं किया।

इस प्रकार सुख की सत्ता और दुःख का कारण—उन दोनों को जानकर, अपने चिदानन्द सुखस्वभाव की ओर उन्मुख होने से, शरीरादि में सुख होने की भ्रान्ति दूर हो जाती है; वह भ्रान्ति दूर होने से अनादिकालीन दुःख दूर हो जाता है और आत्मस्वभाव के अतीन्द्रियसुख का अपूर्व वेदन होता है। यही सुखी होने का उपाय है।

आत्मा और शरीरादि पदार्थों का स्वरूप जैसा है, तदनुसार ज्ञानी-अन्तरात्मा जानते हैं। आत्मा तो ज्ञान-आनन्दस्वरूप है और शरीर तो जड़-अचेतन-अनात्मा है, अजीव है; उस अजीव में सुख-दुःख या ज्ञान नहीं है; मेरी सत्ता उस अजीव से त्रिकाल भिन्न है। इस प्रकार भेदज्ञान द्वारा जो निरन्तर अपने आत्मा को शरीर से भिन्न ही देखते हैं, वे सुख का वेदन करते हैं। ●

वचन-अगोचर स्वसंवेद्य तत्त्व की भावना

स्वानुभूतिगम्य आत्मा वचन से कैसे बतलाये ?

ज्ञानी अन्तरात्मा अपने आत्मा को निरन्तर शरीर से भिन्न ही देखता है–ऐसा कहा। अब, वहाँ कोई **प्रश्न** पूछे कि यदि अन्तरात्मा स्वयं अपने आत्मा का ऐसा अनुभव करते हैं तो मूढ़ आत्माओं को उसका प्रतिपादन करके क्यों नहीं समझा देते कि जिससे वे अज्ञानी भी उसे जान लें! यदि स्वयं समझ गये तो दूसरे को भी क्यों नहीं समझा देते ? उसके **उत्तर** में आचार्यदेव पूज्यपादस्वामी कहते हैं कि:—

अज्ञापितं न जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा।
मूढात्मानस्ततस्तेषां वृथा मे ज्ञापनश्रमः ॥५८॥

कहूँ ना कहूँ मूढ़जन, नहीं जाने निजरूप।
समझाने का श्रम वृथा, खोना समय अनूप ॥५८॥

अन्वयार्थ :- स्वात्मानुभवमग्न अन्तरात्मा विचारता है कि (**यथा**) जैसे (**मूढ़ात्मानः**) ये मूर्ख अज्ञानी जीव, (**अज्ञापितं**) बिना बताए हुए (**मां**) मेरे आत्मस्वरूप को (**न जानन्ति**) नहीं जानते हैं, (**तथा**) वैसे ही (**ज्ञापितं**) बतलाये जाने पर भी नहीं जानते हैं; (**ततः**) इसलिए (**तेषां**) उन मूढ पुरुषों को (**मे ज्ञापन श्रमः**) मेरा बतलाने का परिश्रम (**वृथा**) व्यर्थ है, निष्फल है।

जिन्होंने शरीरादि से भिन्न आत्मस्वरूप को जाना है—ऐसे अनुभवी धर्मात्मा विचार करते हैं कि अहो ! यह अचिन्त्य आत्मतत्त्व जगत को दुर्लभ है; वचन और विकल्प से वह पार है—ऐसे स्वानुभवगम्य चैतन्यतत्त्व को मूढ़ जीव जिस प्रकार मेरे बतलाये बिना नहीं जानते, उसी प्रकार मेरे बतलाने से भी वे नहीं जानते; इसलिए दूसरे को समझाने का मेरा श्रम (-विकल्प) व्यर्थ है।

तीर्थङ्कर तो समवसरण में समानरूप से धारावाही उपदेश देकर समझाते थे, तथापि सब जीव नहीं समझे; जिनकी योग्यता थी, वे ही समझ पाये। जब तीर्थङ्कर के उपदेश से भी वे जीव नहीं समझे, तब मुझसे तो क्या समझेंगे? मेरे प्रतिपादन करने से भी वे मूढात्मा आत्मस्वरूप को नहीं जान सकते; इसलिए दूसरों को समझाने का मेरा श्रम व्यर्थ ही है। सामनेवाले जीव की योग्यता के बिना किसी की शक्ति नहीं जो उसे समझा सके! धर्मी को उपदेशादि का विकल्प उठता है, किन्तु उस विकल्प को भी वे वृथा ही मानते हैं; ऐसा नहीं मानते कि मेरे विकल्प द्वारा दूसरा समझ जायेगा। इसलिए विकल्प पर जोर नहीं है किन्तु उस विकल्प को भी तोड़कर चिदानन्दस्वरूप में ही स्थिर होना चाहते हैं। पर को समझाने का विकल्प तो श्रम है–बोझ है; उसके कारण सामनेवाला जीव समझता नहीं है, इसलिए वह व्यर्थ है। सामनेवाला जीव उसकी स्वयं की स्वानुभूति से ही समझता है।

आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप में रहना ही समाधि है; दूसरे को समझाने का जो विकल्प उठता है, वह राग है; उस राग द्वारा भी बन्धन होता है; इसलिए ज्ञानी उस राग पर वज़न नहीं देते। अन्य कोई जीव मुझसे नहीं समझ सकते। अज्ञानी जीव स्वयं आत्मा को नहीं जानते और मेरे कहने से भी नहीं जानते; वे जब स्वयं अज्ञान को दूर करके ज्ञान करेंगे, तब आत्मा को जानेंगे।—ऐसा अभिप्राय तो ज्ञानी का पहले से ही है और तदुपरान्त उपदेशादि शुभवृत्ति को भी असमाधिरूप जानकर छोड़ना चाहते हैं तथा चिदानन्दस्वरूप में ही स्थिर होना चाहते हैं।

ज्ञानी को अपने स्वानुभव से आत्मज्ञान हुआ है, उसमें वे निःशङ्क हैं। जगत माने तभी अपनी बात सच्ची और जगत न माने तो अपनी बात मिथ्या—ऐसा नहीं है। जगत के अज्ञानी न समझें तो उससे मुझे क्या? ज्ञानी को ऐसी शङ्का या पराश्रयबुद्धि नहीं होती कि मैं दूसरे को समझा दूँ, तब मेरा ज्ञान सच्चा अथवा दूसरे मुझे मानें, तब मेरा ज्ञान सच्चा। उनके अन्तर में से तो आत्मा की साक्षी आ गयी है और ज्ञानी ने जान लिया है कि अहो! यह चैतन्यतत्त्व तो स्वसंवेदनगम्य ही है; किसी वाणी या विकल्प द्वारा वह ज्ञात नहीं होता; इसलिए जब दूसरे अज्ञानी जीव स्वयं अन्तर्मुख होकर समझेंगे, तभी आत्मस्वरूप उनकी समझ में आयेगा। ज्ञानी उपदेश दें, वहाँ अज्ञानी को ऐसा लगता

है कि 'यह ज्ञानी बोलते हैं, ज्ञानी राग करते हैं' इस प्रकार वह वाणी तथा राग से ही ज्ञानी को जानता है, किन्तु ज्ञानी का स्वरूप तो राग से और वाणी से पार अकेला ज्ञानानन्दमय है, उसे वह नहीं जानता।

दूसरे स्वीकार करें तो मेरा सच्चा—ऐसी शङ्का ज्ञानी को नहीं है, तथा मैं दूसरों को समझा दूँ—ऐसी बुद्धि भी ज्ञानी को नहीं है; इसलिए वे तो जानते हैं कि दूसरों को समझाने का मेरा विकल्प वृथा है। स्वयं भाषा का अवलम्बन तोड़कर चैतन्योन्मुख हुए, तब आत्मा को समझा और दूसरे जीव भी भाषा का अवलम्बन छोड़कर अन्तर्मुख होंगे, तभी समझेंगे-मुझसे नहीं समझेंगे—ऐसा जानने के कारण ज्ञानी को दूसरों के समझाने का आग्रह नहीं होता। अज्ञानी जीव कभी सभा में उपदेश दे रहा हो और बहुत से लोग सुन रहे हों, वहाँ उत्साह आ जाता है कि मैंने अनेक जीवों को समझाया, किन्तु उसे यह भान नहीं है कि अरे! विकल्प और वाणी—दोनों से पार मैं ज्ञायकस्वरूप हूँ और दूसरे जीव भी वाणी तथा विकल्प से पार ज्ञायकस्वरूप हैं; वे वाणी या विकल्प द्वारा ज्ञायकस्वरूप को नहीं समझ सकते। देखो, यह ज्ञानी का भेदज्ञान! उपदेश द्वारा मैं दूसरों को समझा सकता हूँ—ऐसा ज्ञानी नहीं मानते; उनको तो चैतन्य का चिन्तन तथा एकाग्रता ही परम प्रिय है—ऐसी अध्यात्म-भावना ही परम शान्तिदायिनी है और उसका नाम समाधि है।

सम्यक्त्वी छोटा बालक हो तो वह भी राग से और शरीरादि से पार अपना स्वरूप जानता है; इसलिए वह शरीरादि की क्रिया से तथा राग से उदासीन ही रहता है। जिन मूढ़ जीवों में योग्यता नहीं थी, वे तो साक्षात् सर्वज्ञदेव के उपदेश से भी नहीं समझ सके। अहो, अन्तर का यह ज्ञानतत्त्व!! वह मैं दूसरों को कैसे बतलाऊँ? वह तो स्वसंवेदन का ही विषय है—ऐसी प्रतीति होने से उन्हें जड़बुद्धि जीवों को समझा देने का आग्रह नहीं होता; जड़बुद्धि-मूढ़ जीवों के साथ वाद-विवाद करना उन्हें व्यर्थ मालूम होता है, इसलिए वे तो स्वयं अपना आत्महित साधने में ही तत्पर हैं... आत्महित का साधन ही उनका मुख्य विषय है—उपदेशादि की वृत्ति को वे मुख्यता नहीं देते।

प्रश्न : ज्ञानी भी उपदेश तो देते हैं?

उत्तर : भाई! ज्ञानी अपने ज्ञानानन्दस्वरूप के अतिरिक्त एक विकल्प के भी कर्ता

नहीं हैं और न भाषा के ही कर्ता हैं। किञ्चित् विकल्प आने पर उपदेश निकलता है, किन्तु उस समय ज्ञानी को तो अपने चैतन्यतत्त्व की ही भावना है—ऐसी ज्ञानी की अन्तरभावना को तू नहीं जानता, क्योंकि वाणी से और राग से पार ऐसे चैतन्यतत्त्व की तुझे खबर नहीं है। विकल्प और वाणी के चक्कर में ज्ञानी कभी चैतन्य को नहीं चूकते। चैतन्यभावरूप ही स्वयं अपना वेदन करते हैं।

✦✦✦

पुनश्च, विकल्प उठने पर ज्ञानी-अन्तरात्मा ऐसा विचार करता है कि—

यद् बोधयितुमिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः।
ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यस्य बोधये॥५९॥

समझाना चाहूँ जिसे, वह नहीं मेरा अर्थ।
नहीं अन्य से ग्राह्य मैं, क्यों समझाऊँ व्यर्थ?॥५९॥

अन्वयार्थ :- (**यत्**) जिसे, अर्थात् विकल्पाधिरूढ आत्मस्वरूप को अथवा देहादिक को — (**बोधयितुं**) समझाने-बुझाने की (**इच्छामि**) मैं इच्छा करता हूँ-चेष्टा करता हूँ, (**तत्**) वह (**न अहं**) मैं नहीं, अर्थात् आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं। (**पुनः**) और (**यत्**) जो ज्ञानानन्दमय स्वयं अनुभव करने योग्य आत्मस्वरूप (**अहं**) मैं हूँ, (**तदपि**) वह भी (**अन्यस्य**) दूसरे जीवों के (**ग्राह्यं न**) उपदेश द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है; वह तो स्वसंवेदन के द्वारा अनुभव किया जाता है; (**तत्**) इसलिए (**अन्यस्य**) दूसरे जीवों को (**किं बोधये**) मैं क्या समझाऊँ?

मैं जिसे समझना चाहता हूँ, वह विकल्पारूढ़ आत्मा या शरीरादिक मैं नहीं हूँ; वाणी में तो विकल्प से और भेद से कथन आता है, उससे कहीं आत्मा पकड़ में नहीं आता; इसलिए वाणी और विकल्प द्वारा मैं क्या समझाऊँ? जो स्वसंवेदनगम्य आत्मतत्त्व है, वह दूसरे जीवों को वाणी से या विकल्प से ग्राह्य नहीं है, तो फिर उन्हें मैं कैसे समझाऊँ?

—इस प्रकार तत्त्वज्ञानी अन्तरात्मा विकल्प की और भाषा की व्यर्थता समझते हैं कि अरे, जिस आनन्द का अनुभव मुझे हुआ है, वह मैं दूसरों को शब्दों द्वारा कैसे बतलाऊँ? विकल्प भी आत्मा के स्वरूप में नहीं है। आत्मा का शुद्ध आनन्दस्वरूप विकल्प में या शब्दों में नहीं आ सकता; वह तो स्वसंवेदन में ही आता है, इसलिए अन्य जीवों को उपदेश देने का मुझे क्या प्रयोजन है? इस प्रकार धर्मात्मा, विकल्प की ओर का उत्साह छोड़कर चैतन्यस्वभाव में सावधानी तथा उत्साह बढ़ाता है और उसमें एकाग्रता करता है।

देखो, ऐसे भानपूर्वक ज्ञानी का उपदेश कुछ अलग प्रकार का ही होता है; वे आत्मा को अन्तर्मुख होने के लिये ही कहते हैं। बहिर्मुख वृत्ति में आत्मा को किञ्चित् लाभ नहीं है; इसलिए वाणी और विकल्प का अवलम्बन छोड़कर परम महिमापूर्वक चैतन्यतत्त्व का ही अवलम्बन करो... ऐसा ज्ञानी कहते हैं। ज्ञानी होने के पश्चात् उपदेशादि का प्रसङ्ग आता ही नहीं—ऐसी बात नहीं है, किन्तु उन उपदेशादि में ज्ञानी को ऐसा अभिप्राय नहीं है कि मुझसे कोई समझ लेगा! अथवा इस विकल्प से मेरे चैतन्य को लाभ होगा—ऐसा भी ये नहीं मानते। ज्ञानी जानते हैं कि बहिरात्मा तो पराश्रयबुद्धि की मूढ़ता के कारण अन्तरोन्मुख नहीं होते, इसलिए मेरे समझाने से भी वे आत्मस्वरूप को नहीं समझेंगे। जब वे स्वयं पराश्रयबुद्धि छोड़कर, अन्तर्मुख होकर, स्वसंवेदन करेंगे, तभी प्रतिबोध प्राप्त कर सकते हैं।

बहिर्बुद्धिवाले अज्ञानी जीवों को किञ्चित् ज्ञान होने पर ऐसा लगता है कि हम दूसरों को समझा दें! और जब अधिक लोग सुननेवाले हों तो मानते हैं कि बहुत धर्म हो गया! इस प्रकार अकेली वाणी और विकल्प पर उनका जोर जाता है, किन्तु वाणी और विकल्प से पार आत्मा के ऊपर भार नहीं देते। जगत के अन्य मूढ़ जीव भी उसकी भाषा पर मोहित हो जाते हैं और कहते हैं कि कितना महान धर्मात्मा है, लेकिन इस प्रकार धर्मात्मा का माप नहीं निकलता। कोई महान धर्मात्मा आत्मानुभवी हो, तथापि वाणी का योग अति अल्प होता है। मूक केवली को केवलज्ञान होने पर भी वाणी का योग नहीं होता और किसी धर्मात्मा को वाणी का योग हो तथा उपदेश की वृत्ति भी उठे, परन्तु

उपदेश की वृत्ति पर उनका जोर नहीं है; मेरे उपदेश से दूसरा समझ जायेगा—ऐसा अभिप्राय नहीं है। अरे, अतीन्द्रिय और शब्दातीत ऐसा चैतन्यतत्त्व, वाणी द्वारा कैसे बतलाया जा सकता है ? इस प्रकार चैतन्य की महत्ता जिसने नहीं जानी, उसी को ऐसा भ्रम होता है कि वाणी या विकल्प द्वारा चैतन्यतत्त्व समझ में आ जायेगा... किन्तु भाई ! चैतन्य के अनुभव में वाणी का प्रवेश नहीं है; विकल्प का भी प्रवेश नहीं है। श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि—

''नहिं दे तू उपदेश को प्रथम लेहि उपदेश,
सबसे न्यारा अगम है वो ज्ञानी का देश॥''

कुछ लोगों का शास्त्र पढ़ते या सुनते समय अन्तर में ऐसा अभिप्राय होता है कि यह बात समझकर, धारणा में लेकर दूसरों को समझा दूँ। अरे, सत् को समझकर चैतन्योन्मुख होने का अभिप्राय नहीं है, किन्तु दूसरों को समझाने का अभिप्राय है; इसलिए शास्त्र पढ़ते या सुनते समय भी वह अपनी बहिर्मुखवृत्ति का ही पोषण करता है। अहा ! यहाँ तो धर्मात्मा की कैसी उच्च भावना है ! जगत से उदास होकर चैतन्य में ही समा जाना चाहते हैं। मुझे जगत से क्या मतलब ? और चैतन्यतत्त्व भी इतना गहरा-गम्भीर है कि वाणी द्वारा दूसरों को नहीं समझाया जा सकता और कदाचित् वाणी के निमित्त से अन्य जीव समझें तो वह वाणी मैं नहीं हूँ, तथा सामनेवाला जीव भी उस वाणी का अवलम्बन रखकर नहीं समझा है, किन्तु वाणी का अवलम्बन छोड़कर चैतन्योन्मुख होने पर ही समझा है। इस प्रकार वाणी और विकल्प तो व्यर्थ हैं—ऐसा जानकर, धर्मी जीव निजस्वरूप में ही रहना चाहता है। दूसरे को समझाने का विकल्प या दूसरे से सुनने का विकल्प—वे सब विकल्प, चैतन्यस्वरूप से बाह्य हैं। विकल्पों द्वारा चैतन्यस्वरूप ग्राह्य नहीं है; वह तो स्वसंवेदन ग्राह्य है। भगवान की दिव्यध्वनि भी तभी धर्म का निमित्त होती है कि जब जीव अन्तर्मुख होकर स्वसंवेदन करे। ऐसे स्वसंवेद्य तत्त्व का प्रतिबोध मैं दूसरों को कैसे दूँ ? बाह्य चेष्टा में मैं किसलिए रुकूँ ? वाणी और विकल्प तो चैतन्यस्वरूप में प्रविष्ट होने के लिये व्यर्थ हैं—ऐसा जानकर धर्मी जीव निजस्वरूप की भावना में ही तत्पर रहता है। ऐसी अध्यात्म भावना परम शान्तिदायिनी है।

वीरशासन जयन्ती

दिव्यध्वनि दिन का मङ्गल प्रवचन
(वीर संवत् २४८२, आषाढ़ कृष्ण एकम्)

आज वीरशासन के प्रवर्तन का, अर्थात् समवसरण में भगवान महावीर की दिव्यध्वनि खिरने का दिन है। उन्हें छियासठ दिन पहले केवलज्ञान हुआ था परन्तु अभी उपदेश नहीं खिरा था; छियासठ दिन बाद आज राजगृही में विपुलगिरि पर समवसरण में गौतमस्वामी के आने पर सबसे पहले उपदेश खिरा... और उसे झेलकर गौतमस्वामी ने गणधर पद से शास्त्रों की रचना की... उन शास्त्रों की परम्परा आज भी चल रही है। वीरशासन का प्रारम्भ वर्ष आज है और जगत के नियमानुसार भी आज ही नूतन वर्ष है।

भगवान महावीर परमात्मा को पूर्ण विकास इस भव में हुआ परन्तु उससे पहले उस आत्मा में धर्म की शुरुआत (अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति) तो दसवें भव में सिंह की पर्याय में हो गयी थी; तत्पश्चात् अनुक्रम से आगे बढ़ते हुए पूर्व के तीसरे भव में नन्दराजा के भव में तीर्थंकर नामकर्म बाँधा... वहाँ से आगे बढ़ते हुए यह अन्तिम भव था। इसमें भगवान ने बालब्रह्मचारीरूप से दीक्षा ली थी... पश्चात् आत्मध्यान में लीन होते-होते केवलज्ञान वैशाख शुक्ल दसवीं को प्रगट हुआ... परिपूर्ण आनन्द प्रगट हो गया। पूर्व में उस आनन्द का भान तो था और 'अहो! इस आनन्द में लीन होकर परिपूर्ण आनन्द प्रगट करूँ... मेरे आनन्द में लीन होऊँ, और ऐसा आनन्द जगत के जीव भी प्राप्त करें' — ऐसी भावना पूर्व में भायी थी, वह अभी केवलज्ञान होने पर पूर्ण हुई... भगवान को आत्मा की शक्ति में से अचिन्त्य ज्ञान और आनन्द पूरा-पूरा खिल गया...

देखो! भगवान की तिजोरी का ताला खुल गया... और केवलज्ञान के अनन्त निधान प्रगट हुए। उत्साह प्रसङ्ग में बहिनें गीत में गाती हैं कि 'तिजोरी के ताले खोलना' इसी प्रकार यहाँ तो भगवान ने चैतन्य तिजोरी के ताले खोल डाले हैं... और दिव्यध्वनि द्वारा जगत् को वह निधान बताया है।

बैशाख शुक्ल दसवीं को भगवान को केवलज्ञान हुआ... इन्द्रों ने आकर महोत्सव किया... और समवसरण रचा; देव, मनुष्य, और तिर्यंचों की सभा लगी... सब भगवान की

वाणी सुनने को आतुर थे... परन्तु छियासठ दिन तक भगवान की वाणी नहीं खिरी। तीर्थङ्कर की वाणी का ऐसा नियम है कि उनकी वाणी खिरती है, वहाँ उसे झेलकर धर्म प्राप्त करनेवाले जीव होते ही हैं। वाणी खिरे और जीव धर्म प्राप्त न करें—ऐसा नहीं होता, अर्थात् भगवान की वाणी निष्फल जाये—ऐसा कभी नहीं होता। छियासठ दिन तक गणधरपद के योग्य कोई जीव नहीं थे और यहाँ वाणी का योग भी नहीं था। छियासठ दिन के बाद आज के दिन इन्द्र को विचार आया कि भगवान की वाणी क्यों नहीं खिरती? उसने अवधिज्ञान से जाना कि गणधरपद के योग्य जीव उपस्थित नहीं है और वह योग्यता इन्द्रभूति गौतम में है; इसलिए इन्द्र स्वयं ब्राह्मण का रूप धारण करके इन्द्रभूति को वाद-विवाद के बहाने भगवान के समवसरण में लेकर आता है। समवसरण में दैवीय मानस्तम्भ को देखते ही गौतम का मान गल जाता है और भगवान की वीतराग मुद्रा देखते ही वह भगवान के समक्ष नम्रीभूत हो जाता है; वहाँ दिव्यध्वनि खिरने पर गणधरदेव उसे झेलकर बारह अङ्ग की रचना करते हैं। वह आज का दिन है।

भगवान की दिव्यध्वनि को झेलकर गौतमस्वामी ने जो बारह अङ्ग की रचना की, उनमें से कितना ही ज्ञान धरसेनाचार्य को गुरु-परम्परा से प्राप्त हुआ था, वह उन्होंने गिरनार में पुष्पदन्त-भूतबलि नामक दो मुनियों को दिया और उन्होंने उसे षट्खण्डागमरूप से रचा। वे शास्त्र हजार वर्षों से ताड़पत्र पर लिखे हुए थे और अब तो प्रकाशित होकर बाहर आये हैं। तदुपरान्त कुन्दकुन्दाचार्यदेव को भी भगवान महावीर की परम्परा का कितना ही ज्ञान प्राप्त हुआ था तथा स्वयं महाविदेह में जाकर साक्षात् सीमन्धर परमात्मा की वाणी सुनी थी - उन्होंने समयसार आदि महान शास्त्रों की रचना की है, उनमें भी भगवान का उपदेश गूँथा है।

जहाँ भगवान महावीर विचरे, जहाँ भगवान का पहला-पहला उपदेश खिरा और उसे झेलकर अनेक जीव रत्नत्रयधर्म प्राप्त हुए, वह विपुलाचल पर्वत तीर्थ है, वहाँ से चौबीसवें तीर्थङ्कर के तीर्थ का प्रवर्तन हुआ है। गणधर भगवान ने बारह अङ्गरूप शास्त्र भी वहीं रचे हैं; इसलिए शास्त्र की उत्पत्ति का भी वह तीर्थस्थान है। अहा! गणधरदेव की ताकत की क्या बात! चार ज्ञान के धारक, श्रुतकेवली और उत्कृष्ट लब्धियों के धारक

गणधरदेव, एक अन्तर्मुहूर्त में बारह अङ्ग की रचना करते हैं और मुँह से भी अन्तर्मुहूर्त में बारह अङ्ग उच्चारण कर सकें—ऐसी उनकी वचनलब्धि है। वे तद्भव मोक्षगामी-चरमशरीरी होते हैं। अहा! कहाँ क्षण पहले के गौतम-जो महावीर प्रभु के साथ वाद-विवाद करने आते थे! और कहाँ क्षण पश्चात् के गौतम-कि जो गणधरपद प्राप्त हुए और जिन्होंने बारह अङ्ग की रचना की! चैतन्य की अचिन्त्य सामर्थ्य है, सुलटा पुरुषार्थ करने पर वह क्षण में प्रगट होती है।

भगवान की सभा में राजगृही के राजा श्रेणिक मुख्य श्रोता थे, उन्होंने भगवान के चरण में क्षायिक सम्यक्त्व प्रगट किया था और तीर्थङ्करनामकर्म बाँधा था। वे इस भरतक्षेत्र में आगामी चौबीसी में पहले तीर्थङ्कर होंगे।

तीर्थङ्कर भगवान की वाणी में से जो शास्त्र रचे गये हैं, वे भी तीर्थ हैं, क्योंकि वे तिरने का निमित्त है। गणधरदेव भी तीर्थ हैं; गणधर-तीर्थ की स्थापना भी आज हुई है। भगवान के प्रवचन को भी तीर्थ कहते हैं, उसकी उत्पत्ति भी आज हुई; राजगृही नगर में पंचशैलपुर (पंच पहाड़ी) है, वहाँ विपुलाचल पर सर्व प्रथम दिव्यध्वनि आज के दिन खिरी थी; इस प्रकार आज का दिन मङ्गल है, वीरशासन महोत्सव का महान दिन है।

भगवान का उपदेश जीवों को बोधि और समाधि का कारण है; यहाँ समाधितन्त्र पढ़ा जा रहा है, उसमें यही बात समझाते हैं। ●

त्रिकालवर्ती सन्तों का एक ही प्रकार

तीनों काल के अनन्त सन्तों का एक ही प्रकार है कि उन्हें पहले आत्मभानपूर्वक मुनि होने का विकल्प होता है, परन्तु वे उसे आश्रय करने योग्य नहीं मानते और उन्हें बाह्य परिग्रह का सङ्ग भी नहीं होता; फिर अन्दर चैतन्य में लीन होने पर उन्हें पहले सातवाँ गुणस्थान प्रगट होता है। **ऐसी मुनिदशा हुए बिना कभी मुक्ति प्राप्त नहीं होती। गृहस्थदशा में सम्यग्दर्शन और एकावतारीपना हो सकता है, परन्तु ऐसी मुनिदशा हुए बिना गृहस्थ सम्यग्दृष्टि को भी मुक्ति नहीं होती।**

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, महामहोत्सव प्रवचन, पृष्ठ १५

जिसने चैतन्य का महान कौतुक देखा, उसे जगत् के किसी पदार्थ में कौतुक नहीं लगता

यह आत्मतत्त्व अमृत से भरपूर है—परम आनन्द से परिपूर्ण है, किन्तु मूढ़ जीव उसकी प्रतीति नहीं करते और बहिरात्मबुद्धि से बाह्य विषयों में ही कौतुक करके उसमें प्रीति करते हैं; ज्ञानी को तो आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के समक्ष जगत के बाह्य विषयों का कौतुक छूट गया है। यह बात श्री पूज्यपादस्वामी इस ६० वीं गाथा में बतलाते हैं—

बहिस्तुष्यति मूढात्मा पिहितज्योतिरन्तरे।
तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा बहिर्व्यावृत्तकौतुकः ॥६०॥

आवृत अन्तर ज्योति हो, बाह्य विषय में तुष्ट।
जागृत जग-कौतुक तजे, अन्दर से सन्तुष्ट॥६०॥

अन्वयार्थ :- (**अन्तरे पिहितज्योतिः**) अन्तरङ्ग में जिसकी ज्ञानज्योति मोह से आच्छादित हो गयी है, जिसे स्वरूप का विवेक नहीं — ऐसा (**मूढात्मा**) बहिरात्मा, (**बहिः**) बाह्य शरीरादि परपदार्थों में **ही** (**तुष्यति**) सन्तुष्ट रहता है — अनुराग करता है, किन्तु (**प्रबुद्धात्मा**) जिसे स्वरूप-विवेक जागृत हुआ है — ऐसा अन्तरात्मा, (**बहिर्व्यावृत्त-कौतुकः**) बाह्य शरीरादि पदार्थों में कौतुक-अनुराग रहित होकर (**अन्तः**) अन्तरङ्ग आत्मस्वरूप में ही (**तुष्यति**) सन्तोष करता है-मग्न रहता है।

धर्मी तो जानते हैं कि अहो! मेरे आत्मा के अनुभव का जो अतीन्द्रिय आनन्द है, वह आनन्द, जगत में अन्यत्र कहीं नहीं है—ऐसे भाव में धर्मी तो आत्मस्वरूप में ही सन्तुष्ट हैं; उनको बाह्य विषयों में से कौतुक उड़ गया है, किन्तु जिसे आत्मा के आनन्द

की खबर नहीं है—ऐसा मूढ़ बहिरात्मा, बाह्य विषयों में सुख मानकर उसी का कौतुक करता है तथा उसी में प्रीति करता है; चैतन्य की प्रीति या उसकी महिमा नहीं करता; वह तो बाह्य में शरीरादि विषयों में ही सन्तुष्ट वर्तता है, किन्तु अरे मूढ़! उसमें कहीं भी तेरा सुख नहीं है; सुख तो चैतन्यतत्त्व में ही है; इसलिए एक बार तेरे चैतन्यतत्त्व को जानने का कौतूहल तो कर।

अमृतचन्द्राचार्यदेव श्री समयसार में भी कहते हैं कि अरे जीव! तू शरीरादि पर-द्रव्यों का पड़ोसी होकर, अर्थात् उनसे पृथक्त्व जानकर एकबार अन्तर में अपने चैतन्य तत्त्व को जानने का प्रयत्न कर तो अवश्य तुझे आनन्दविलाससहित अपना चैतन्यतत्त्व अन्तर में दृष्टिगोचर होगा। उग्र रुचि एवं उग्र पुरुषार्थ के लिये आचार्यदेव कहते हैं कि तू मरकर भी तत्त्व का कौतूहली था, अर्थात् चैतन्यतत्त्व को जानने में अपना जीवन अर्पित कर दे... जीवन में चैतन्य का अनुभव करने के अतिरिक्त मुझे अन्य कोई कार्य है ही नहीं... लाख प्रतिकूलताएँ आवें या मृत्यु आ जाये, तब भी मुझे अपना चैतन्यतत्त्व जानना है। इस प्रकार एक बार दृढ़ निश्चय करके सच्ची आकाँक्षापूर्वक प्रयत्न कर तो अवश्य चैतन्य का अनुभव होगा।

अपि कथमपि मृत्वा तत्त्व कौतूहली सन्
अनुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्॥१३॥

अहो, आचार्यदेव कहते हैं कि उत्कृष्ट रुचि से चैतन्य के अनुभव का प्रयत्न करे तो मात्र दो घड़ी में अवश्य उसकी प्राप्ति हो और मोह नष्ट हो जाये।

ज्ञानी अपने अन्तरङ्ग चैतन्य में ही अपना आनन्द देखते हैं; बाह्य कहीं उन्हें सुख का आभास नहीं होता, इसलिए उनकी प्रीति, बाह्य से छूटकर अन्तरोन्मुख हो गयी है। वे ज्ञानी समझाते हैं कि अहो जीवों! अन्तर में ही आनन्द है, उसे देखो; बाह्य में आनन्द नहीं है; इस प्रकार बार-बार समझाने पर भी मूढ़-अज्ञानी जीव, अविवेक के कारण समझता नहीं है और बाह्य-विषयों में—रागादि में ही आनन्द मानकर उनकी प्रीति

करता है; चैतन्य की प्रीति नहीं करता; इसलिए उसे समाधि नहीं होती। ज्ञानी को तो चैतन्य के आनन्द के निकट सारे जगत का कौतूहल छूट गया है, इसलिए उनको तो निरन्तर समाधि वर्तती है।

चैतन्य के आनन्द को जानकर उसकी प्रतीति करना, उसमें लीनता करना ही निर्विकल्प शान्ति एवं समाधि का उपाय है। मूढ़ अज्ञानी को बाह्य विषयों में तथा राग में सुख भासित होता है, किन्तु चैतन्य में सुख भासित नहीं होता। ज्ञानी धर्मात्मा को उन बाह्य-विषयों में या राग में स्वप्न में भी सुख का आभास नहीं होता; वे तो अन्तरङ्ग में अखण्ड ज्ञानानन्दस्वरूप में उत्साहवान् है और बाह्य विषयों से उदासीन हैं; अत: चैतन्य के अतीन्द्रियसुख की प्रीति करके उसी में लीनता का उद्यम करते हैं। यही समाधि का उपाय है।

मूढ़ जीव, बहिरात्मबुद्धि के कारण शरीरादिक अचेतन द्रव्यों में निग्रह या अनिग्रह करने की बुद्धि रखता है, किन्तु चैतन्यभाव में विपरीत भावों का निग्रह तथा सम्यक् भावों का सेवन करना वह नहीं जानता। यह बात अगली गाथा में कहेंगे। ●

ऐसे मुनिराज दुर्लभ हैं

मुनिजन अन्तरङ्ग में किञ्चित् भी छिपाये बिना, सरलता से पात्र जीवों को सर्व रहस्य का उपदेश करते हैं। उपदेश के विकल्प को भी वे अपना नहीं मानते। जिनको शरीर और विकल्प का ममत्व नहीं है तथा जो आहार एवं उपदेशादि के विकल्प को तोड़कर वीतरागस्वभाव में स्थित हैं – ऐसे उत्तम आकिञ्चन्यधर्म में रत मुनिगण, इस संसार में धन्य हैं। उनके चारित्रदशा विद्यमान है, केवलज्ञान प्राप्त करने की पूरी तैयारी है। बारह अङ्ग का ज्ञान होने पर भी उसमें आसक्ति नहीं है। किसी समय किञ्चित् उपदेशादि की वृत्ति उठती है, उसे छोड़कर स्वभाव में एकदम सम्पूर्ण स्थिरता द्वारा केवलज्ञान प्रगट करने के अभिलाषी हैं – ऐसे मुनिजन दुर्लभ हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, दशधर्म प्रवचन, पृष्ठ १२

जिसे आत्मभावना नहीं, वह देहबुद्धि करता है

चैतन्यस्वरूप आत्मा में ही प्रीति / अनुराग करनेयोग्य है और परद्रव्यों के प्रति उपेक्षा करनेयोग्य है, परन्तु जिसे ऐसी प्रतीति नहीं है, वे जीव, मूर्खता के कारण परद्रव्य में राग-द्वेष किया करते हैं। प्रीति करनेयोग्य जो चैतन्यस्वरूप है, उसे नहीं जाना; इसलिए देहादि में प्रीति रहती है, और देहादि की उपेक्षा करने के बदले उसके प्रति द्वेषबुद्धि हो जाती है। चैतन्य के आनन्दरूप समाधि न होने के कारण अन्तर में असमाधि के भाव वर्तते हैं। जैसे-'शरीर को सुखा डालूँ या शरीर का निग्रह करूँ' इस प्रकार की द्वेषबुद्धि उसे होती है। उसके त्याग में शान्ति नहीं परन्तु द्वेष है। यह जड़ शरीर तो मेरे ज्ञानानन्दस्वरूप से अत्यन्त भिन्न है—ऐसा जो नहीं जानता, उस अज्ञानी को शरीर के प्रति अनुग्रह और निग्रहबुद्धि उत्पन्न हुआ करती है, वह कहते हैं:—

न जानन्ति शरीराणि सुखदुःखान्यबुद्धयः।
निग्रहानुग्रहधियं तथाप्यत्रैव कुर्वते॥६१॥

काया को होती नहीं, सुख-दुःख की अनुभूति।
पोषण-शोषण यत्न से, करते व्यर्थ कुबुद्धि॥६१॥

अन्वयार्थ :- अन्तरात्मा विचारता है कि — (**शरीराणि**) ये शरीर (**सुख-दुःखानि न जानन्ति**) जड़ होने से सुखों तथा दुःखों को नहीं जानते हैं, (**तथापि**) तो भी (**ये**) जो जीव (**अत्रैव**) इन शरीरों में ही (**निग्रहानुग्रहधियं**) उपवासादि द्वारा दण्डरूप निग्रह की और अलंकारादि द्वारा अलंकृत करनेरूप अनुग्रह की बुद्धि (**कुर्वते**) धारण करते हैं, (**ते**) वे जीव (**अबुद्धयः**) मूढ़बुद्धि हैं-बहिरात्मा हैं।

यह शरीर तो जड़ है, यह कहीं सुख दुःख को नहीं जानता, और इस शरीर में सुख-

दु:ख होता नहीं; फिर भी मूढ़ जीव उस शरीर में हेय-उपादेय बुद्धि रखकर उसमें द्वेष और प्रीति किया करता है। मिथ्यादृष्टि जीव, घर-कुटुम्ब का त्याग करके जंगल में निवास करे और शुभभाव से स्वर्ग में जाये, तथापि चैतन्य की शान्ति के बिना शरीर के प्रति द्वेषबुद्धि से ही उसका त्याग है।

'शरीर द्वारा धर्म साधन करने के लिये इसे आहार दूँ, अथवा उपवासादि द्वारा शरीर का निग्रह करूँ'—ऐसी जिसकी बुद्धि है, उसके अनन्तानुबन्धी राग-द्वेष है। उसको चैतन्य के अमृत का वेदन नहीं है, इसलिए उसे समाधि नहीं, किन्तु असमाधि है। शरीर को ही उसने सुख का साधन माना, वहाँ उसका पोषण करने की रागबुद्धि है, और शरीर को दु:ख का साधना माना, वहाँ उसके प्रति द्वेषबुद्धि है, इसलिए वह शरीर की चिन्ता करने से निरन्तर असमाधि का ही वेदन करता है, परन्तु मैं तो शरीर से भिन्न ज्ञान-दर्शनस्वरूप हूँ, शरीर में मेरा सुख दु:ख है ही नहीं—ऐसा ज्ञानस्वभाव का निर्णय करना और सर्व परद्रव्यों से आत्मा को भिन्न जानकर, सभी परद्रव्यों से उपेक्षित होकर, ज्ञानानन्दस्वरूप में प्रीति करना ही समाधि का उपाय है।

धर्मी को चैतन्यस्वरूप में ही प्रीति है। अपने चैतन्यस्वरूप के अलावा शरीरादि के प्रति उपेक्षा ही है। ज्ञानस्वरूप आत्मा शान्ति और आनन्द का सागर है-उसमें दृष्टि करने से देहादि के प्रति सहज ही उपेक्षा हो जाती है; धर्मी को आत्मभाव से उत्साह और रुचि है; इसलिए पर के प्रति उपेक्षा रहती है। अज्ञानी को आत्मभाव की तो खबर नहीं है और पर का त्याग करता है, इसलिए उसमें द्वेषबुद्धि ही पड़ी है। चिदानन्दस्वरूप आत्मद्रव्य में परिणति की एकाग्रता बिना देहादि के प्रति सच्ची उदासीनता (उपेक्षा) नहीं हो सकती। चैतन्य के आनन्द से एकाग्र होने से उस समय राग-द्वेष होते ही नहीं और वहाँ धर्मी को देहादि के प्रति इष्ट-अनिष्ट बुद्धि नहीं होती, इसलिए अनाकुल शान्तिरूप समाधि ही रहती है।

चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द के समीप धर्मात्मा को जगत के समस्त बाह्य विषयों का कौतुक छूट गया है; बाह्य में कहीं स्वप्न में भी सुख का आभास नहीं होता। अमृत का सम्पूर्ण वृक्ष, अमृत का पूरा नारियल वृक्ष, अथवा आनन्द का कल्पवृक्ष अपने में ही साक्षात् देखा है और उसका स्वाद भी लिया है; वहाँ राग की और राग के फल की मिठास क्यों

आयेगी ? अज्ञानी, राग में और संयोग में कहीं न कहीं अवश्य मोहित है। यदि कहीं न अटका हो तो चैतन्य के निर्विकल्प आनन्द का वेदन क्यों नहीं होता ? ज्ञानी तो स्वभाव में ही सन्तुष्ट है, उसी को सच्चा त्याग और समाधि होती है। देखो, ऐसे आत्मतत्त्व को पहिचानकर, अन्तर्मुख उसकी भावना ही परम शान्ति देनेवाली है; इसके अलावा अन्य कहीं भी जीव को शान्ति नहीं मिल सकती। अन्तर तत्त्व से अपनी महिमा पहिचाने बिना बाह्य तत्त्वों से सच्ची उदासीनता या वैराग्य नहीं हो सकता; इसलिए उसका त्याग भी सच्चा नहीं होता, और उसे आत्मा की शान्ति प्रगट नहीं हो सकती।

ज्ञानी-धर्मात्मा गृहस्थाश्रम में भी हो, शरीर की सेवा करता दिखायी दे, परन्तु वास्तव में तो उसने देह से अपने को अत्यन्त भिन्न जान लिया है; देह मैं हूँ ही नहीं, मैं तो चैतन्य हूँ। जिस प्रकार यह खम्भा आत्मा से भिन्न है; उसी प्रकार देह, आत्मा से भिन्न है—ऐसी स्पष्ट भिन्नता धर्मात्मा ने जान ली है; वह शरीर से अपने को किञ्चित् भी सुख-दु:ख होना नहीं मानता, और देह स्वयं अचेतन है, उसे तो सुख-दु:ख की कुछ भी खबर नहीं। इस प्रकार शरीर, सुख-दु:ख का करण न होने से शरीर का उपकार करने की या क्लेश देने की बुद्धि ज्ञानी को नहीं होती; ज्ञानी को तो शरीर के प्रति उपेक्षाबुद्धि है। जो मेरा है ही नहीं, उसका अनुग्रह क्या ? और निग्रह क्या ? अनुग्रह अर्थात् शरीर की सेवा, संभाल; शरीर ठीक होगा तो धर्म होगा-ऐसे भावों द्वारा उसकी देखभाल करना; और निग्रह अर्थात् शरीर का दमन करना, देह दमन करूँगा तो धर्म होगा—ऐसी बुद्धि से शरीर के कष्ट सहन करना; इस प्रकार शरीर पर अनुग्रह और निग्रह की बुद्धि कौन करता है ?—कि अज्ञानी ही ऐसी बुद्धि करता है, क्योंकि उसे शरीर में एकताबुद्धि है। ज्ञानी ने तो आत्मा को देह से सर्वथा भिन्न पहिचानकर शरीर के प्रति उपेक्षाबुद्धि धारण कर ली है; शरीर के लाभ-हानि से आत्मा के लाभ-हानि की बुद्धि ज्ञानी को है ही नहीं। शरीर के लाभ-हानि से अपना लाभ-हानि जो मानता है, उसको शरीर के प्रति सच्चा वैराग्य होता ही नहीं; इसलिए उसके त्याग को भी द्वेषगर्भित कहा गया है। ज्ञानी को, ज्ञातास्वभावी स्वतत्त्व की ओर ढलने से समस्त जगत के प्रति और शरीर के प्रति सच्ची उपेक्षाबुद्धि उत्पन्न हो गयी है। जहाँ तक स्व-पर तत्त्व का भेदज्ञान नहीं है, वहीं तक संसार है, और भेदज्ञान होने पर संसार से निवृत्ति होती है—ऐसा आगे की गाथा में कहा जायेगा। ●

देह में आत्मबुद्धि से संसार.... भेदज्ञान के अभ्यास से मुक्ति

जीव जब तक शरीरादिक में आत्मबुद्धि से प्रवृत्ति करता है, तभी तक संसार है; और भेदज्ञान होने पर वह प्रवृत्ति मिट जाती है एवं मुक्ति की प्राप्ति होती है-ऐसा अब कहते हैं—

स्वबुद्ध्या यावद्गृह्णीयात् कायवाक्चेतसां त्रयम्।
संसार तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः॥६२॥

'हैं मेरे मन-वचन-तन' - यही बुद्धि संसार।
इनके भेद-अभ्यास से, होते भविजन पार॥६२॥

अन्वयार्थ :- (**यावत्**) जब तक (**कायवाक्चेतसां त्रयम्**) शरीर, वचन और मन — इन तीनों को (**स्वबुद्ध्या**) आत्मबुद्धि से (**गृह्णीयात्**) ग्रहण किया जाता है, (**तावत्**) तब तक (**संसारः**) संसार है (**तु**) और जब (**एतेषां**) इन मन, वचन, काय का (**भेदाभ्यासे**) आत्मा से भिन्न होनेरूप अभ्यास किया जाता है, तब (**निवृत्तिः**) मुक्ति की प्राप्ति होती है।

काय-वचन और मन, यह तीनों मैं हूँ-इस प्रकार जहाँ तक स्वबुद्धि से जीव उन्हें ग्रहण करता है, तब तक मिथ्याबुद्धि के कारण उसे संसार है। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और शरीरादि मुझसे पृथक् हैं—ऐसे भेदज्ञानपूर्वक भेद के अभ्यास से संसार की निवृत्ति होती है।

मैं ज्ञाता चिदानन्दस्वरूप हूँ; इस प्रकार जो अपने आत्मा को श्रद्धा-ज्ञान में ग्रहण नहीं करता, और मैं शरीर-मन-वाणी हूँ—इस प्रकार ग्रहण करता है, वह मूढ़ जीव बहिरात्मा है; जब तक शरीरादिक को आत्मबुद्धि से ग्रहण करता है, तभी तक संसार है

और मैं तो चिदानन्द ज्ञानमूर्ति हूँ; शरीर–मन–वाणी मैं नहीं, यह सब मुझसे भिन्न हैं—ऐसे भेदज्ञान के अभ्यास से संसार की निवृत्ति होती है।

जड़ के साथ एकत्वबुद्धि, वह संसार का कारण है और भेदज्ञान का अभ्यास–अर्थात् देहादि से अत्यन्त भिन्न, ऐसे चैतन्यतत्त्व की बारम्बार भावना, वह मुक्ति का उपाय है। भेदज्ञान से ही मोक्ष के उपाय का प्रारम्भ होता है और पश्चात् भी भेदज्ञान की भावना से ही मुक्ति होती है।

नियमसार में कहते हैं कि—'ऐसे भेद का अभ्यास होने पर जीव मध्यस्थ होता है, इससे चारित्र होता है।' भेदज्ञान ही मोक्ष का कारण है। समयसार में कहा है कि जो जीव सिद्ध हुए हैं, वे भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जो जीव बँधे हैं, वे भेदविज्ञान के अभाव से ही बँधे हैं। अत:

भावयेत्भेदविज्ञानंइदमच्छिन्नधारया।
तावत् यावत् परात् च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते॥१३०॥

अच्छिन्नधारा से इस भेदज्ञान की तब तक भावना करनी चाहिए कि जब तक ज्ञान, परभावों से छूटकर ज्ञान में ही लीन न हो जाय। देखो, ऐसे भेदज्ञान के द्वारा शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है। जो अभी तो ऐसा मान रहा हे कि देह–वाणी, वह मैं हूँ; उनका काम मैं करता हूँ—वह तो देह से भिन्न आत्मा का ध्यान कब करेगा? और उसको समाधि या मोक्षमार्ग कहाँ से होगा? वह तो पर में लीन होकर संसार में भटकेगा।

आत्मा तो स्व–पर प्रकाशक ज्ञाता है। यह आँख तो जड़ है, वह कुछ देखती नहीं; यह शरीर, इन्द्रियाँ, मन, वाणी सब जड़ हैं, ये कोई आत्मा नहीं हैं; आत्मा तो अपने ज्ञान–आनन्दस्वरूप है—इस प्रकार जिसके श्रद्धा–ज्ञान चारित्र में पर से भिन्न चैतन्यतत्त्व का स्वीकार है, वह जीव, मुक्ति को प्राप्त करता है और परद्रव्यों को जो एकत्वबुद्धि से ग्रहण करता है, वह संसार में भटकता है।

जो शरीर–मन–वाणी को ही अपना स्वरूप मानता है, उसे शरीरादि जड़ से भिन्न अपना ज्ञान–आनन्दस्वरूप भासित नहीं होता, अर्थात् शरीरादिक पर दृष्टि होने से उसको सदा असमाधि ही रहती है। ज्ञानी तो जानता है कि देह–मन–वाणी किसी के साथ मेरा

कोई सम्बन्ध नहीं है; उनका चाहे जो हो, मैं तो ज्ञान-आनन्दस्वरूप ही हूँ—इस प्रकार भान में-जागृति में चैतन्यस्वरूप के आश्रय से धर्मी को समाधि होती है। शरीर में रोग आये या निरोगी रहे-उन दोनों दशाओं में मैं तो उनसे भिन्न ही हूँ। इस प्रकार भिन्नता जानकर ज्ञानी अपने चैतन्यस्वभाव की ही भावना करता है। अजीव के एक अंश को भी अपना नहीं मानता; इसलिए वह चैतन्यस्वभाव में लीन होकर मुक्ति को प्राप्त करता है। इस प्रकार भेदज्ञान को मोक्ष का कारण जानकर, हे जीव! तू निरन्तर उसका उद्यम कर। ●

वैराग्य महल के शिखर के शिखामणि

मुनिराज का वैराग्य तो कोई और ही होता है। '**मुनिराज तो वैराग्यमहल के शिखर के शिखामणि हैं।**' वैराग्य का महल, उसका शिखर और उसके शिखामणि। अहाहा! अन्तर में वैराग्य एवं आनन्द की कैसी दशा!

नियमसार के टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव तो यहाँ तक कहते हैं कि मुनिराज अर्थात् स्ववश योगी को भूमिकानुसार किञ्चित् राग का मन्द अंश है, तथापि सर्वज्ञ-वीतराग में और उन स्ववश योगियों में कुछ भी भेद नहीं है; अरे रे! हम जड़ हैं कि उनमें भेद मानते हैं। सच्चे भावलिङ्गी सन्त की यह बात है। बाह्य द्रव्यलिङ्ग तो अनन्तबार धारण किया, नग्न हुआ, हजारों रानियाँ छोड़ीं – वह कोई वैराग्य नहीं है, वह कोई त्याग नहीं है।

भीतर पूर्णानन्दस्वभाव में जाने पर वहाँ स्वरूप की आसक्ति (लीनता) होती है और राग की आसक्ति छूट जाती है – ऐसा ज्ञान एवं वैराग्य ज्ञानी के अन्तर में वर्तता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, २/१९८

जैसे वस्त्र भिन्न है, वैसे देह भी भिन्न है

शरीरादिक के साथ एकताबुद्धि, वह संसार का कारण है और शरीर से भिन्न चिदानन्दस्वरूप का यथार्थ ज्ञान, वह मोक्ष का कारण है। अब, धर्मात्मा को शरीर से भिन्न आत्मा का भेदज्ञान कैसा होता है, वह दृष्टान्तपूर्वक समझाते हैं:—

जिस प्रकार शरीर और वस्त्र दोनों पृथक् हैं; उसी प्रकार आत्मा और शरीर दोनों भिन्न हैं। धर्मात्मा को वस्त्र की भाँति यह शरीर अपने से प्रगट भिन्न भासित होता है—यह बात चार गाथाओं द्वारा अति सरलता से समझाते हैं:—

घने वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न घनं मन्यते तथा।
घने स्वदेहेऽप्यात्मानं न घनं मन्यते बुधः ॥६३॥

मोटा कपड़ा पहनकर, मानें नहीं तन पुष्ट।
त्यों बुध तन की पुष्टि से, गिने न आत्मा पुष्ट॥६३॥

अन्वयार्थ :- (**यथा**) जिस प्रकार (**वस्त्र घने**) गाढ़ा वस्त्र पहन लेने पर (**बुधः**) बुद्धिमान पुरुष, (**आत्मानं**) अपने को-अपने शरीर को (**घनं**) गाढ़ा अथवा पुष्ट (**न मन्यते**) नहीं मानता है, (**तथा**) उसी प्रकार (**स्वदेहेऽपि घने**) अपने शरीर के भी गाढ़ा अथवा पुष्ट होने पर (**बुधः**) अन्तरात्मा, (**आत्मानं**) आत्मा को (**घनं न मन्यते**) मोटा-पुष्ट नहीं मानता है।

जिस प्रकार लोक में मनुष्य, मोटा वस्त्र पहिने हो तो वहाँ अपने को मोटे वस्त्ररूप नहीं मानते; उसी प्रकार आत्मा के ऊपर यह शरीररूपी वस्त्र है; वहाँ मोटे शरीर के कारण बुद्धिमान पुरुष अपने को उस शरीररूप पुष्ट नहीं मानते। जिस प्रकार मोटे वस्त्र से कहीं शरीर की पुष्टि नहीं है; उसी प्रकार पुष्ट शरीर से कहीं आत्मा की पुष्टि नहीं। इस प्रकार ज्ञानी प्रगटरूप से अपने आत्मा को शरीर से बिल्कुल भिन्न देखते हैं।

आत्मा का शरीर तो नित्य असंयोगी ज्ञान एवं आनन्दमय है; यह जड़ शरीर, अनित्य और संयोगी होने से कहीं आत्मा का नहीं है। शरीर और वस्त्र तो दोनों जड़ हैं और यहाँ शरीर तथा आत्मा-दोनों की जाति ही भिन्न है; आत्मा तो चैतन्यमूर्ति है और शरीर, अचेतनमूर्ति है—इस प्रकार दोनों का स्वभाव ही भिन्न है। वस्त्र के परमाणु पलटकर कदाचित् शरीररूप हो भी जाए, परन्तु शरीर पलटकर कदापि आत्मारूप नहीं होता, और आत्मा कभी शरीररूप जड़ नहीं होता, दोनों की जाति ही अत्यन्त भिन्न है। ज्ञानी तो अपने आत्मा को चेतनरूप ही देखते हैं। जड़ शरीर को कभी अपनेरूप नहीं देखते।

देखो! बिल्कुल सरल दृष्टान्त देकर शरीर और आत्मा की भिन्नता समझाई है। वस्त्र तो अनेक बदलते हैं, परन्तु शरीर तो वह का वही रहता है; उसी प्रकार शरीर अनेक बदले, तथापि आत्मा तो वह का वही है। यदि शरीर ही आत्मा हो तो उसके नाश होने से आत्मा का नाश होना चाहिए; शरीर की पुष्टि होने से आत्मा के ज्ञानादि की पुष्टि होना चाहिए परन्तु ऐसा तो नहीं होता। शरीर पुष्ट होने पर भी जीव बुद्धिहीन भी होता है।

जिस प्रकार वस्त्र के फटने से शरीर नहीं टूट जाता, क्योंकि दोनों भिन्न हैं; उसी प्रकार शरीर के टूटने से कहीं आत्मा नष्ट नहीं हो जाता, क्योंकि दोनों भिन्न हैं; इसलिए आत्मा, शरीर से बिल्कुल भिन्न ही स्वभाववाला है। इस प्रकार ज्ञानी, आत्मा को शरीर से भिन्न जानकर उसी की भावना भाते हैं और ऐसी आत्मभावना वह मुक्ति का उपाय है।

ज्ञानी अन्तरात्मा अपने आत्मा को शरीर से अत्यन्त भिन्न जानते हैं, उसकी यह बात है? देहादिक से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को जानकर, उसमें एकाग्रता करने का नाम समाधि है। इससे अतिरिक्त परवस्तु मेरी और मैं उसका अधिकारी—ऐसी जिसकी मान्यता है, उसे राग-द्वेष-मोहरूप असमाधि है।

जिस प्रकार मोटा वस्त्र पहिनने से मनुष्य अपने को पुष्ट नहीं मानता; उसी प्रकार हृष्ट-पुष्ट युवा शरीर में रहने से धर्मी अपने को उस शरीर जैसा नहीं मानता; धर्मी जानता है कि यह युवा शरीर अथवा उसकी क्रियायें, वह मैं नहीं हूँ; मैं तो चैतन्यमय आत्मा हूँ। जिस प्रकार यह जड़ खंभा मुझसे पृथक् है; उसी प्रकार यह शरीर भी मुझसे पृथक् है। अज्ञानी मूढ़ जीव, शरीर से भिन्नता को नहीं जानता; इसलिए देहादि के प्रति राग-द्वेष

छोड़कर उनसे छूटने का उपाय भी वह नहीं जानता। शरीर से भिन्न चैतन्यतत्त्व को लक्ष्य में लिये बिना रागादि छोड़ना चाहे तो वे नहीं छूट सकते; भेदज्ञान के द्वारा चैतन्य के आनन्द में एकाग्रता द्वारा ही रागादि छूटते हैं।

जब शरीर ही मैं नहीं हूँ तो फिर शरीर की निरोगता से मुझे सुख हो–यह बात कहाँ रही ? शरीर, आत्मा से भिन्न है; उससे आत्मा को सुख–दुःख नहीं है; आत्मा स्वयं ही सुख–दुःखरूप परिणमित होता है; विषय उसको क्या करें ? आत्मा का सहज स्वभाव तो चिदानन्द सुखस्वरूप है, उसके अनुभव में तो सुख ही है परन्तु उसे छोड़कर अज्ञानी, शरीर को अपना मानकर, उस शरीर के प्रति राग–द्वेष करके राग–द्वेष का अनुभव करते हैं, वह दुःख तथा असमाधि है।

ज्ञानी तो जानता है कि ज्ञान और आनन्द से पुष्ट, ऐसा मेरा आत्मा ही मेरा स्व है। ऐसी आत्म–प्रतीति में ज्ञानी अपने चैतन्य सुख का अनुभव करते हैं, वह समाधि है, वह मोक्ष का कारण है।

✦✦✦

भेदज्ञान, वह परमशान्ति का मूल है। ऐसे भेदज्ञान की भावना का घोलन करते हुए कहा है कि जिस प्रकार मोटे वस्त्र से लोग अपने को मोटा / हृष्ट–पुष्ट नहीं मानते; उसी प्रकार बुद्धिमान पुरुष, मोटे शरीर में विद्यमान आत्मा को उस शरीररूप–मोटा नहीं मानते परन्तु जिस प्रकार शरीर से वस्त्र भिन्न है, उसी प्रकार आत्मा से शरीर को भिन्न जानते हैं।

जीर्णे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न जीर्णं मन्यते तथा।
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः ॥६४॥

वस्त्र जीर्ण से जीर्ण तन, माने नहीं बुधिवान।
त्यों न जीर्ण तन से गिनें, जीर्ण आत्म मतिमान॥६४॥

अन्वयार्थ :– (**यथा**) जिस प्रकार (**वस्त्रे जीर्णे**) पहने हुए वस्त्र के जीर्ण होने पर (**बुधः**) बुद्धिमान पुरुष, (**आत्मानं**) अपने को–अपने शरीर को (**जीर्णं न मन्यते**)

जीर्ण नहीं मानता है; (**तथा**) उसी प्रकार (**स्वदेहे अपि जीर्णे**) अपने शरीर के भी जीर्ण हो जाने पर (**बुधः**) अन्तरात्मा, (**आत्मानं**) आत्मा को (**जीर्ण न मन्यते**) जीर्ण नहीं मानता है।

शरीर पर पहना हुआ वस्त्र जीर्ण हो जाये अथवा फट जाये, उससे कहीं शरीर जीर्ण नहीं होता या फट नहीं जाता; उसी प्रकार यह शरीर जीर्ण हो जाने से कहीं आत्मा जीर्ण नहीं होता। शरीर जीर्ण हो जाये-रोगग्रस्त हो जाये या वृद्ध हो जाये तो मैं जीर्ण हो गया, मैं रोगी हो गया अथवा वृद्ध हो गया—ऐसा बुधजन, अर्थात् ज्ञानी नहीं मानते। मैं तो ज्ञाता हूँ, मैं स्वयंसिद्ध अनादि-अनन्त हूँ; बाल, युवा या वृद्धावस्था मेरी नहीं है। हाँ, आत्मा की अज्ञानदशा में बालपन था; अब आत्मप्रतीतिरूप साधकदशा, वह धर्म की युवावस्था है, अर्थात् पुरुषार्थ की दशा है; और केवलज्ञान तथा सिद्धपद की प्राप्ति हो, वह आत्मा की वृद्धावस्था है, अर्थात् वहाँ ज्ञान परिपक्व हो गया है। इसके अतिरिक्त शरीर की बाल, युवा या वृद्धावस्था, वह आत्मा की नहीं है। शरीर वृद्ध हो और शरीर की शक्तियाँ क्षीण हो जायें, उससे कहीं आत्मा की ज्ञानशक्ति का घात नहीं हो जाता। ज्ञान तो जानता है कि इस शरीर में पहले ऐसी शक्ति थी और अब शरीर में ऐसी शक्ति नहीं है परन्तु शरीर में शक्ति हो या न हो, वह कहीं मेरा कार्य नहीं है। मैं तो ज्ञान और आनन्दस्वरूप ही हूँ, ज्ञान में ही मेरा अस्तित्व है; शरीर में मेरा अस्तित्व नहीं है।

अज्ञानी को तो शरीर और इन्द्रियों से पार चैतन्यतत्त्व लक्ष्य में ही नहीं आया, इसलिए शरीर तथा इन्द्रियों को ही वह आत्मा मानता है। जहाँ शरीर और इन्द्रियाँ क्षीण हो जाती हैं, वहाँ उस अज्ञानी को ऐसा लगता है कि 'मेरी शक्ति क्षीण हो गई' इसलिए वह अज्ञानी तो देहदृष्टि से आकुल-व्याकुल ही रहता है। शरीर की अनुकूलता हो, वहाँ 'मैं सुखी'—ऐसा मानकर वह अनुकूलता में मूर्च्छित हो जाता है; और जहाँ प्रतिकूलता हो, वहाँ 'मैं दुःखी'—ऐसा मानकर वह प्रतिकूलता में मूर्च्छित हो जाता है; ज्ञानी तो शरीरादि से भिन्न चैतन्यस्वरूप ही अपने को जानते हैं; इसलिए वे किन्हीं भी संयोगों में मूर्च्छित नहीं होते; चैतन्य के लक्ष्य से उन्हें शान्ति रहती है।

✦✦✦

पुनश्च, जिस प्रकार शरीर की युवा या वृद्धावस्था से धर्मी अपने को युवा या वृद्ध नहीं मानता; उसी प्रकार शरीर के नाश से धर्मी अपना नाश नहीं मानते-यह बात कहते हैं—

नष्टे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न नष्टं मन्यते तथा।
नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः ॥६५॥

वस्त्र फटे माने नहीं, बुद्धिमान तन-नाश।
त्यों तन-नाश से, बुधजन गिनते नहीं विनाश॥६५॥

अन्वयार्थ :- (**यथा**) जिस तरह (**वस्त्रे नष्टे**) कपड़े के नष्ट हो जाने पर (**बुधः**) बुद्धिमान पुरुष, (**आत्मानं**) अपने शरीर को (**नष्टं न मन्यते**) नष्ट हुआ नहीं मानता है; (**तथा**) उसी तरह (**बुधः**) अन्तरात्मा, (**स्वदेहे अपि नष्टे**) अपने शरीर के नष्ट हो जाने पर, (**आत्मानं**) अपने आत्मा को (**नष्टं न मन्यते**) नष्ट हुआ नहीं मानता है।

जिस प्रकार वस्त्र का नाश होने से उस वस्त्र को पहिननेवाला मनुष्य अपना नाश नहीं मान लेता; वस्त्र की बाँह कटने से कहीं मनुष्य का हाथ नहीं कट जाता; उसी प्रकार अपने शरीर का नाश होने से ज्ञानी अपना नाश नहीं मानते। शरीर पुष्ट-स्वस्थ रहे, जीर्ण हो जाये या नष्ट हो जाये-इन तीनों अवस्थाओं से भिन्न मैं तो ज्ञान हूँ; शरीर की बाल, युवा तथा वृद्ध तीनों दशाओं का ज्ञाता हूँ परन्तु उनरूप होनेवाला मैं नहीं हूँ।

जैसे किसी को स्वप्न आया कि 'मैं मर गया' और ऐसे स्वप्न से भयभीत होकर चिल्ला कर जाग पड़ा, जागकर देखा कि 'अरे! मैं तो जीवित हूँ!' स्वप्न में अपने को मर गया माना, वह भ्रम था; उसी प्रकार जीव यह शरीर छोड़कर दूसरे भव में जाये, वहाँ अज्ञाननिद्रा में सोता हुआ अज्ञानी भ्रम से ऐसा मानता है कि 'अरे रे! मैं मर गया!' परन्तु जातिस्मरण आदि ज्ञान द्वारा प्रतीति होती है कि पूर्व काल में जिस अमुक भव में था, वही आत्मा मैं वर्तमान में हूँ; इसलिए मेरी मृत्यु नहीं हुई है। मैंने पूर्व काल में शरीर से एकत्व दृष्टि के कारण अपना मरण माना था। यहाँ जातिस्मरण का दृष्टान्त है, तद्नुसार ज्ञानी तो सदैव अपने आत्मा को शरीर से भिन्न ही जानता है। मैं तो ज्ञान हूँ, मैं शरीर हूँ ही नहीं, फिर मेरा नाश कैसा? शरीर नाश के समय भी ज्ञानी को ऐसा सन्देह नहीं होता कि 'मेरा मरण

होगा', इसलिए ज्ञानी को मृत्यु का भय नहीं है। मृत्यु मेरी है ही नहीं-ऐसा जान लिया, फिर मृत्यु का भय कैसा?

शरीर को अपना माननेवाले मूढ़ जीवों को ही मरण का भय है; आत्मा को शरीर से भिन्न जाननेवाले सन्तों को मृत्यु का भय नहीं होता। सिंह-बाध आये और ज्ञानी निचली दशा में चारित्र की कमजोरीवश भय से भागे, तथापि उस समय भी उसे ऐसा भय नहीं है कि मेरी मृत्यु हो जायेगी; मेरा चैतन्यतत्त्व अविनाशी है, पूर्व भवों में अनन्त शरीरों का संयोग आया और छूट गया, तथापि मेरा नाश नहीं हुआ; मैं तो ज्ञानस्वरूप ज्यों का त्यों हूँ; शरीरादि कोई मेरी वस्तु नहीं है, मेरी वस्तु तो ज्ञान-आनन्दमय है, वह कभी मुझसे पृथक् नहीं होती। इस प्रकार धर्मात्मा, शरीर के नाश से अपना नाश नहीं मानते, परन्तु अपने को अविनाशी ज्ञानस्वरूप अनुभव करते हैं; इसलिए उन्हें परम शान्ति एवं समाधि वर्तती है। इस प्रकार भेदज्ञान की भावना ही परम शान्ति देनेवाली है।

✦✦✦

पुनश्च, जिस प्रकार वस्त्र के लाल-पीले-काले या सफेद आदि रंग से लोग अपने को वैसे रंग का नहीं मान लेते; उसी प्रकार शरीर के लाल-पीले-काले या सफेद आदि रंगों से ज्ञानी पुरुष अपने आत्मा को वैसा नहीं मानते—

रक्ते वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न रक्तं मन्यते तथा।
रक्ते स्वदेहेऽऽप्यात्मानं न रक्तं मन्यते बुधः ॥६६॥

रक्त वस्त्र से नहीं गिनें, बुधजन तन को लाल।
रक्त देह से ज्ञानीजन, गिने न चेतन लाल ॥६६॥

अन्वयार्थ :-(**यथा**) जिस प्रकार (**वस्त्रं रक्ते**) पहना हुआ वस्त्र, लाल होने पर भी (**बुधः**) बुद्धिमान पुरुष, (**आत्मानं**) अपने शरीर को (**रक्तं न मन्यते**) लाल नहीं मानता है; (**तथा**) उसी तरह (**स्वदेहे अपि रक्ते**) अपने शरीर के लाल होने पर

भी **(बुधः)** अन्तरात्मा, **(आत्मानं)** अपने आत्मा को **(रक्तं न मन्यते)** लाल नहीं मानता है।

जिस प्रकार लाल आदि रंगवाला वस्त्र पहिनने से लोग अपने को वैसे रंग का नहीं मान लेते; वस्त्र के रंग को शरीर का रंग नहीं मानते; उसी प्रकार ज्ञानी, शरीर के रंग को आत्मा का रंग नहीं मानते। रंगवाला लाल-पीला शरीर, वह मैं नहीं हूँ; मैं तो रंगरहित अरूपी चैतन्य हूँ; इस प्रकार ज्ञानी अपने को शरीर से भिन्न जानते हैं।

जिस प्रकार श्वेत मनुष्य, काला वस्त्र पहन ले तो उससे वह कहीं काला नहीं हो जाता और काला मनुष्य, श्वेत वस्त्र पहनने से श्वेत नहीं हो जाता, क्योंकि वस्त्र और शरीर भिन्न हैं; उसी प्रकार काले-लाल शरीर से आत्मा, काला-लाल नहीं हो जाता। शरीर सुन्दर होने से आत्मा में गुण हो जाये और शरीर कुरूप होने से आत्मा में अवगुण हो जाये-ऐसा नहीं है। किसी का शरीर कुरूप हो, तथापि केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष प्राप्त करता है; उसमें कहीं शरीर बाधक नहीं होता; और किसी का शरीर सुन्दर हो, तथापि पाप करके नरक में जाता है, उसे शरीर रोक नहीं सकता; शरीर और आत्मा तो भिन्न ही हैं।

जैसे लाल वस्त्र बदलकर पीला पहिनने से कहीं शरीर नहीं बदल जाता; उसी प्रकार मनुष्य का शरीर बदलकर देव का शरीर मिले तो उसमें कहीं आत्मा बदलकर दूसरा नया नहीं आता; आत्मा तो अखण्डरूप से वही रहता है। मनुष्य शरीर में जो आत्मा था, वही देव के शरीर में आत्मा है; लाल-पीले रंग दिखायी देते हैं, वह आत्मा नहीं है; आत्मा तो रंगरहित अरूपी चैतन्यमूर्ति है। इस प्रकार धर्मी अपने आत्मा को शरीर से भिन्न जानता है।

अहा, देखो तो सही! जिस प्रकार लकड़ी या पत्थर का खम्भा आत्मा से भिन्न है; उसी प्रकार यह शरीर भी आत्मा से पृथक् ही है। जिस प्रकार खम्भे की क्रिया से आत्मा को धर्म नहीं है; उसी प्रकार शरीर की क्रिया से आत्मा को धर्म नहीं है। जिस प्रकार खम्भा, अचेतन परमाणु का पिण्ड है, उसी प्रकार शरीर भी अचेतन परमाणु का पिण्ड है।

ज्ञानी ने यहीं से देहात्मबुद्धि छोड़ दी है, इसलिए वे पुनः देह धारण नहीं करते; अज्ञानी को तो शरीर में ही आत्मबुद्धि है, इसलिए देह के ममत्व के कारण वह पुनः-पुनः

शरीर धारण करता है और संसार में भटकता है। ज्ञानी को चारित्र में दोषवश कदाचित् एक-दो भव धारण करना पड़ें परन्तु वहाँ वे शरीर को आत्म-बुद्धि से धारण नहीं करते; वे तो आत्मा को ही अपना मानकर आराधना करते हैं और उसकी आराधना से मुक्ति प्राप्त करते हैं।

धर्मी जानता है कि यह शरीर तो अनित्य है; क्षण में पलटकर नष्ट हो जाये ऐसा है परन्तु मेरा आत्मा तो नित्य-स्थायी है, वह कभी नाश को प्राप्त नहीं होता; आत्मा की पर्यायें बदलती हैं परन्तु उसका सर्वथा नाश नहीं होता। शरीर तो जड़ परमाणुओं का पिण्ड है, उसमें कहीं सुख या धर्म नहीं भरा है; मेरा तो चैतन्य-शरीर है, मेरे चैतन्य-शरीर में ही ज्ञान-आनन्द भरे हैं, उसमें जितनी एकाग्रता करूँ, उतने ही ज्ञान-आनन्द प्रगट होते हैं— ऐसा जानकर, धर्मी अपने आत्मा में ही एकाग्रता करता है, उसका नाम धर्म है।

जो बीत चुकी है, ऐसी बाल या युवा अवस्था को जीव जानता है परन्तु शरीर की उस बीती हुई अवस्था को वह वापिस नहीं ला सकता; शरीर को वृद्ध से युवा या बाल्यावस्था में नहीं ला सकता क्योंकि वह वस्तु ही अलग है। आत्मा उसका ज्ञान कर सकता है परन्तु उसे बदल नहीं सकता; वैसे ही शरीर काला हो, उसे आत्मा जान सकता है परन्तु उसे काले से सफेद नहीं बना सकता।

अज्ञानी, शरीर के रंग को ही अपना रंग मानता है परन्तु अपने चैतन्य के रंग को नहीं जानता कि जिससे भव का नाश हो जाये! चैतन्य का रंग क्या? —कि अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द ही चैतन्य का रंग है, वहीं चैतन्य का रूप है; सिद्ध समान (केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप) उसकी आँखें हैं। कामदेव समान शरीर का रूप या मृग जैसी आँखें, वह कहीं आत्मा का स्वरूप नहीं है; उनसे तो आत्मा पृथक् है। ऐसे आत्मस्वरूप को जो नहीं जानता और शरीर को ही आत्मा मानता है, उसे धर्म नहीं होता और धर्म के बिना शान्ति या समाधि नहीं होती।

सनतकुमार चक्रवर्ती का महा सुन्दर रूप था; देवों की सभा में उनके रूप की प्रशंसा होने पर देव उनका रूप देखने आये और आश्चर्यमुग्ध हो गये। चक्रवर्ती उस समय स्नान की तैयारी में थे; उन्होंने रूप के किञ्चित् अभिमान में देवों से कहा कि अभी तो मैं

अलंकाररहित हूँ परन्तु जब मैं अलंकृत होकर राजसभा में ठाटबाट से बैठूँगा, तब तुम मेरा रूप देखने आना। जब देव राजसभा में आये और रूप देखकर खेद से सिर हिलाने लगे, तब चक्रवर्ती पूछता है कि—अरे देवो! ऐसा क्यों करते हो? श्रृंगाररहित शरीर देखकर तो तुम आश्चर्यचकित हो गये थे और इस समय इतना भारी श्रृंगार होने पर भी तुम असन्तोष व्यक्त कर रहे हो! तब देव कहते हैं कि—हे राजन्! उस समय तेरा शरीर जैसा निर्दोष था, वैसा अब नहीं रहा, अब उसमें रोग का प्रवेश हो गया है; उसका सड़ना प्रारम्भ हो गया है। यह सुनते ही राजा एकदम वैराग्य को प्राप्त होता है और विचारता है कि—अरे, ऐसा क्षणभंगुर शरीर! शरीर के रूप की ऐसी क्षणिकता!! शरीर से भिन्नता की प्रतीति तो थी, परन्तु किञ्चित् राग था, उसे भी तोड़कर अतीन्द्रिय चैतन्य की साधना के लिये निकल पड़े!

जिसे शरीर से भिन्नता की प्रतीति नहीं है और शरीर की क्रियाओं को—उसके रूप को अपना मानता है, वह देहातीत ऐसे सिद्धपद को या आत्मा को कहाँ से साधेगा? भाई! सम्यग्दर्शन होते ही शरीर के रूपमद का भी अभाव हो जाता है। समस्त परद्रव्यों की भाँति शरीर का भी वह अपने से भिन्न ही अनुभव करता है। ऐसे अनुभववाला भेदज्ञान ही शान्ति का एवं समाधि का उपाय है।

धर्मी अन्तरात्मा जानता है कि मैं ज्ञान और आनन्दस्वरूप हूँ, यह जड़ शरीर मैं नहीं हूँ। शरीर के नाश से मेरा नाश नहीं है। जिस प्रकार शरीर का वस्त्र के साथ एकत्व-सम्बन्ध नहीं है; उसी प्रकार आत्मा को भी शरीर के साथ एकता का सम्बन्ध नहीं है। जिस प्रकार वस्त्र के फटने से शरीर नहीं फटता, तथा वस्त्र नवीन आने से शरीर नया नहीं होता, अथवा वस्त्र के रंग से शरीर रंगीन नहीं होता; उसी प्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा के लिये यह शरीर तो ऊपरी वस्त्र समान है; उस शरीर की जीर्णता से आत्मा जीर्ण नहीं होता; शरीर नवीन होने से आत्मा नया नहीं होता; शरीर का नाश होने से आत्मा का नाश नहीं होता; अथवा शरीर के रंग से आत्मा कहीं काले-लाल रंग का नहीं होता; आत्मा तो शरीर से पृथक् ही रहता है। शरीर छूट जाता है परन्तु ज्ञान कभी आत्मा से पृथक् नहीं होता; इसलिए जो पृथक् हो जाये, वह आत्मा का शरीर नहीं है; यह जड़ शरीर आत्मा का नहीं है। आत्मा चैतन्यशरीरी है, वह चैतन्यशरीर आत्मा से कभी पृथक् नहीं होता। ऐसी भिन्नता की प्रतीति में धर्मी को

शरीर के वियोग में दुःख नहीं होता, अर्थात् मरण का प्रसंग आने से 'मैं मर जाऊँगा'— ऐसा मृत्यु का भय उसे नहीं होता। वह जानता है कि मेरा चैतन्यशरीर अविनाशी है; वज्रपात होने पर भी मेरे चैतन्यशरीर का विनाश नहीं होता; मेरा चैतन्यशरीर अवध्य है; किसी के द्वारा उसका घात नहीं हो सकता—ऐसी दृष्टि में धर्मात्मा को मृत्यु का भय नहीं है। जगत को मृत्यु का भय है, परन्तु ज्ञानी को तो चैतन्य के लक्ष्य से समाधि ही है.... उसके तो मानों आनन्द का महोत्सव होता है।

जिसने अपने जीवन में भिन्न चैतन्य की भावना भायी होगी, उसे मृत्यु काल में उसका फल अवश्य मिलेगा परन्तु जिसने जीवन में चैतन्य की चिन्ता ही नहीं की, शरीर को ही आत्मा मानकर विषय-कषायों का पोषण किया है, वह शरीर छूटने के अवसर पर किस के बल से समाधि रखेगा? अज्ञानी तो असमाधिरूप से शरीर छोड़ता है। ज्ञानी ने तो पहले से ही शरीर को अपने से भिन्न जाना है, इसलिए चैतन्य के लक्ष्य से समाधिमरणपूर्वक उसका शरीर छूटता है। एक बार भी चैतन्य के लक्ष्य से शरीर को छोड़े तो पुनः शरीर धारण न करना पड़े; एक-दो भव में ही मुक्ति हो जाये।

देखो, ज्ञानी या अज्ञानी दोनों का शरीर तो छूटता ही है, परन्तु ज्ञानी ने शरीर को भिन्न जाना है; इसलिए उसका शरीर चैतन्य के लक्ष्यपूर्वक छूटता है, उसे मृत्यु का भय नहीं है; और अज्ञानी ने तो शरीर को आत्मारूप ही माना है, इसलिए शरीर के लक्ष्य से उसका शरीर छूटता है; वहाँ 'मेरी मृत्यु हो जायेगी'—ऐसा भय उसे बना रहता है। आत्मस्वभाव के अनुभव बिना मृत्यु का भय कदापि दूर नहीं होता।

लोग नीति आदि के लिये भी शरीर छोड़ देते हैं। जिसके माँस-भक्षण आदि का त्याग है—ऐसा आर्य मनुष्य, शरीर छूट जाये, तथापि माँस-भक्षण नहीं करता। कभी कोई ऐसा समय आ जाये कि कोई दुष्ट मनुष्य उसे पकड़कर कहे कि तू माँस-भक्षण कर, नहीं तो मैं तेरे शरीर के टुकड़े कर डालूँगा; तो वहाँ वह आर्य मनुष्य क्या करेगा?—शरीर छोड़ देगा परन्तु माँस-भक्षण के परिणाम कदापि नहीं करेगा। उसी प्रकार जो ब्रह्मचारी है, वह भले ही शरीर छूट जाये परन्तु ब्रह्मचर्य को नहीं छोड़ेगा। इस प्रकार हिंसा, अब्रह्म आदि अनीति को छोड़ने के लिये शरीर को भी छोड़ देते हैं, तथापि खेद नहीं होता। यदि खेद

हो तो उसने वास्तव में हिंसादि को नहीं छोड़ा है। शरीर छूटते हुए भी खेद न हो, ऐसा कब होता है ?—कि शरीर से भिन्न चैतन्यतत्त्व को लक्ष्य में लिया हो, तभी शरीर को छोड़ सकता है। जो शरीर को ही अपना मानता है, वह शरीर को बिना खेद नहीं छोड़ सकता। इस प्रकार शरीर और आत्मा की भिन्नता के भेदज्ञानपूर्वक ही शरीर का ममत्व छूट सकता है और वीतरागभावरूप समाधि हो सकती है। समाधि अर्थात् वीतरागी आत्मशान्ति; उसका मूल भेदज्ञान है। पर के साथ एकत्वबुद्धिरूप ममता हो, वहाँ स्व में एकाग्रतारूप समाधि नहीं होती; इसलिए आचार्यदेव ने बारम्बार भेदज्ञान की भावना दृढ़ करायी है। जीव को जिसका रस हो, उसकी बारम्बार भावना करके, अर्थात् बारम्बार उसमें उपयोग जोड़कर उसमें अपने परिणाम को एकाग्र करता है।

देखो, राजा रावण जैनधर्मी था; राम-लक्ष्मण के साथ युद्ध में जब वह बहुरूपिणी विद्या साधता है, तब कोई देव आकर उसे डिगाना चाहता है; वहाँ मायाजाल से ऐसा दृश्य खड़ा करता है कि रावण के सामने उसके पिता को मार डालता है... और रावण की माता रुदन करती है कि-अरे बेटा रावण! तुझ जैसे पुत्र के होते हुए यह देव तेरे पिता को मार डाले ? फिर रावण के शरीर पर बड़े-बड़े साँप और बिच्छू चढ़ते हैं... तथापि रावण ध्यान से चलायमान नहीं होता और अन्त में विद्या साध लेता है। विद्या साधने के लिये ध्यान की कितनी एकाग्रता है! देखो, साधारण लौकिक विद्या साधने के लिये ध्यान की इतनी दृढ़ता होनी चाहिए, तो फिर आत्मा को साधने के लिए कितनी दृढ़ता की आवश्यकता होगी ? शास्त्रकार तो कहते हैं कि अहो! जैसी ध्यान की दृढ़ता यह विद्या साधने के लिये की, वैसी दृढ़ता यदि मोक्ष के लिये आत्मध्यान में की होती तो क्षण में वह आठों कर्मों को जलाकर केवलज्ञान और मोक्षदशा को प्राप्त कर लेता। इस प्रकार आत्मा में एकाग्रता के अभ्यास द्वारा परम समाधि होती है।

अहा! मुनि, संसार की ममता छोड़कर आत्मा में एकाग्रता द्वारा निजपद में झूलते हैं, उनको परम समाधि वर्तती है। सिंह-बाघ आकर भले ही शरीर को फाड़ रहा हो अथवा शान्त होकर भक्तिपूर्वक देखता हो, परन्तु मुनि को समताभावरूप समाधि है। सम्यग्दृष्टि को चैतन्यस्वभाव की जितनी वीतरागी दृष्टि हुई है, उतनी सम्यग्दर्शनरूप समाधि है, परन्तु

जितने राग–द्वेष हैं, उतनी असमाधि है, उतनी शान्ति लुटती है। अज्ञानी को तो वीतरागी समताभाव के परम सुख की खबर ही नहीं है, उसने तो समाधिसुख का स्वाद ही नहीं लिया है। उसे शुभ के समय भी अकेली असमाधि है।

अहा! मोक्ष की साधना करनेवाले, मुनियों की समाधि की क्या बात कहें!! बड़े-बड़े राजकुमार भी मुनियों की ऐसी भक्ति करते हैं कि अहा! धन्य है आपका अवतार! आप मोक्ष को साध रहे हैं। वे राजकुमार सम्यक्त्वी होते हैं। कुल पच्चीस वर्ष की उम्र... युवावस्था... तथापि वैराग्य के रंग में रंगे होते हैं... अहो! हम ऐसे मुनि होंगे... धन्य है मुनिदशा को!.... शरीर को स्वप्न में भी अपना नहीं मानते!

श्रेणिक राजा क्षायिक सम्यक्त्वी थे... वे अपने राजभण्डार के रत्नों को तो पत्थर समझते थे और मुनियों के रत्नत्रय को महान पूज्य रत्न मानकर उनका आदर करते थे। योगी–मुनियों के अतीन्द्रिय आनन्द के समक्ष विषय–भोगों को विषतुल्य मानते थे। 'भगवान पधारे हैं'—ऐसी भगवान के आगमन की बधाई माली ने आकर दी, तो राजचिह्न के सिवा करोड़ों के आभूषण उतारकर माली को दे दिये... और तुरन्त सिंहासन से उतरकर भगवान के सामने सात डग आगे बढ़कर नमस्कार किया... ऐसी तो भगवान के प्रति भक्ति और बहुमान था! वे श्रेणिक राजा भविष्य में तीर्थङ्कर होनेवाले हैं। पहले मुनि की निन्दा–विराधना के कारण नरकायु का बन्ध होने से वर्तमान में नरक में हैं, तथापि वहाँ भी सम्यग्दर्शन के प्रताप से शरीर से भिन्न चैतन्यतत्त्व की प्रतीति वर्तती है। यह शरीर मैं नहीं हूँ; मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ—ऐसा भेदज्ञान वहाँ भी उनको वर्त रहा है; और उतनी समाधि वहाँ नरक में भी है।

इस प्रकार अन्तरात्मा अपने आत्मा को शरीरादि से भिन्न जानकर उसी की भावना भाता है; इसलिए मृत्युकाल में भी आत्मभावनापूर्वक उसे समाधि ही रहती है। ●

ज्ञानी को जगत् के प्रति परम उदासीनता

शरीर से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा क्या है और उसका अनुभव कैसे हो ?— उसका वर्णन श्री पूज्यपादस्वामी ने इस 'समाधिशतक' में सरल ढंग से किया है। जिन्हें आत्मा के अतीन्द्रियसुख की अभिलाषा है—ऐसे जीवों के लिये रागादि से भिन्न शुद्ध आत्मस्वरूप का वर्णन किया है। वस्त्र के दृष्टान्त द्वारा शरीरादि से भिन्न आत्मस्वरूप बतलाकर कहते हैं कि—जिनका उपयोग ऐसे आत्मस्वरूप में लगा है, वे ही परम शान्ति -सुख का अनुभव करते हैं-दूसरे नहीं। ऐसा अनुभव करनेवाले ज्ञानी कैसे होते हैं ?-तो कहते हैं कि—

यस्य सस्पन्दमाभाति निःस्पन्देन समं जगत्।
अप्रज्ञमक्रियाभोगं स शमं याति नेतरः ॥६७॥

स्पंदित जग दिखता जिसे, अक्रिय जड़ अनभोग।
वही प्रशम-रस प्राप्त हो, उसे शान्ति का योग ॥६७॥

अन्वयार्थ :- **(यस्य)** जिस ज्ञानी पुरुष को **(सस्पन्दं जगत्)** अनेक क्रियाएँ-चेष्टाएँ करता हुआ (शरीरादिरूप) जगत, **(निःस्पन्देन समं)** निश्चेष्ट काष्ठ-पाषाणदि के समान **(अप्रज्ञं)** चेतनारहित जड़ और **(अक्रियाभोगं)** क्रिया तथा सुखादि अनुभवरूप भोग से रहित **(आभाति)** मालूम होने लगता है, **(सः)** वह पुरुष **(अक्रियाभोगं शमं याति)** जिसमें मन-वचन-काय की क्रिया से और इन्द्रिय विषय भोग से रहित है, **(इतरः न)** उससे विलक्षण दूसरा बहिरात्मा जीव, उस शान्ति-सुख को प्राप्त नहीं कर सकता है। परमवीतरागतामय उस शान्ति-सुख का अनुभव करता है।

जिस ज्ञानी को शरीरादि की अनेक क्रियाओं द्वारा सस्पन्द ऐसा यह जगत काष्ठादि

समान निस्पन्द एवं जड़ भासित होता है, वही परम वीतरागी सुख का अनुभव करता है; उसके अनुभव में इन्द्रियों के व्यापाररूप क्रिया नहीं है, और न इन्द्रिय-विषयों का उपभोग है। उपयोग जहाँ अन्तरोन्मुख होकर आत्मा के आनन्दानुभव में एकाग्र हुआ, वहाँ शरीरादि की ओर का लक्ष्य ही छूट जाता है; इसलिए उसे तो यह जगत निश्चेतन भासित होता है।—ऐसे ज्ञानी ही अन्तर्मुख उपयोग द्वारा आत्मिकसुख का अनुभव करते हैं; मन-वचन-काया की क्रिया को अपनी माननेवाला अज्ञानी बहिरात्मा जीव, चैतन्य के परमसुख का अनुभव नहीं कर सकता।

ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा अशरीरी है; उसे साधनेवाले जीव को जहाँ शुभ का भी रस नहीं है, वहाँ अशुभपरिणाम की तो बात ही क्या? जिसे आत्मा के स्वरूप की रुचि हुई, उसे संसार का तथा शरीर का राग दूर हुए बिना नहीं रहता; परभाव की किञ्चित् प्रीति उसे नहीं रहती। यहाँ तो कहते हैं कि चैतन्यस्वरूप में जिसकी दृष्टि निस्पन्द हुई है, स्थिर हुई है—ऐसे ज्ञानी को सस्पन्द ऐसा यह जगत भी निस्पन्द-समान भासित होता है; जगत की क्रियाओं के साथ का अपना सम्बन्ध छूट जाने के कारण उसे अपने अनुभव से भिन्न देखता है। मेरी चेतना का एक अंश भी पर में दिखायी नहीं देता; मेरा सर्वस्व मुझ में ही है;—इस प्रकार ज्ञानी अपने आत्मा को जगत से असंग अनुभव करता है।

भाई! तुझे अपने आत्मा का अनुभव करना हो तो तू जगत को अपने से अत्यन्त भिन्न अचेतन समान देख... अर्थात् तेरी चेतना का या तेरे सुख का एक अंश भी उसमें नहीं है—ऐसा जान। जगत में तो दूसरे अनन्त जीव हैं, सिद्धभगवान हैं, अरिहन्त हैं, मुनिवर हैं, धर्मात्मा हैं; अनन्त जीव एवं अजीव पदार्थ हैं और उन सबकी क्रिया उनमें होती रहती है, परन्तु यह आत्मा जहाँ अपने उपयोग को स्वानुभव की ओर झुकाता है, वहाँ सम्पूर्ण जगत शून्यवत् भासित होता है; जगत तो जगत में है ही, परन्तु इसका उपयोग उन परपदार्थों की ओर से हट जाने के कारण, उसमें अपने आत्मा का ही अस्तित्व है और जगत शून्य है। उपयोग को अन्तर्मुख करके इस प्रकार आत्मा का पर से शून्य अनुभव करे, वही आत्मा के परमसुख को भोगता है; अन्य जीव आत्मा के सुख का उपभोग नहीं कर सकते। आत्मा के अतीन्द्रियसुख के अभिलाषी जीव को जगत की क्रिया से पार अपने ज्ञानानन्दस्वरूप को जानना चाहिए। ●

देहबुद्धि से भवभ्रमण

बहिरात्मा जीव, शरीरादि से भिन्न आत्मा को नहीं जानता; इसलिए वह संसार में भटकता है—यह बात अब कहते हैं:—

शरीरकंचुकेनात्मा संवृतज्ञानविग्रहः।
नात्मानं बुध्यते तस्माद् भ्रमत्यतिचिरं भवे॥६८॥

देहरूपी वस्त्र से, आवृत ज्ञान-शरीर।
यह रहस्य जाने बिना, भोगे चिर भव-पीर॥६८॥

अन्वयार्थ :- (**शरीरकंचुकेन**) शरीररूपी काँचली से (**संवृत्तज्ञानविग्रहः आत्मा**) ढका हुआ है ज्ञानरूपी शरीर जिसका, ऐसा बहिरात्मा (**आत्मानं**) आत्मा के यथार्थ स्वरूप को (**न बुध्यते**) नहीं जानता है, (**तस्मात्**) इसीलिए (**अतिचिरं**) बहुत लम्बे काल तक (**भवे**) संसार में (**भ्रमति**) भ्रमण करता है।

आत्मा तो चैतन्यशरीरी अतीन्द्रिय है, उसमें अन्तर्मुख होकर उसे जो ध्येय नहीं बनाता, वह आत्मा को नहीं जानता परन्तु शरीरादि को या रागादि को ही आत्मा मानता है; उसका ज्ञानशरीर, कर्मरूपी केंचुली से ढँक गया है, अर्थात् आत्मा की ओर न होकर कर्मों की ओर ही उसका झुकाव है और इसलिए वह संसार में परिभ्रमण कर रहा है। जिस प्रकार केंचुली, वह सर्प नहीं है; उसी प्रकार इस चैतन्यस्वरूप आत्मा को कर्म की ओर के झुकाव से जो राग-द्वेष-मोहरूप केंचुली है, वह उसका वास्तविकस्वरूप नहीं है; उस केंचुली के कारण अज्ञानी को आत्मा के सच्चे स्वरूप की पहिचान नहीं होती, इसलिए रागादि को ही आत्मा मानकर वह स्वयं अपने चैतन्यस्वरूप को आवरण से ढँककर चार गतियों में परिभ्रमण करता है। उसे भगवान ने उपदेश दिया है कि हे जीव! तेरा चैतन्यतत्त्व, रागादि से रहित एवं शरीरादि से भिन्न है, उसमें तू अन्तर्मुख हो। अपनी ही भूल से तू संसार

में भटक रहा है... उस भूल को निकाल और चिदानन्दस्वरूप आत्मा को सँभाल तो तेरा भवभ्रमण मिट जाये और मोक्ष की प्राप्ति हो।

जिस प्रकार पानी में नमक मिल जाने से वह खारा लगता है, वहाँ वास्तव में पानी का स्वभाव खारा नहीं है; खारा तो नमक है; उसी प्रकार आत्मा में कर्म की ओर के झुकाव से राग-द्वेष-मोहरूप आकुलता का वेदन होता है; वह आकुलता वास्तव में आत्मा के चैतन्यस्वभाव का स्वाद नहीं है, वह तो कर्म की ओर के झुकाववाले विकारीभाव का स्वाद है। मैं तो चैतन्यस्वरूप हूँ, ज्ञान और आनन्द ही मेरा शरीर है-ऐसी अन्तरस्वरूप की सावधानी करने से चैतन्य के स्वाद का अनुभव होता है परन्तु अज्ञानी जीव, भ्रान्ति के कारण उसे नहीं जानता और कर्म की ओर झुकाववाले रागादिरूप स्वाद को ही वह आत्मा का स्वाद मानता है। राग, वह धर्म नहीं है-ऐसा कदाचित् धारणा से कहे, परन्तु अन्तर में वह राग के वेदन से पृथक् नहीं होता; सूक्ष्मरूप से राग की मिठास में ही वह अटक गया है, परन्तु राग से पार होकर ज्ञानभाव का अनुभव नहीं करता। जब तक राग से पार ज्ञानानन्दस्वरूप को न जाने, तब तक वह अज्ञानी बहिरात्मा, संसार में ही परिभ्रमण करता है ॥६८॥

बहिरात्मा यथार्थ आत्मस्वरूप को नहीं जानता, तो वह किसे आत्मा मानता है? वह अब कहते हैं। ●

लोकोत्तर मुनिदशा

इतनी पाठशालाओं में एक घण्टे तक तो पढ़ाना ही होगा, पाठशाला अथवा मन्दिर के लिए इतने रुपयों का चन्दा तो करना ही पड़ेगा, व्याख्यान भी देना होगा, पत्रों में लेख छपवाना पड़ेंगे - अरे! यह सब मुनिदशा का काम नहीं है। मुनि की दशा ही कोई लोकोत्तर होती है। मुनिदशा तो कार्य के भाररहित, मात्र निज ज्ञायकतत्त्व में ही लीन, अपने ज्ञान-आनन्दादि गुणों में ही रमणशील तथा निरावलम्बन स्वभाववाली होती है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, २/३५८

ज्ञानी तो जगत से भिन्न अपने आत्मस्वरूप को ऐसा जानता है कि जगत के पदार्थ तो उसे शून्य भासित होते हैं, मानो वे चेतना से शून्य हों, क्योंकि अपनी चेतना-शक्ति उनमें कहीं नहीं है; किन्तु अज्ञानी को ऐसा भिन्न आत्मा का भान नहीं है, वह तो भ्रान्ति से देहादिक को ही आत्मा मानता है। यथार्थ आत्मतत्त्व को नहीं जाननेवाला वह बहिरात्मा, आत्मा को कैसा मान रहा है, वह अब कहते हैं—

प्रविशद्गलतां व्यूहे देहेऽणूनां समाकृतौ।
स्थितिभ्रान्त्या प्रपद्यन्ते तमात्मानमबुद्धयः॥ ६९॥

अणु के योग-वियोग में, देह समानाकार।
एक क्षेत्र लख आतमा, माने देहाकार॥ ६९॥

अन्वयार्थ :- **(अबुद्धयः)** अज्ञानी बहिरात्मा जीव, **(प्रविशद्गलतां अणूनां व्यूहे देहे)** जो प्रवेश करते और बाहर निकलते हैं — ऐसे परमाणुओं के समूहरूप शरीर में **(समाकृतौ)** आत्मा, शरीर की आकृति के समानरूप में **(स्थितिभ्रांत्या)** (आत्मा) स्थित होने से, अर्थात् शरीर और आत्मा एक क्षेत्र में स्थित होने से — दोनों को एक रूप समझने की भ्रान्ति से, **(तम्)** उस शरीर को ही **(आत्मानं)** आत्मा **(प्रपद्यते)** समझ लेते हैं।

अज्ञानी अपनी नित्यता को भूलकर, भ्रान्ति से इस क्षणिक संयोगी शरीर को नित्य / स्थिर मान रहा है, और 'वही मैं हूँ'—ऐसा अपने को देहरूप से मान रहा है। शरीर में प्रति समय अनन्त परमाणु आते-जाते हैं; स्थूलरूप से कुछ काल तक शरीर ज्यों का त्यों दिखायी देता है, वहाँ अज्ञानी उसे स्थिर मान रहा है; और देह के साथ एकक्षेत्रस्थ रहने से उस देहरूप ही अपना अनुभव कर रहा है। देह के साथ एक आकाशक्षेत्र में रहना, वह कहीं देह के साथ एकत्वबुद्धि का कारण नहीं है; ज्ञानी को और केवली भगवान को भी संसारदशा में देह के साथ एकक्षेत्रावगाहत्व है, किन्तु वे भेदज्ञान के द्वारा अपने आत्मा का देह से अत्यन्त भिन्न अनुभव करते हैं। अज्ञानी को वास्तव में अपनी भिन्न सत्ता की प्रतीति नहीं है, इसलिए भ्रान्ति द्वारा वह शरीर को ही आत्मारूप से मानता है शरीर की क्रियाओं को अपनी ही क्रिया मानता है; उसे समझाते हैं कि भाई! तू तो

चैतन्यबिम्ब, अरूपी, वस्तु है; देह तो संयोगी, रूपी और जड़ है; उसके साथ एकक्षेत्र में रहने से कहीं तू उसरूप-जड़रूप नहीं हुआ; तेरा स्वरूप तो उससे भिन्न ही है। अनन्त देह बदल गये, फिर भी तू तो अकेला ही रहा है। कोई-कोई पूर्वभवों का ज्ञान रखनेवाले जीव देखने में आते हैं, वे ही देह से आत्मा की भिन्नता को प्रगट करते हैं। पूर्व के शरीर आदि संयोग एकदम बदल गये, वे शरीरादि आज तो नहीं हैं, तथापि 'उस देह में रहनेवाला मैं वर्तमान में यह रहा'—इस प्रकार देह से भिन्न अस्तित्व की प्रतीति हो सकती है। यदि शरीर ही आत्मा हो तो पूर्व के शरीर का नाश होते ही आत्मा का भी नाश हो जाना चाहिये था, किन्तु आत्मा तो यह रहा, इस प्रकार शरीर से भिन्नत्व प्रत्यक्ष अनुभवगोचर होता है।

अरे! कहाँ चैतन्यस्वरूप आनन्द से भरा हुआ आत्मा; और कहाँ यह जड़-पुद्गल का पुतला! उसमें एकत्वबुद्धि तुझे शोभा नहीं देती। जिस प्रकार मुर्दे के साथ जीवित मनुष्य की सगाई नहीं होती, उसी प्रकार मृतक ऐसे इस शरीर के साथ जीवन्त चैतन्यमूर्ति जीव की सगाई नहीं होती-एकत्व नहीं होता; दोनों की अत्यन्त भिन्नता है। यह देह तो स्थूल इन्द्रियगम्य, नाशवान वस्तु है; तू तो अति सूक्ष्म, अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप, इन्द्रियों से अगम्य, अविनाशी है। तू अतीन्द्रिय ज्ञान-आनन्द का धाम है-ऐसी अपनी अन्तरंग वस्तु में दृष्टि तो कर।

लकड़ी और यह शरीर—दोनों एक ही जाति के हैं, जैसे लकड़ी तू नहीं है; उसी प्रकार शरीर भी तू नहीं है। लकड़ी और आत्मा-भिन्न है; उसी प्रकार देह और आत्मा भी अत्यन्त भिन्न है। ऐसे भिन्नत्व की प्रतीति बिना, जीव को समाधि-समाधान या शान्ति नहीं हो सकती। समाधि का मूल भेदज्ञान है। स्व-पर का भेदज्ञान करके स्व में स्थिर होने से समाधि होती है; उस समाधि में आनन्द है, शान्ति है, वीतरागता है; अतः हे जीव! तू देह से भिन्न आत्मा को जानकर उसे ही भा। ●

देह से भिन्न ज्ञानभावना का उपदेश

देह से भिन्न आत्मा को तू अपने चित्त में सदा धारण कर; देह के विशेषणों को आत्मा में न लगा—ऐसा अब कहते हैं—

गौरः स्थूलः कृशो वाऽहमित्यङ्गेनाविशेषयन्।
आत्मानं धारयेन्नित्यं केवलज्ञप्तिविग्रहम् ॥७०॥

'मैं गोरा स्थूल नहीं' - ये सब तन के रूप।
आत्मा निश्चय नित्य है, केवल ज्ञानस्वरूप ॥७०॥

अन्वयार्थ :- (**अहं**) मैं (**गौरः**) गोरा हूँ (**स्थूलः**) मोटा हूँ (**वा कृशः**) अथवा दुबला हूँ (**इति**) इस प्रकार (**अंगेन**) शरीर के साथ (**आत्मानं**) अपने को (**अविशेषयन्**) एकरूप न करते हुए, (**नित्यं**) सदा ही (**आत्मानं**) अपने आत्मा को (**केवलज्ञप्तिविग्रहम्**) केवलज्ञानस्वरूप अथवा रूपादिरहित उपयोगशरीरी (**धारयेत्**) अपने चित्त में धारण करना-मानना।

भाई ! आत्मा तो केवलज्ञानशरीरी है; केवलज्ञान ही उसका शरीर है; यह जड़ शरीर, वह कुछ आत्मा का नहीं है। अतः मैं गोरा-काला, मोटा-दुबला-पतला हूँ अथवा मैं मनुष्य, मैं देव—ऐसे शरीर के विशेषणों को आत्मा न मान। काला, सफेद रंग या मोटा-पतला, यह विशेषण तो जड़ शरीर में हैं; इन विशेषणों के द्वारा जड़ लक्षित होता है, इन विशेषणों से कहीं आत्मा लक्षित नहीं होता; अतः धर्मी जीव उन विशेषणों से अपने आत्मा को विशेषित नहीं करता, उनसे सदा भिन्न ही नित्य केवलज्ञान ही जिसका शरीर है—ऐसे अपने आत्मा को सदा धारण करता है, चिन्तन करता है। शरीरभेद से वह आत्मा के ज्ञानस्वरूप को नहीं भेदता।

अहा ! असंख्य प्रदेशी अवयववाला केवलज्ञान ही जिसका शरीर है, मात्र ज्ञान ही

जिसका स्वरूप है–ऐसे आत्मा में काला–गोरा रंग कैसा? या मोटा–पतला शरीर कैसा? उसे एक क्षण भी तू अपने में चिन्तन न कर; नित्य ज्ञानानन्द से भरपूर भगवान तू है—ऐसे स्वरूप से तू अपने को धारण कर, अर्थात् श्रद्धा में–ज्ञान में–अनुभव में ले।

जो ज्ञान है, वह मैं हूँ;
जो आनन्द है, वह मैं हूँ;
परन्तु जो शरीर है वह मैं नहीं।

'केवल ज्ञप्तिस्वरूप मैं हूँ'—ऐसे अनुभव में विकार भी कहाँ आया? केवल ज्ञप्ति, अर्थात् अकेला वीतरागी ज्ञान; ऐसे शुद्ध आत्मस्वरूप में जहाँ विकार का भी अवकाश नहीं है, वहाँ शरीर कैसा?—ऐसे अशरीरी आत्मा का चिन्तन, अतीन्द्रियज्ञान द्वारा होता है। ज्ञान के उपयोग को अन्तरोन्मुख करके धर्मी जीव अपने को ऐसा (केवलज्ञानस्वरूप) अनुभव करता है। 'सर्व जीव हैं सिद्ध सम' और 'सिद्ध समान सदा पद मेरा'—ऐसी प्रतीति में शरीर के साथ एकत्वबुद्धि नहीं रह सकती; इसलिए शरीरसम्बन्धी विषयों में सुखबुद्धि भी रहती ही नहीं। ऐसे भेदज्ञान द्वारा आत्मा को पहिचानना, वह मोक्ष का कारण है—यह बात अगली गाथा में कहेंगे। ●

हम भी उस ही पन्थ के पथिक

अहो! धन्य यह मुनिदशा!! मुनिराज फरमाते हैं कि हम तो चिदानन्दस्वभाव में झूलनेवाले हैं; हम इस संसार के भोग हेतु अवतरित नहीं हुए हैं। अब हम अपने आत्मस्वभाव में प्रवृत्त होते हैं। अब हमारे स्वरुप में विशेष लीन होने का अवसर आया है। अन्तर आनन्दकन्दस्वभाव की श्रद्धासहित उसमें रमणता हेतु जागृत हुए हमारे भाव में अब भङ्ग नहीं पड़ना है। अनन्त तीर्थङ्करों ने जिस पन्थ में विचरण किया, हम भी उस ही पन्थ के पथिक हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, जिणसासणं सव्वं, ७५, पृष्ठ ४

मोक्ष का एकान्त नियमः
चित्त की चेतना में अचलता

भेदविज्ञान द्वारा आत्मा को समस्त परद्रव्यों से भिन्न जानकर, उसमें जो एकाग्रता करता है, उसी को नियम से मुक्ति होती है और जो उसमें एकाग्रता नहीं करता, उसे मुक्ति नहीं होती—ऐसा अब कहते हैं:—

मुक्तिरेकान्तिकी तस्य चित्ते यस्याचला धृतिः।
तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृतिः॥७१॥

चित में निश्चल धारणा, उसे मुक्ति का योग।
जिसे न निश्चल धारणा, शाश्वत मुक्ति-वियोग॥७१॥

अन्वयार्थ :- (**यस्य**) जिस पुरुष के (**चित्ते**) चित्त में (**अचला**) आत्मस्वरूप की निश्चल (**धृतिः**) धारणा है, (**तस्य**) उसकी (**एकान्तिकी मुक्तिः**) एकान्त से, अर्थात् नियम से मुक्ति होती है। (**यस्य**) जिस पुरुष की (**अचलाधृतिः नास्ति**) आत्मस्वरूप में निश्चल धारणा नहीं है, (**तस्य**) उसकी (**एकान्तिकी मुक्तिः न**) अवश्यम्भाविनी मुक्ति नहीं होती है।

चैतन्यस्वरूप में जो अचलरूप से एकाग्रता करता है, उसी को नियम से-एकान्त मुक्ति होती है, और इसके अतिरिक्त जो व्यवहार में एकाग्रता करता है, उसे मुक्ति नहीं होती—ऐसा अनेकान्त है। इस प्रकार शुद्धोपयोग से ही मुक्ति होती है; शुभराग से किसी को कभी मुक्ति नहीं होती—यह अबाधित नियम है।

देखो, यह मुक्ति का नियम! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा अवश्य मुक्ति होती है; इसके अतिरिक्त पंच महाव्रतादि का शुभराग, वह कहीं मुक्ति का कारण नहीं है। जहाँ शुद्धरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग हो, वहाँ दिगम्बरत्व आदि भी अवश्य होते हैं और वहाँ मुक्ति भी अवश्य होती है परन्तु जहाँ शुद्धरत्नत्रय नहीं है, वहाँ मुक्ति होती ही नहीं। इस प्रकार

चैतन्यस्वरूप में एकाग्रतारूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह नियम से-एकान्तरूप से-मोक्ष का कारण है।

प्रथम तो, जिसने शरीरादि से भिन्न चैतन्यस्वरूप का ज्ञान किया हो—उसका दृढ़ निर्णय किया हो, उसी को उसमें एकाग्रता हो सकती है। चैतन्यराजा को जानकर उसकी सेवा (श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता) करने से अवश्य मोक्षसुख की प्राप्ति होती है। यहाँ तो 'एकान्ति की मुक्ति' कहकर मोक्ष का नियम बतलाया कि चैतन्यस्वरूप की अचल धारणा जिसके चित्त में है, वही जीव एकान्त मुक्ति प्राप्त करता है परन्तु 'व्यवहार में-राग में एकाग्रतावाला जीव भी मुक्ति प्राप्त करता है'—ऐसा अनेकान्त नहीं है। जिसका चित्त संशययुक्त है, कदाचित् रागादि से भी मुक्ति होगी—ऐसा जो मानता है और जिसने राग से पार चैतन्यतत्त्व को अचलरूप से श्रद्धा-ज्ञान में धारण नहीं किया है, वह कदापि मुक्ति प्राप्त नहीं करता।

नियमसार (कलश-१९४) में पद्मप्रभ मुनिराज कहते हैं कि—योगपरायण होने पर भी जिस जीव को कदाचित् भेद-विकल्प उत्पन्न होते हैं, उसकी अरहन्तदेव के मत में मुक्ति होगी या नहीं, वह कौन जाने? अर्थात् योगपरायण ऐसे मुनियों को भी जब तक विकल्प हैं, तब तक मुक्ति नहीं है; निर्विकल्प होकर स्वरूप में स्थित होंगे, तभी मुक्ति होगी। देखो, यह अरहन्तदेव का कहा हुआ मोक्षमार्ग! विकल्प को अरहन्तदेव ने मोक्ष का साधन नहीं कहा है।

अहो! मुक्ति का धाम तो यह चैतन्यतत्त्व है, उसमें एकाग्र होने पर ही मेरी मुक्ति होना है—ऐसा निर्णय करे तो अल्प काल में मुक्ति हो जाए, परन्तु जहाँ निर्णय ही विपरीत हो—राग को धर्म का साधन मानता हो—वह राग में एकाग्रता से क्यों हटेगा? और स्वभाव में एकाग्रता कहाँ से करेगा? राग में एकाग्रता से तो राग की और संसार की उत्पत्ति होती है, परन्तु मुक्ति नहीं होती; मुक्ति तो चैतन्य में एकाग्रता से ही होती है।

यहाँ तो सम्यग्दर्शन के उपरान्त चैतन्य में लीनता की बात है। सम्यग्दर्शन के पश्चात् भी जब तक राग-द्वेष से चित्त अस्थिर / डाँवाडोल रहता है, तब तक मुक्ति नहीं होती; राग-द्वेष रहित होकर अन्तरस्वरूप में लीन होकर स्थिर रहे, तभी मुक्ति होती है। भूमिकानुसार भक्ति आदि का भाव धर्मी को आता है परन्तु वह मोक्ष का कारण नहीं है। चैतन्यस्वभाव में लीनता ही मुक्ति का कारण असम्भव है।●

लोकसंसर्ग से चित्त चंचल होता है, इसलिए लोकसंग छोड़कर आत्मा के एकत्व में आओ

लोकसंसर्ग द्वारा चित्त की चंचलता बनी रहती है और चैतन्य में स्थिरता नहीं होती; इसलिए लोकसंसर्ग छोड़कर ही अन्तर में आत्मस्वरूप के संवेदन में एकाग्रता होती है। जो लोकसंसर्ग नहीं छोड़ता, उसे चैतन्यस्वरूप में एकाग्रता नहीं होती; इसलिए योगीजन / साधक सन्त, चैतन्य में एकाग्रता के हेतु लोकसंसर्ग छोड़ते हैं—यह बात ७२ वीं गाथा में कहते हैं:—

जनेभ्यो वाक्, ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत्॥७२॥

लोक-संग से वच-प्रवृति, वच से चञ्चल चित्त।
फिर विकल्प, फिर क्षुब्ध मन, मुनिजन होंय निवृत्त॥७२॥

अन्वयार्थ :- (**जनेभ्यो**) लोगों के संसर्ग से (**वाक्**) वचन की प्रवृत्ति होती है; (**ततः**) उससे, अर्थात् वचनप्रवृत्ति से (**मनसःस्पन्द**) मन की व्यग्रता होती है —उससे चित्त चलायमान होता है (**तस्मात्**) चित्त की चंचलता से (**चित्तविभ्रमाः भवन्ति**) चित्त में नाना प्रकार के विकल्प उठने लगते हैं-मन क्षुभित हो जाता है (**ततः**) इसलिए (**योगी**) योग में संलग्न होनेवाले अन्तरात्मा को (**जनैः संसर्ग त्यजेत्**) लौकिकजनों के संसर्ग का परित्याग करना चाहिए।

लोगों के संसर्ग द्वारा वचन की प्रवृत्ति होती है; वचनप्रवृत्ति से मन व्यग्र होता है, चित्त चलायमान-अस्थिर होता है और चित्त की चंचलता होने से अनेक प्रकार के विकल्पों द्वारा मन क्षुब्ध होता है; इसलिए चैतन्यस्वरूप में संलग्न ऐसे योगियों को

लौकिकजनों का संसर्ग छोड़ना चाहिए। लौकिकजनों के संसर्ग द्वारा चित्त की निश्चलता नहीं हो सकती।

यहाँ मुख्यरूप से मुनि को उद्देशकर कथन है परन्तु सबको अपनी भूमिका के अनुसार समझना चाहिए। जिसे एकान्त में बैठकर आत्मा के विचार करने का भी अवकाश न हो और दिन-रात बाह्य प्रवृत्ति में लगा रहे तो वह आत्मा का अनुभव किस प्रकार करेगा? सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये भी दो घड़ी जगत से दूर होकर, अन्तर में अकेले चिदानन्द-तत्त्व को लक्षगत करके स्वानुभव का प्रयत्न करे, तब सम्यग्दर्शन होता है। जिसे लोक का संग एवं बड़प्पन की रुचि हो, उसके परिणाम, असंग चैतन्य की साधना में कैसे लगेंगे? भाई! लोकसंज्ञा से आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती और सम्यग्दर्शन के पश्चात् मुनि को भी जितना लोकसंसर्ग हो, उतनी मन की अस्थिरता होती है और केवलज्ञान को रोकती है। स्वभावोन्मुख होने एवं स्वभाव में लीनता करने के लिये कहते हैं कि—लोगों के परिचय से मन की व्यग्रता होगी, इसलिए लोकसंग छोड़कर अपने स्वरूप में ही तू तत्पर हो। तेरा चैतन्य-लोक तो तुझमें है, उसका अवलोकन कर।

अहो, यह गहरी-गहरी चैतन्यनिधि! उसे प्राप्त करके धर्मात्मा अकेला-अकेला अन्तर में गुप्तरूप से उसका उपभोग करता है... धर्मात्मा के अन्तर का अनुभव बाहर से दिखायी नहीं देता। अरे, जगत के लोगों को दिखाने का क्या काम है? धर्मात्मा के अन्तर का अलौकिक अनुभव अन्तर में ही समाया है। नियमसार में कहते हैं कि-जिस प्रकार कोई मनुष्य, निधि प्राप्त करके अपने वतन में रहकर उसके फल को भोगता है; उसी प्रकार ज्ञानी परजनों के समूह को छोड़कर ज्ञाननिधि का उपभोग करते हैं। लोगों में किसी को गुप्त निधि की प्राप्ति हो जाये तो अत्यन्त गुप्त रहकर उसका उपभोग करता है, ताकि कोई ले न जाये; उसी प्रकार गुरुप्रसाद से अपनी सरल ज्ञाननिधि को पाकर ज्ञानी, स्वरूप के अनजान ऐसे परजनों के समूह को ध्यान में विघ्न का कारण समझकर छोड़ते हैं। इस प्रकार वे ज्ञान की रक्षा करते हैं और निजगृह में गुप्तरूप से रहकर ध्यानगुफा में बैठे-बैठे स्वयं अकेले अपने आनन्द-निधान का उपभोग करते हैं।

समयसार की ४९ वीं गाथा की टीका में श्री जयसेनाचार्य कहते हैं कि—'अनन्तज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यस्वरूप जो शुद्धात्मा... वह दुर्लभ है, वह अपूर्व है और वही

उपादेय है–ऐसा समझकर शुद्धात्मा की निर्विकल्प समाधि में उत्पन्न होनेवाले सुखामृतरस की अनुभूतिस्वरूप गहरी गिरिगुफा में बैठकर उसका ध्यान करना।'

[अनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यश्च यः स एव शुद्धात्मा... दुर्लभः स एवापूर्वः सचैवोपादेय इति मत्वा, निर्विकल्प... शुद्धात्मसमाधिसंजात सुखामृतरसानुभूति-लक्षणे गिरिगुहागह्वरे स्थित्वा सर्वतात्पर्येण ध्यातव्य।]

बाह्य से जंगल में जाकर बैठे और अन्तर में अभी चैतन्य की अनुभूति क्या है, उसे जाने भी नहीं तो बाहर की गिरिगुफा से कहीं शान्ति मिल जाये—ऐसा नहीं है। इसलिए कहते हैं कि भाई! तेरे अन्तर में शुद्धात्मा की अनुभूतिस्वरूप जो गहरी गिरिगुफा, उसमें जाकर शुद्धात्मा का ध्यान कर।

चैतन्य की गिरिगुफा ही शरणरूप है। लोक में भी सिंह आदि के भय से बचने के लिये गुफा की शरण लेते हैं। देखो! सती अंजना पर कलंक आया और जंगल में जाना पड़ा। जंगल में चलते-चलते थक जाती है, तब उसकी सखी बसन्तमाला कहती है कि हे देवी! यहाँ वन में हिंसक पशुओं का भय है, इसलिए चलो, गुफा में ठहर जायें! ऐसा विचार करके 'पास' की एक गुफा में प्रवेश करती हैं तो ध्यान में लीन एक मुनिराज के दर्शन होते हैं। मुनि को देखते ही अंजना के आनन्द का पार नहीं रहता। अहो! ऐसे घोर वन में महामुनि के दर्शन हुए... मानों पिता से भेंट हो गई... और जगत के दुःख भूल गये। उसी प्रकार संसार के दुःख से थके हुए जीव को बाह्यवृत्ति में तो राग-द्वेष और कषायों की आकुलता है, भय है। ज्ञानी कहते हैं कि हे भव्य! तू अन्तर्मुख हो... और अपनी चैतन्यगुफा में शरण ले; वह चैतन्यगुफा दूर नहीं परन्तु निकट ही है। जहाँ ध्यान द्वारा अन्तर की चैतन्यगुफा में प्रवेश किया, वहाँ महा आनन्दरूप चैतन्यभगवान के दर्शन हुए....

इस शरीर से भिन्न मैं कौन हूँ? अनादि काल से इस भव-अटवी में परिभ्रमण क्यों हो रहा है? आत्मा को शान्ति क्यों नहीं मिलती?—ऐसी जिसे जिज्ञासा जागृत हुई हो, उस जीव को आचार्यदेव, शान्ति का उपाय बतलाते हैं। आत्मा, शरीर से भिन्न होने पर भी शरीर को ही अपना मानता है, वह भ्रान्ति है और उस भ्रान्ति के कारण ही अनादि काल से अशरणरूप से भव-अटवी में परिभ्रमण कर रहा है। लक्ष्मी के ढेर या स्त्री आदि

कुटुम्बीजन, वे कोई जीव को क्षणमात्र भी शरणभूत नहीं हैं, परन्तु मूढ़ जीव उन्हें शरणरूप मानकर उनमें सुख मानता है।

देखो, मृत्यु की अन्तिम घड़ी आ गयी है, भीतर घबराहट से दु:खी हो रहा हो, बाहर लक्ष्मी के ढेर पड़े हों और स्त्री-पुत्रादि टुकुर-टुकुर देखते खड़े हों; वहाँ ऐसी प्रार्थना करे कि हे लक्ष्मी के ढेरो! हे स्त्री-पुत्रो! तुम मुझे शरण दो... तो क्या वे कोई जीव को शरणभूत होंगे? क्या वे दु:ख मिटा देंगे?—नहीं; क्योंकि जब यह शरीर भी जीव को शरणभूत नहीं है, तो फिर प्रत्यक्ष भिन्न ऐसे स्त्री-पुत्र-मकान-सम्पत्ति आदि संयोग कैसे शरणभूत होंगे? भाई! तुझे शरणरूप तो अपना आत्मा है। अशरीरी-अरूपी चैतन्यमूर्ति आत्मा ही तेरा स्व है, वही तेरी सच्ची लक्ष्मी है; इसके अतिरिक्त जगत में अन्य कोई तुझे शरणरूप नहीं है। अज्ञानी, भ्रम से मन्दकषाय को शान्ति मान लेता है, परन्तु उसमें कोई सच्ची शान्ति या आनन्द नहीं है। मैं जितना अपने स्वरूप में अन्तर्मुख रहूँ, उतनी मुझे शान्ति है और बाह्य में वृत्ति जाये, उतनी आकुलता है। ऐसा निर्णय तो ज्ञानी ने किया है, और तदुपरान्त वे बाह्य संसर्ग छोड़कर चैतन्यस्वरूप में विशेषरूप से एकाग्र होने की भावना भाते हैं। लोकसंसर्ग से मन चंचल होता है, इसलिए चैतन्य में स्थिर होने के लिये लौकिकसंसर्ग का परित्याग करना चाहिए—ऐसा उपदेश है। चैतन्यस्वरूप की ओर उन्मुख होने से बाह्य संसर्ग की ओर झुकाव ही नहीं होता; इसलिए कहते हैं कि हे योगी! आत्मा के आनन्द में एकाग्र होने के लिये तू बाह्य संसर्ग को छोड़ और चैतन्यस्वभाव में ही निवास कर।

जो असंग होकर, विकल्प का भी जिस में संसर्ग नहीं है—ऐसे अन्तरस्वरूप को साधना चाहता है, उसे बाह्य संग बिल्कुल अच्छा नहीं लगता। लौकिक प्रसंगों के ही परिचय में लगा रहे, उसका परिणाम असंगस्वभाव की ओर कैसे जायेगा? कहीं परवस्तु किसी के परिणामों को नहीं बिगाड़ती परन्तु परसंग का प्रेम अन्तर की एकाग्रता को रोकता है; इसलिए ऐसा उपदेश है कि मुमुक्षु को लौकिकजनों के परिचय में बहुत नहीं आना चाहिए। श्रीमद् राजचन्द्रजी भी कहते हैं कि लोकसंज्ञा द्वारा लोकाग्र में नहीं पहुँचा जाता; अर्थात् लोक-परिचय के परिणाम बने रहें और आत्मा का मोक्ष भी सधे—ऐसा नहीं होता। भले ही निमित्त, परिणाम को नहीं बिगाड़ता, परन्तु तेरी वृत्ति शुद्ध आत्मा से हटकर निमित्त

के संग की ओर क्यों गयी ? उपदेश में तो निमित्त से कथन आता है कि तू परसंग छोड़; जहाँ कोलाहल मचा हो और विषय-कषाय की बातें होती हों—ऐसे प्रसंग का संग तू छोड़, अर्थात् चैतन्य में अपना चित्त लगा; बाह्य संग से लक्ष्य हटाकर एकान्त में अन्दर उतरकर आत्मा का ध्यान कर। मुमुक्षु को एकान्त में रहकर आत्मा की साधना करनी चाहिए। आत्मा की साधना का समावेश अन्तर में होता है; वह कोई दूसरों को दिखलाने की चीज़ नहीं है। अन्तर के सूक्ष्म संकल्प-विकल्प भी स्वरूप की स्थिरता में बाधक हैं तो फिर बाह्य संग की ओर लक्ष्य जाये, वह तो बाधक है ही। इस कारण बाह्य लक्ष्यवाले को मिथ्यात्व है ऐसा नहीं है परन्तु बाह्य का लक्ष्य अन्तर में स्थिरता नहीं होने देता.... और अन्तिम ध्येयरूप जो मोक्ष, उसे वह रोकता है। इसलिए हे भव्य! आत्मा को साधने के लिये तू बाह्य लक्ष्य छोड़कर असंगरूप से अन्तर की गुफा में जा... और उसका ध्यान कर। ●

मुनिदशा अर्थात् प्रगट परमेश्वर पद

प्रश्न - यह तो मुनि की बात है, इससे हमें क्या?

उत्तर - भाई! मुनिदशा कैसी होती है, उसका ज्ञान तो करना पड़ेगा न? पञ्च परमेष्ठी में अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठी देव हैं और आचार्य, उपाध्याय तथा साधु परमेष्ठी – यह तीन गुरु हैं। गुरु का यथार्थ स्वरूप कैसा है, वह जाने बिना अन्तर साधना का स्वरूप कैसे समझ में आयेगा? इसलिए साधकदशा - मुनिपना और श्रावकपना क्या वस्तु है, वह समझना पड़ेगा। भावलिङ्गी सच्चे सन्त को अन्तर में बहुत निर्मलता बढ़ गई है, उन्हें तो उपदेश देते-देते भी उपयोग अन्तर स्वरूप में चला जाता है।

जिस प्रकार ज्ञायकस्वभाव में शक्तिरूप परमेश्वरता है; उसी प्रकार व्यक्तिरूप परमेश्वरपद मुनिराज को प्रगट हुआ है, क्योंकि वे परमेष्ठी हैं न? उन्हें भूमिकानुसार महाव्रतादि के विकल्प आते हैं, परन्तु उपयोग तत्काल अन्तर आनन्द के नाथ में शीघ्रता से चला जाता है। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, २/२२२*

लोकसंसर्ग से भिन्न निजात्मा ही ज्ञानी का निवासधाम

बाह्य संसर्ग से चित्त क्षुब्ध होता है; इसलिए बाह्य लौकिकजनों का संसर्ग छोड़ने योग्य है—ऐसा कहा। वहाँ कोई बहिरात्मा ऐसा समझे कि—'यह सब छोड़कर जंगल में अकेला जाकर रहना चाहिए, एकान्त वन में जाने से आत्मा में एकाग्रता होगी; गाँव में मुझे धर्म नहीं होगा और जंगल में होगा'—इस प्रकार बाह्य संयोग-वियोग पर जिसकी दृष्टि है, वह अनात्मदर्शी है, वह आत्मा को नहीं देखता परन्तु संयोग को ही देखता है। आत्मा को देखनेवाला ज्ञानी तो पर से भिन्न निजात्मा में निश्चलरूप से रहता है-यह बात अगले श्लोक में कहते हैं—

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम्।
दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः॥७३॥

जन अनात्मदर्शी करें, ग्राम-अरण्य निवास।
आत्मदृष्टि करते सदा, निज में निज का वास॥७३॥

अन्वयार्थ :- (**अनात्मदर्शिनां**) जिन्हें आत्मा का अनुभव नहीं हुआ — ऐसे लोगों के लिए (**ग्रामः अरण्यम्**) यह गाँव है, यह जंगल है (**इति द्वेधा निवासः**) इस प्रकार दो तरह के निवास हैं (**तु**) किन्तु (**दृष्टात्मनां**) जिन्हें आत्मस्वरूप का अनुभव हो गया है — ऐसे ज्ञानी पुरुषों के लिए (**विविक्तः**) रागादि रहित विशुद्ध एवं (**निश्चलः**) चित्त की व्याकुलतारहित स्वरूप में स्थिर (**आत्मा एव**) आत्मा ही (**निवासः**) रहने का स्थान है।

जो अनात्मदर्शी है, आत्मा का दर्शन और अनुभवन जिसे नहीं है, वही 'यह ग्राम और यह जंगल'—ऐसे दो प्रकार के निवासस्थान की कल्पना करता है, इसलिए वह बाह्य

में अपना निवास मानता है परन्तु जिसने आत्मस्वरूप का अनुभव किया है—ऐसा आत्मदर्शी अन्तरात्मा तो पर से भिन्न रागादि रहित शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा को ही अपना निश्चल निवासस्थान मानता है और बाह्य संसर्ग छोड़कर वह अन्तरस्वरूप में वास करता है... उसमें एकाग्र होकर रहता है। अज्ञानी की बाह्यदृष्टि है, इसलिए जहाँ लोक-संसर्ग छोड़ने का कथन आये, वहाँ उसकी दृष्टि, वन की ओर जाती है, मानों वन में उसकी शान्ति हो! भाई! वन में भी तेरी शान्ति नहीं है; शान्ति तो आत्मा में है, इसलिए आत्मा की गहराई में उतर तो तुझे शान्ति हो। जंगल की गुफा में तो सिंह-बाघ और सर्प भी रहते हैं, इसलिए तू अन्तर की—चैतन्य की गिरिगुफा में जाकर ध्यान कर तो तुझे आनन्द का अनुभव होगा। अहो! मुनिवर चैतन्यगुफा में उतरकर ध्यान करते हों, तब ऐसे आनन्द में लीन होते हैं मानों साक्षात् सिद्ध भगवान!... परन्तु अज्ञानी की दृष्टि ऐसे अन्तरस्वरूप को भूलकर बाह्य में—जंगल में जाती है। लोकसंसर्ग छोड़ने की बात आये, वहाँ ज्ञानी की वृत्ति अन्तरस्वरूप में जाती है कि-मैं जगत से भिन्न हूँ और जगत भी मुझ से भिन्न है... मेरे स्वरूप में जगत का प्रवेश नहीं है और जगत में मेरा निवास नहीं है, मेरा चिदानन्दस्वरूप ही मेरा निवासस्थान है; इसके अतिरिक्त बाह्य जंगल या महल, वह कोई मेरा निवासस्थान नहीं है। अज्ञानी ने जंगल में शान्ति मानकर जंगल से प्रेम किया परन्तु आत्मा की ओर दृष्टि नहीं की, इसलिए जंगल में भी उसे शान्ति नहीं मिलेगी।

अहो! ऐसा दुर्लभ मनुष्य-भव प्राप्त हुआ... उसमें जिन्हें लौकिक सज्जनता, मन्द कषाय आदि भी न हो—ऐसे जीव तो मनुष्य-भव को व्यर्थ गँवा देंगे... और मात्र लौकिक मन्द कषाय में ही धर्म मानकर रुक जायेंगे तथा चैतन्यतत्त्व क्या है?—उसे समझने की दरकार नहीं करेंगे... तो उनका जन्म भी निष्फल जायेगा, उन्हें आत्मा की शान्ति नहीं होगी। इसलिए आचार्य भगवान कहते है कि अरे, जीवों! ऐसा दुर्लभ मनुष्य-भव प्राप्त हुआ है तो आत्मा के हित का प्रयत्न करो। यह शरीर और लक्ष्मी के संयोग तो आत्मा से भिन्न ही हैं, वे सब यहीं पड़े रहेंगे और आत्मा अन्यत्र चला जायेगा, इसलिए उन शरीरादि से भिन्न चैतन्यतत्त्व क्या है—उसे लक्ष्य में लो और उसमें निवास करो। यह शरीर तो क्षणभंगुर है, वह आत्मा का निवासस्थान नहीं है। ज्ञान-आनन्दरूप स्वभाव ही आत्मा का

निवासस्थान है। अरे, राग भी आत्मा का सच्चा निवास-धाम नहीं है; अनन्तगुणरूप वस्तु ही आत्मा का सच्चा निवास-धाम है।

जो जीव, आत्मा के अनुभव से शून्य हैं, जो स्व में स्थित नहीं हैं, वे ही बाह्य में गाँव या जंगल में अपना स्थान मानते हैं। 'लोकसंसर्ग से राग-द्वेष होते हैं, इसलिए एकान्त जंगल में रहूँ तो शान्ति हो'—ऐसी मान्यतावाले भी बहिरात्मा हैं। जिस प्रकार लोग बाह्य हैं, उसी प्रकार जंगल भी बाह्य है। लोकसंसर्ग का प्रेम छोड़कर जंगल का प्रेम किया तो वह भी बाह्यदृष्टि ही है। ज्ञानी तो लोकसंसर्ग छोड़कर अन्तर के चैतन्यतत्त्व में निवास करते हैं। मुनि आनन्द में झूलते और आत्मा में निवास करते हुए बाह्य जंगल में रहते हैं, परन्तु इस जंगल के कारण मुझे शान्ति है—ऐसी बुद्धि नहीं है। वे मानते हैं कि यह जंगल तो पर है, हमारा निवास तो अपने शुद्धस्वरूप में ही है.... अन्तरस्वरूप में एकाग्र हुए, वहाँ मानों सिद्ध भगवान के साथ बैठे। समस्त पदार्थों से विभक्त ऐसा जो अपना आत्मा, उसी में मुनि बसते हैं। जंगल में से आहारादि के लिये गाँव में आयें और लोगों के झुण्ड दिखायी दें, वहाँ मुनि को कहीं सन्देह नहीं होता कि मैं स्वरूप से च्युत होकर लोकसंसर्ग में आ गया। चारों ओर भक्तों के झुण्ड हों, तथापि मुनि जानते हैं कि मेरा आत्मा, लोकसंसर्ग से पर है, अपने चैतन्यस्वरूप में ही मेरा निवास है। बाह्य में भक्तों के समूह में बैठा हो, इसलिए उसकी बाह्यदृष्टि है—ऐसा नहीं है तथा बाह्य में लोगों का संग छोड़कर जंगल की गुफा में जाकर रहता हो, इसलिए उसकी बाह्यदृष्टि छूट गयी है—ऐसा भी नहीं है। ज्ञानी जानते हैं कि मेरा आत्मा सर्व लोक से भिन्न ही है; ज्ञानानन्दरूप मेरा आत्मा ही मेरा निवास-धाम है; ऐसी अन्तर्दृष्टिपूर्वक, ज्ञानी उसी में एकाग्र होते हैं और चैतन्य के आनन्द में एकाग्र होने से बाह्य संसर्ग के प्रति राग-द्वेष नहीं होता, इसलिए उन्होंने बाह्य संसर्ग छोड़ दिया—ऐसा कहा जाता है।●

हे जीव! तुझे देहातीत होना हो तो... देह से भिन्न आत्मा को भा

आत्मा को न देखनेवाला बहिरात्मदर्शी / बहिरात्मा क्या फल प्राप्त करता है और अन्तर में आत्मा को देखनेवाला अन्तरात्मा क्या फल प्राप्त करता है ?—वह बतलाते हैं—

देहान्तरगतेबीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना॥७४॥

आत्मबुद्धि ही देह में, देहान्तर का मूल।
आत्मबुद्धि जब आत्म में, हो तन ही निर्मूल॥७४॥

अन्वयार्थ :- (**अस्मिन् देहे**) इस शरीर में (**आत्मभावना**) आत्मा की जो भावना है-शरीर को ही आत्मा मानना है-वही (**देहान्तरगतेः**) अन्य शरीर ग्रहणरूप भवान्तरप्राप्ति का (**बीजं**) बीज, अर्थात् कारण है और (**आत्मनि एव**) अपनी आत्मा में ही (**आत्मभावना**) आत्मा की जो भावना है-आत्मा को ही आत्मा मानना है, वह (**विदेहनिष्पत्तेः**) शरीर के सर्वथा त्यागरूप मुक्ति का (**बीजं**) बीज / कारण है।

यह शरीर, वह मैं हूँ—ऐसी देह में ही आत्मभावना, वह नये-नये शरीर धारण करने का बीज है; और शरीर से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा में ही आत्मभावना, वह देहरहित ऐसे विदेही सिद्धपद का कारण है।

एक ओर देहभावना तथा दूसरी ओर आत्मभावना—ऐसे दो ही भाग लिये हैं। रागादिभावों से जो आत्मा को लाभ मानता है, उसे भी वास्तव में देह में ही आत्मभावना है; जिसने राग से लाभ माना, उसे राग के फल में जो-जो संयोग मिलेंगे, उनमें भी वह आत्मबुद्धि करेगा और उससे नवीन-नवीन देह धारण करके संसार में परिभ्रमण करेगा,

परन्तु अरे! मैं तो राग से और देह से पार चैतन्यतत्त्व हूँ—ऐसी आत्मभावना करना, वह मोक्ष का कारण है। ऐसी आत्मभावनावाला जीव स्वयं शरीरादि जड़ प्राणों का अनुसरण नहीं करता; इसलिए वे प्राण भी उसका अनुसरण नहीं करते; इसलिए उस जीव को प्राणधारण (-भवभ्रमण) नहीं होता। जो जीव, शरीरादि जड़ प्राणों का ममत्व करता है, उसे ही वे प्राण लगते हैं, अर्थात् भवभ्रमण होता है।

देखो! आजकल तो बिना राजा के राज्य जैसा हो गया है; जैनधर्म के नाम से लोग जिसे जो अच्छा लगे, वैसा मनवा रहे हैं। अरे! इस पंचम काल में वर्तमान में तीर्थंकर-केवली-आचार्य-उपाध्याय एवं साधु—इन पाँच का विरह पड़ा है और अनेक जीव स्वच्छन्द का पोषण करनेवाले विराधक पैदा हुए हैं... शास्त्रों का भी विपरीत अर्थ करके अपनी विपरीतदृष्टि का पोषण करते हैं और राग से तथा देहादि की क्रिया से धर्म होता है -ऐसा मानते हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि—ऐसे जीव, देह को ही आत्मा माननेवाले हैं और उसके फल में पुनः-पुनः देह धारण करके वे भवभ्रमण करेंगे। चैतन्यस्वरूप आत्मा को जानकर, उसी में जो आत्मभावना करते हैं, वे विदेहपद को प्राप्त करते हैं, अर्थात् अशरीरी सिद्धदशा को प्राप्त होते हैं। शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-लीनता, वह आत्मभावना है और ऐसी आत्मभावना ही मोक्ष का कारण है। इसके सिवा व्यवहाररत्नत्रय के राग से लाभ मानकर उसकी जो भावना करता है, उसे देह की ही भावना है। यों तो भले ही उसे देह धारण करने की भावना न हो, परन्तु देह में आत्मबुद्धि वर्तती है, वही देह धारण करने का कारण है। देह के लक्ष्य से होनेवाले रागादि की जिसे भावना है, वह भी देह को ही आत्मा मानता है। व्यवहाररत्नत्रय के राग की जिसे भावना है, उसे राग से भिन्न चैतन्यतत्त्व की भावना नहीं है, परन्तु उसे राग की और राग के फल की ही भावना है और वही भावना, भाव का कारण है। चैतन्यस्वरूप रागरहित निर्विकल्प है, उसकी भावना ही मोक्ष का कारण है।

देखो! इस काल में आत्मा का निर्विकल्प अनुभव करनेवाले जीव अत्यन्त अल्प होते हैं, तथापि सत्समागम से आत्मा के स्वभाव का बहुमान करके उसका स्वीकार करनेवाले जीव तो अनेक होते हैं; और जिसने आत्मस्वभाव का बहुमान करके उसका

स्वीकार किया, वे जीव भी अनुक्रम से आगे बढ़कर सम्यग्दर्शनादि प्राप्ति करेंगे, परन्तु जिसने पहले से मार्ग ही विपरीत ग्रहण किया है, सत्य सुनकर भी उसका विरोध करते हैं, राग से और शरीर की क्रिया से धर्म होता है—ऐसी विपरीत मान्यता का पोषण करते हैं, वे जीव तो तत्त्व का विरोध करके भवभ्रमण में ही भटकते हैं।

जैसा आत्मा का स्वरूप है, वैसा जानकर उसकी भावना (श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता), वह मोक्ष का कारण है। कहा है कि— 'भावना भवनाशिनी' परन्तु कौन-सी भावना?— तो कहते हैं कि—देह, मैं नहीं हूँ; मन-वाणी, मैं नहीं हूँ; रागादि से भी पार मैं तो ज्ञानानन्द -स्वरूप आत्मा हूँ—ऐसी आत्मभावना, वह भव का नाश करनेवाली है।'केवलज्ञान प्राप्त होता है, आत्मभावना भाने से'; ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा जैसा है, वैसा जाने बिना उसकी सच्ची भावना नहीं होती। जो देह की क्रियाओं को अपनी माने, राग को ही आत्मा का स्वरूप माने, वह तो देह को और राग को ही आत्मा मानकर उन देहादि की ही भावना भाता है।'देह, सो मैं'—ऐसे अभिप्राय के कारण वह पुनः-पुनः देह को ही धारण करता है। ज्ञानी अपने ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को देहादि से भिन्न देखता है और वह निजात्मस्वरूप की ही भावना भाता है, वह आत्मभावना द्वारा मुक्ति प्राप्त करता है। इस प्रकार भावनानुसार भव-मोक्ष होते हैं।

जगत के अन्य जीव अपनी भावना को स्वीकार करें या न करें, परन्तु अपनी भावना का फल अपने को मिलता है; शरीर की क्रिया से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। देखो! श्री रामचन्द्रजी वनवास के समय जब गुप्ति-सुगुप्ति नाम के दो मुनिवरों को आहारदान करते हैं, तब वहाँ वृक्ष पर बैठे हुए जटायु पक्षी को भी भावना जागृत होती है, मुनियों के प्रति भक्ति जागृत होती है, जातिस्मरणज्ञान होता है और मुनिवरों के चरणोदक में गिरने से उसका शरीर भी सुन्दर सुवर्ण जैसा हो जाता है। पश्चात् वह व्रतधारी श्रावक होता है और स्वर्ग में जाता है। यहाँ तो ऐसा बतलाना है कि कहीं उस पक्षी के शरीर से आहारदान की क्रिया नहीं हुई थी, मात्र उसने आहारदान के अनुमोदन की भावना की थी... उस शुभ भावना का कैसा फल प्राप्त हुआ; उसी प्रकार जिसे चिदानन्दस्वरूप आत्मा की ही भावना है, वह मुक्ति प्राप्त करता है और जिसे राग की तथा देहादि की भावना है—उसी में

आत्मबुद्धि है, वह जीव, देह धारण करके जन्म-मरण करता है। इस प्रकार जो जीव, शुद्धात्मा को जानकर उसकी भावना भाता है, वह शुद्धात्मदशा को प्राप्त होता है और जो अशुद्ध आत्मा को (रागादि तथा देहादि को) भाता है, उसे अशुद्ध आत्मा की ही प्राप्ति होती है; अर्थात् वह मिथ्यादृष्टिरूप से भवभ्रमण करता है। इस प्रकार अपनी भावना-अनुसार भव या मोक्ष होता है। भावना, श्रद्धा-अनुसार होती है। मैं शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूँ— ऐसी जिसे शुद्धात्मा की श्रद्धा है, वह जीव उसी की भावना से मोक्ष प्राप्त करता है और 'देह सो मैं, रागादि सो मैं'—ऐसी जिसकी मिथ्याश्रद्धा है, वह जीव उन रागादि की ही भावना से भवभ्रमण करता है। जिसे शुद्ध आत्मा की भावना नहीं है, उसे देह की ही भावना है, वह देह धारण करने के कारणों को ही धारण करता है। ज्ञानी तो शुद्ध आत्मा को ही अपना जानकर शुद्धात्मा का ही सेवन करके मुक्ति प्राप्त करते हैं।

—इस प्रकार जीव की भावना ही भव-मोक्ष का कारण है; इसके सिवा कर्म या गुरु, वे कोई वास्तव में भव-मोक्ष के कारण नहीं हैं। ऐसा जानकर मुमुक्षु को देहादि से भिन्न अपने शुद्धस्वरूप की भावना करनी चाहिए। ●

बाघ-सिंह तो हमारे मित्र हैं

'जहाँ सिंह और बाघ गरजते हुए विचरण करते हों - ऐसे जङ्गल में मैं अकेले आत्मस्वरुप का ध्यान करूँगा... सिंह और बाघ शरीर को खा जाएँगे तो भी उसका विकल्प न हो और मैं निर्भय होकर अडोल आसन में बैठकर स्वरुप का ध्यान करूँगा। अरे! मैं तो चैतन्यगुफा में विश्रान्त अरूपी आनन्दकन्द भगवान आत्मा हूँ... मुझे कौन खाएगा? यदि बाघ आकर शरीर को खा जाएँ तो भी हमें शरीर से ममत्व नहीं है; हम तो उसे छोड़ना ही चाहते हैं और उसे वह ले जा रहा है... इस प्रकार वह तो हमारा मित्र ही है।'

– यह मुनियों की वीतरागता समझाने के लिए किया गया कथन है, लेकिन मुनियों को ध्यान में ऐसे विकल्प नहीं होते, उन्हें तो चैतन्य की लीनता में देह -सम्बन्धी विकल्प भी नहीं होते। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, महामहोत्सव प्रवचन, पृष्ठ ३४*

संसार-मोक्ष का कर्ता आत्मा स्वयं ही है

अब, शिष्य पूछता है कि—प्रभो! शरीर में आत्मभावना से जीव, भवभ्रमण करता है और शुद्धात्मा में ही आत्मभावना से जीव, मोक्ष प्राप्त करता है—ऐसा आपने समझाया परन्तु आत्मा को मोक्ष प्राप्त करने के लिये कोई अन्य गुरु तो चाहिए न? उसके उत्तर में श्री पूज्यपादस्वामी कहते हैं कि—

नयत्यात्मानमात्मैव जन्म निर्वाणमेव च।
गुरुरात्माऽऽत्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः ॥७५॥

आत्मा ही भव-हेतु है, आत्मा ही निर्वाण।
यों निश्चय से आत्म का, आत्मा ही गुरु जान॥७५॥

अन्वयार्थ :-(**आत्मा एव**) आत्मा ही (**आत्मानं**) आत्मा को (**जन्म नयति**) देहादिक में दृढ़ात्मभावना के कारण, जन्म-मरणरूप संसार में भ्रमण कराता है (**च**) और (**निर्वाणमेव नयति**) आत्मा में ही आत्मबुद्धि के प्रकर्षवश, मोक्ष प्राप्त कराता है; (**तस्मात्**) इसलिए (**परमार्थतः**) निश्चय से (**आत्मनः गुरुः**) आत्मा का गुरु (**आत्मा एव**) आत्मा ही है, (**अन्यः न अस्ति**) दूसरा कोई गुरु नहीं है।

आत्मा स्वयं ही अपने को अपने अज्ञान द्वारा जन्म में भ्रमण कराता है और अपने भेदज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त कराता है; इस प्रकार अपने भाव द्वारा स्वयं ही अपने संसार या मोक्ष को करता है, इसलिए परमार्थतः आत्मा स्वयं ही अपना गुरु है; दूसरा कोई परमार्थ से गुरु नहीं है।

व्यवहार में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध है। जो हितोपदेश देकर आत्मा का कल्याण करे, वह गुरु कहलाता है परन्तु गुरु ने जो हितोपदेश दिया, वह ग्रहण किसने किया? और तदनुसार आचरण किसने किया? आत्मा स्वयं जब वह उपदेश झेलकर तथा वैसा आचरण करके अपना कल्याण प्रगट करे, तब उसका हित होता है; इस प्रकार आत्मा स्वयं ही अपने हित का

कर्ता होने से परमार्थत: स्वयं ही अपना गुरु है। श्रीगुरु ने तो हितोपदेश दिया, परन्तु तदनुसार जीव स्वयं न समझे तो?—तो उसका हित नहीं हो सकता। स्वयं समझे, तभी हित हो सकता है और तभी श्रीगुरु का उपकार कहा जाता है। समझे बिना उपकार कैसा?

श्रीगुरु तो ऐसा हितोपदेश देते हैं कि—'अरे जीव! तू शरीर से और राग से पार चैतन्यतत्त्व है; चैतन्यवीणा बजाकर तू अपने आत्मा को जागृत कर... अन्तर्मुख श्रद्धा द्वारा अपने चैतन्य की वीणा को झंकृत कर...' श्रीगुरु का ऐसा हितोपदेश सुनने पर भी, जीव स्वयं जागृत होकर जब तक आत्मा को नहीं जानता, तब तक उसका उद्धार नहीं होता। हाँ, पात्र जीव को देशनालब्धि में ज्ञानी गुरु का निमित्त अवश्य होता है परन्तु जो जीव अपनी परिणति को न बदले, उसे श्रीगुरु क्या करें? श्रीगुरु तो धर्मास्तिकायवत् निमित्त हैं परन्तु भव में या मोक्ष में जीव स्वयं ही अपने को ले जाता। श्रीगुरु ने उपदेश में जैसा शुद्ध आत्मा बतलाया, वैसे शुद्ध आत्मा को स्वयं ग्रहण करे, तब श्रीगुरु की सेवा कही जाती है और श्रीगुरु की सेवा से मुक्ति प्राप्त की—ऐसा निमित्त से कहा जाता है।

समयसार की चौथी गाथा में कहते हैं कि विभाव की कथा का अनुभव जीवों ने पूर्वकाल में अनन्त बार किया है, उसका परिचय किया है और उसका श्रवण किया है, परन्तु पर से भिन्न अपने एकत्वस्वभाव की कथा कभी नहीं जानी, कभी उसका अनुभव नहीं किया, तथा आत्मज्ञ सन्तों की सेवा नहीं की। स्वयं जानी नहीं और जाननेवालों की सेवा नहीं की—ऐसी दोनों बातें बतलायी हैं। जब ज्ञानी के उपदेशानुसार स्वयं अपने आत्मा को जानकर, स्वयं निश्चय गुरु हुआ तब अन्य ज्ञानी गुरु ने उसे आत्मा समझाया—ऐसा व्यवहार हुआ, परन्तु यदि स्वयं जागृत होकर आत्मा को न जाने तो गुरु की संगति का फल क्या? गुरु उसे क्या करेंगे?—उसने सचमुच गुरु का संग नहीं किया है।

कभी बाहर से सेवा करने का प्रसंग आया, परन्तु उस समय भी ज्ञानी के अन्तरंग आशय को स्वयं नहीं समझा; इसलिए सम्यक्त्वादि की प्राप्ति नहीं हुई, और उससे सचमुच उसने ज्ञानी की उपासना की—ऐसा नहीं कहा गया। स्वयं अपने में अन्तर्मुख होकर ज्ञान प्राप्त किया, तब ज्ञानी की सच्ची उपासना की—ऐसा कहा गया, अर्थात् जब स्व-आत्मा की सेवा (श्रद्धा-ज्ञान-आचरण) द्वारा स्वयं अपना परमार्थगुरु हुआ, तब व्यवहार में अन्य ज्ञानी गुरु की सच्ची सेवा की—ऐसा कहा गया। अरे जीव! तुझे अनन्त काल में ज्ञानी की सच्ची सेवा

करना भी नहीं आया। एक बार ज्ञानी को पहिचानकर सच्ची सेवा करे तो वह जीव अवश्य ही स्वयं ज्ञानी हो जाये।

निश्चय से आत्मा ही आत्मा का गुरु है। सर्वज्ञदेव और ज्ञानी गुरु मिले, उन्होंने आत्महित का उपदेश दिया, परन्तु यदि जीव स्वयं उसे समझकर आत्मज्ञान न करे तो देव या गुरु क्या करेंगे ? आत्मा स्वयं-स्वत: अपने स्वसंवेदन से ही अपने को प्रकाशित करता है। जिस प्रकार आकाश को रहने के लिये अन्य कोई आधार नहीं है, वह स्वयं अपने में ही स्थित है; जिस प्रकार काल को परिणमित होने में किसी अन्य का आधार नहीं है, वह स्वयं अपने स्वभाव से ही परिणमित होता है; उसी प्रकार ज्ञानस्वभावी आत्मा स्वयं अपने से ही अपने को जानता है। इस प्रकार जिसका जो स्वभाव है, वह निरालम्बी है। आत्मा को आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये किसी अन्य का आधार नहीं लेना पड़ता; स्वयं अपने अवलम्बन से ही अपने को जानता है। समवसरण में तीर्थंकर परमात्मा भी सिंहासन से चार अंगुल ऊपर आकाश में निरालम्बीरूप से बिराजमान होते हैं—

''ऊँचे चतुरांगुल जिन राजे, इन्द्र नरेन्द्र मुनिवर ध्यावें;
जैसा निरालम्बी आत्मद्रव्य, वैसा निरालम्बी जिनदेह।''

भगवान का आत्मा तो केवलज्ञान-आनन्दमय निरालम्बी हो गया है और देह भी निरालम्बनरूप से आकाश में रहता है; समस्त आत्माओं का ऐसा निरालम्बी स्वभाव है।

हितोपदेशी गुरुओं का हितकारी उपदेश सुनकर भी, जब तक जीव स्वयं परालम्बन छोड़कर स्वोन्मुख होकर आत्मज्ञान न करे और कषायपरिणति को स्वयं न छोड़े, अर्थात् स्वयं अपने उद्धार का प्रयत्न न करे, तब तब अज्ञानभाव के कारण जीव, संसार में ही भटकता है; वह स्वयं अज्ञान से अपने को संसार में ले जाता हे, कर्म उसे परिभ्रमण नहीं कराते; और जब वह स्वयं स्वभाव की रुचि करके जागृत हुआ तथा अन्तर्मुख होकर आत्मा को जाना, तब वह स्वयं अपने को मोक्ष की ओर ले जाता है। गुरु ने तो उपदेश दिया कि 'तू अपने स्वभावसन्मुख हो, उसी में तेरा हित है'—परन्तु स्वसन्मुख होना तो अपने हाथ में है; स्वयं स्वसन्मुख होकर मोक्षमार्ग में परिणमित हुआ, तब व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि श्रीगुरु, मोक्षमार्ग की ओर ले गये।—यह कथन निमित्त से है।

श्री प्रवचनसार गाथा ८० तथा ८२ में आचार्यदेव ने सरस अलौकिक बात की है।

गाथा ८० में कहते हैं कि—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्त गुणत्त पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥
जे जाणतो अर्हंत ने गुण, द्रव्य ने पर्ययपणे।
ते जीव जाणे आत्मने, तसु मोह पामे लय खरे॥

भगवान अरहन्तदेव का आत्मा, द्रव्य से-गुण से और पर्याय से शुद्ध है; उसे जानने पर 'मैं भी ऐसा ही शुद्धस्वरूपी हूँ'—इस प्रकार अपने आत्मा के शुद्धस्वरूप की प्रतीति होती है, अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है और मोह नष्ट हो जाता है।

देखो! इसमें भी स्वसन्मुख होकर अपने आत्मा को पहिचाना, तब अरहन्त भगवान की सच्ची पहिचान हुई।

पश्चात् ८२ वीं गाथा में स्वाश्रित मोक्षमार्ग के प्रमोदपूर्वक आचार्यदेव कहते हैं कि—

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविद कम्मंसा।
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं॥
अर्हंत सौ कर्मो तणो करी नाश अे ज विधि वडे।
उपदेश पण अेम ज करी, निवृत थया; नमुं तेमने॥

देखो! यह भगवान का उपदेश!! स्वसन्मुख होकर पुरुषार्थ करने का भगवान का उपदेश है। अहो भगवन्तों! आपने स्वाश्रय के पुरुषार्थ द्वारा मुक्ति प्राप्त की और दिव्यध्वनि में भी आपने स्वाश्रय के पुरुषार्थ का ही उपदेश दिया है। अहो नाथ! आपका स्वाश्रय का उपदेश हमें प्राप्त हुआ है; आपको नमस्कार हो! आपके मार्ग पर हम भी चले आ रहे हैं।

परमार्थ से तो आत्मा स्वयं अपने स्वाश्रय से ही मुक्ति प्राप्त करता है; इसलिए स्वयं ही अपना देव और स्वयं ही अपना गुरु है; और जिन्होंने स्वाश्रय का उपदेश दिया ऐसे सर्वज्ञदेव तथा ज्ञानी गुरु, वे व्यवहार से देव-गुरु हैं; इसलिए उनके प्रति विनय-बहुमान करते हैं।—इस प्रकार स्वाश्रय का प्रयत्न करनेवाले जीव, निमित्तरूप देव-गुरु आदि का भी जैसा है, वैसा विवेक करते हैं, परन्तु बन्ध में या मोक्ष में आत्मा स्वयं ही अपने को परिणमित करता है; अन्य कोई उसके बन्ध-मोक्ष को नहीं करता।●

उसे ही मरण का भय है - जिसे देहबुद्धि है

देह में आत्मबुद्धि के कारण यह जीव अपने को भवभ्रमण में भटकाता है और देह से भिन्न चिदानन्दस्वरूप आत्मा को जानकर आत्मा में ही आत्मबुद्धि द्वारा अपने को मोक्ष में ले जाता है। इस प्रकार आत्मा स्वयं ही अपने बन्ध-मोक्ष का कर्ता है, अर्थात् हितमार्ग में ले जाने के लिये निश्चय से स्वयं ही अपना गुरु है—यह बात ७५ वीं गाथा में बतलायी।

अब, जो देहादि से भिन्न आत्मा को नहीं जानता और देह को ही आत्मा मानकर उसमें आत्मबुद्धि सहित वर्तता है, उसे मरणकाल में क्या होता है, सो कहते हैं:—

दृढात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मनः।
मित्रादिभिर्वियोगं च बिभेति मरणाद् भृशम्॥७६॥

आत्मबुद्धि है देह में, जिसकी प्रबल दुरन्त।
वह तन-परिजन मरण से, होता अति भयवन्त॥७६॥

अन्वयार्थ :- (**देहादौ दृढात्मबुद्धिः**) शरीरादिक में जिसकी आत्मबुद्धि दृढ हो रही है — ऐसा बहिरात्मा (**आत्मनः नाशम्**) शरीर के छूटनेरूप अपने मरण (**च**) और (**मित्रादिभिः वियोगं**) मित्रादि-सम्बन्धियों से होनेवाले वियोग को (**उत्पश्यन्**) देखता हुआ, (**मरणात्**) मरने से (**भृशम्**) अत्यन्त (**बिभेति**) डरता है।

जिसे दृढ़तापूर्वक देह में ही आत्मबुद्धि है—देह सो मैं हूँ—ऐसा माना है, वह जीव, देह छूटने का समय आने पर अपना मरण मानकर मरण से भयभीत होता है तथा मित्रादि का वियोग देखकर भयभीत होता है।

देखो, एक बार तो सबको इस देह के वियोग का प्रसंग आयेगा ही। यह शरीर पृथक् है, सो पृथक् होगा, वह कहीं आत्मा नहीं है। जिसने देह से भिन्न आत्मतत्त्व को

लक्ष्य में नहीं लिया, वह देह का वियोग होने से आत्मा का मरण मानता है; इसलिए वह अशरणरूप से मरता है। ज्ञानी तो आत्मा को शरीर से भिन्न जानता है, शरीर को पहले से पृथक् ही जाना है, ध्रुवचैतन्य की दृष्टि में उसे मरण का भय नहीं है। ज्ञानी जानता है कि यह जड़ शरीर मेरा नहीं है; मेरा तो ज्ञानशरीर है, उस ज्ञानशरीर का मुझे कभी वियोग नहीं है; इसलिए मेरा मरण नहीं है। जब मेरण ही मेरा नहीं है तो फिर भय कैसा ? जिसे देहदृष्टि है, उसी को मरण का भय है, क्योंकि देह से भिन्न आत्मा की शरण उसे भासित नहीं होती; इसलिए वह अशरणरूप से मरता है।

भाई ! प्रथम, आत्मा और शरीर के बीच भिन्नता जानकर, शरीर से भिन्न आत्मा को स्वसंवेदन में ले। 'शरीर सो मैं'—ऐसी दृष्टि के बदले, 'आत्मा मैं'—ऐसी दृष्टि कर; दृष्टि को एकदम बदल दे। दृष्टि को बदले बिना जो भी चेष्टा की जाती है, वह सब जन्म-मरण का कारण होती है। देहदृष्टिवान को 'मैं मर जाऊँगा' ऐसा भय कभी नहीं मिटता; आत्मदृष्टिवान को अपना अविनाशीपना भासित हुआ है, इसलिए उसे मरण का भव नहीं रहता। इसलिए कहा है कि—

'अब हम अमर भये न मरेंगे............
या कारन मिथ्यात्व दियो तज, फिर क्यों देह धरेंगे.....
अब हम अमर भये.....'

देह और आत्मा की एकत्वबुद्धि रखकर जीव कुछ भी क्रियाकाण्ड करे, शुभराग करे, परन्तु उसमें ऐसी शक्ति नहीं आती कि मरण का भय मिटा सके। भेदज्ञान में ही ऐसी शक्ति है कि अनन्त जन्म-मरण से छुड़ाता है और मृत्यु का भय मिटाता है।—ऐसा भेदज्ञान किसी बाह्य क्रिया के आश्रय से या राग के आश्रय से नहीं होता; चैतन्य के स्वसंवेदन के अभ्यास द्वारा ही ऐसा अपूर्व भेदज्ञान होता है।

अहा ! सम्यग्दर्शन हुआ वहाँ तो 'भवकट्टी' हो गई। जिस प्रकार दो बालकों की आपस में न बने तो 'कट्टी' करके मित्रता छोड़ देते हैं; उसी प्रकार बालबुद्धि से शरीर और आत्मा को एक मानकर, शरीर के साथ मित्रता कर-करके शरीर के संग से जीव चारगति में भटका, परन्तु अब भिन्नता की प्रतीति होने से शरीर के साथ की मित्रता छोड़कर कट्टी

की; इसलिए भव के साथ कट्टी करके मोक्ष के साथ मित्रता कर ली; वह अल्प काल में मोक्ष प्राप्त करेगा।

अज्ञानी तो शरीर के अस्तित्व को ही अपना अस्तित्व मानता है, शरीर के वियोग को अपना मरण मानता है; शरीर की क्रिया को अपनी क्रिया मानता है, परन्तु अपनी ज्ञानक्रिया को नहीं जानता। भाई! तू चेतन और शरीर जड़; तेरी क्रिया ज्ञानमय; शरीर की क्रिया अजीव। जीव का धर्म जीव की क्रिया द्वारा होता है या अजीव की? शरीर से भिन्न उपयोगस्वरूप आत्मा सर्वज्ञदेव ने देखा है, वैसा तुझे अत्यन्त स्पष्टरूप से सन्त समझाते हैं—तो अब तो तू भेदज्ञान कर! एक बार प्रसन्न होकर अन्तर में ऐसा भेदज्ञान कर... तुझे महा आनन्द होगा और मृत्यु का भय मिट जाएगा।

मेरी कोई चेष्टा शरीर में नहीं है और शरीर की किसी चेष्टा में मैं नहीं हूँ—ऐसा भेदज्ञान जिसे नहीं है, वह मृत्यु के भय से थर-थर काँपता है। भले ही कदाचित् मृत्युकाल में ऊपर से धैर्य या शान्ति रखे, परन्तु 'मैं मरता हूँ'—ऐसा जो अभिप्राय, उसमें अपने अस्तित्व का ही इन्कार पड़ा है; इसलिए मृत्यु का भय उसे सचमुच मिटा ही नहीं है। ज्ञानी तो नि:शंक हैं कि अविनाशी आत्मपद को दृष्टि में लेकर मृत्यु को तो मैंने मार डाला है। 'मृत्यु मर गयी' .....फिर मृत्यु का भय कैसा? अज्ञानी को मृत्यु का डर है; ज्ञानी को तो आनन्द की लहर है.....

भाई! बाह्य में तूने शरीर, मित्र, धन आदि को शरणरूप मानकर जीवन बिताया, तो उन सबके वियोगकाल में तू किसकी शरण लेगा? अन्तर में जो शरणभूत है, उसे तो तूने जाना नहीं है! मृत्युकाल में तू किसके आधार से शान्ति रखेगा? संयोग की शरण में कभी शान्ति या समाधि नहीं होती; इसलिए अज्ञानी तो देहदृष्टि के कारण मृत्यु से भयभीत होकर असमाधिरूप से मरता है, इस प्रकार अज्ञानी की बात कही। ज्ञानी को तो शरीर का छोड़ना, वह एक वस्त्र बदलकर दूसरा धारण करने समान है, इसलिए वह तो निर्भयरूप से शरीर को छोड़ता है—यह बात अब कहेंगे।●

भेदज्ञानी को मरण का भय नहीं

जिसे आत्मस्वरूप में ही आत्मबुद्धि हुई है और देहादिक को अपने से भिन्न मानता है—ऐसे अन्तरात्मा को मरण-प्रसंग आने पर क्या होता है, वह अब कहते हैं:—

आत्मन्येवात्मधीरन्यां शरीरगतिमात्मनः।
मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा वस्त्रं वस्त्रांतरग्रहम्॥७७॥

आत्मबुद्धि हो आत्म में, निर्भय तजता देह।
वस्त्र पलटने सम गिनें, तन-गति नहीं सन्देह॥७७॥

अन्वयार्थ :- (**आत्मनिः एव आत्मधीः**) आत्मस्वरूप में ही जिसकी दृढ़ आत्मबुद्धि है — ऐसा अन्तरात्मा (**शरीरगतिं**) शरीर के विनाश को अथवा बाल-युवा आदिरूप उसकी परिणति को (**आत्मनः अन्यां**) अपने आत्मा से भिन्न (**मन्यते**) मानता है, अर्थात् शरीर के उत्पाद विनाश में अपने आत्मा का उत्पाद-विनाश नहीं मानता और इस तरह मरण के अवसर पर (**वस्त्रं त्यक्त्वा वस्त्रान्तरग्रहम् इव**) एक वस्त्र को छोड़कर, दूसरा वस्त्र ग्रहण करने की तरह (**निर्भयं मन्यते**) अपने को निर्भय मानता है।

चैतन्यस्वरूप आत्मा को जानकर, उसी में जिसने एकत्वबुद्धि की है और देह की गति / परिणति को अपने से अन्य माना है—ऐसे धर्मात्मा को, देह छूटने का प्रसंग आने पर भी वह निर्भय रहता है; मैं मर जाऊँगा—ऐसा उसे भय नहीं होता; वह तो जैसे एक वस्त्र छोड़कर दूसरा वस्त्र ग्रहण किया जाता है, तदनुसार मरण को भी मात्र देह का रूपान्तर मानता है। एक शरीर बदलकर दूसरा शरीर आये, उन दोनों से अपने आत्मा का भिन्न अनुभव करता है।

धर्मी अन्तरात्मा अपने ज्ञानपरिणाम को ही अपना मानता है; शरीर के परिणाम को वह अपना नहीं मानता, उसे तो वह जड़ का परिणमन मानता है। शरीर की उत्पत्ति, बाल, युवा, वृद्ध अवस्था में या मरण, उन सबसे मैं भिन्न हूँ; मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ; शरीर छूटने पर

मेरा ज्ञान नहीं छूटता, इसलिए मेरा मरण नहीं—ऐसे अनुभव में धर्मात्मा को मरण का भय नहीं है। एक शरीर बदलकर दूसरा आया, उससे मुझे क्या ? मैं तो निरन्तर रहनेवाला ज्ञानस्वरूप ही हूँ। जैसे वस्त्र बदलने पर मनुष्य दुःखी नहीं होता; उसी प्रकार शरीर को वस्त्र की भाँति अपने से भिन्न माननेवाले ज्ञानी को शरीर बदलने पर दुःख नहीं होता। अभी तो यह शरीर चिता में जलता हो, उसके पूर्व ही आत्मा, स्वर्ग में उत्पन्न हो जाता है। इस शरीर की क्रियाओं का स्वामित्व आत्मा को नहीं है—इस प्रकार प्रारम्भ से ज्ञानी ने देह को भिन्न माना है। अपने विविध परिणामों के कारण शरीर की विविध परिणतियाँ होती हैं—ऐसा धर्मी नहीं मानता; धर्मी तो ज्ञानपरिणाम को ही अपना कार्य मानता है, अर्थात् वह ज्ञाता ही रहता है।

इस शरीर के साथ एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध होने पर भी, आत्मा से वह अत्यन्त भिन्न है। शरीर का कार्य शरीर करता है और आत्मा का कार्य आत्मा करता है—इस प्रकार ज्ञानी दोनों के कार्य को भिन्न देखता है; अज्ञानी तो 'मैं बोला, मैं चला'—इस प्रकार आत्मा और शरीर दोनों के कार्य को एकरूप ही देखता है। धर्मी जीव जानता है कि शरीर और संयोग सब मुझ से भिन्न हैं; वे सब यहीं पड़े रहेंगे, मेरे साथ एक डग भी नहीं आयेंगे; मेरे श्रद्धा-ज्ञान-आनन्द ही सदा मेरे साथ रहनेवाले हैं—ऐसे अनुभवपूर्वक धर्मी, श्रद्धा-ज्ञान को साथ लेकर जाता है, अर्थात् समाधिमरण करता है। शरीर के त्याग-ग्रहण को वह वस्त्र के त्याग-ग्रहण की भाँति मानता है। झोंपड़ी के नष्ट हो जाने से मनुष्य का नाश नहीं हो जाता; उसी प्रकार इस शरीर-झोंपड़ी के नष्ट होने से कहीं आत्मा का नाश नहीं हो जाता। ऐसा भेदज्ञान करके जिसने ज्ञानस्वरूप आत्मा की भावना भायी है—ऐसे धर्मात्मा को मरण के प्रसंग पर भी समाधि ही रहती है।

प्रभो ! एक बार दृष्टि को पलटकर अन्तर में चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि डाल। ये देह और संयोग कहीं तुझे शरणभूत नहीं होंगे; इसलिए इनकी दृष्टि छोड़ और शरणभूत ऐसे चैतन्य को ही दृष्टि में ले... तो तुझे उसी क्षण से चैतन्य की शरण में सम्यग्दर्शनरूपी समाधि ही रहेगी।

अब इस ७८ वीं गाथा में कहते हैं कि जो जीव व्यवहार को-रागादि को आदरणीय नहीं मानते, वे ही आत्मबोध को प्राप्त करते हैं और जो जीव, व्यवहार को आदरणीय मानते हैं, वे जीव आत्मबोध को प्राप्त नहीं होते। ●

जिसे व्यवहार में एकत्वबुद्धि है, उसे आत्मा में जागृति नहीं

देह और आत्मा को भिन्न नहीं जाननेवाला अज्ञानी, देह में आत्मबुद्धि के कारण मरण से भयभीत रहता है और असमाधिरूप से मरता है। ज्ञानी तो देह को अपने से अत्यन्त भिन्न जानता है; इसलिए उसे मृत्यु का भय नहीं है; उसे तो मरण के समय भी समाधि ही है—ऐसे ज्ञानी और अज्ञानी के भिन्न-भिन्न परिणाम की बात की।

अब, ज्ञानी और अज्ञानी के बीच मूलभूत अन्तर बतलाते हुए सरस बात करते हैं कि जो जीव, व्यवहार में अनादरवान है अर्थात् व्यवहार का—रागादि का आदर नहीं करता, वही आत्मबोध को प्राप्त करता है और जो जीव, व्यवहार में असक्त है—उसका आदर करता है, वह जीव आत्मबोध को प्राप्त नहीं करता।

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे॥७८॥

जो सोता व्यवहार में, वह जागे निजकार्य।
जो जागे व्यवहार में, रुचे न आतम-कार्य॥७८॥

अन्वयार्थ :- (**यः**) जो कोई (**व्यवहारे**) व्यवहार में (**सुषुप्तः**) सोता है, (**सः**) वह (**आत्मगोचरे**) आत्मा के विषय में (**जागर्ति**) जागता है-आत्मानुभव में तत्पर रहता है (**च**) और जो (**अस्मिन् व्यवहारे**) इस व्यवहार में (**जागर्ति**) जागता है, वह (**आत्मगोचरे**) आत्मा के विषय में (**सुषुप्तः**) सोता है।

जो जीव, व्यवहार में सोते हैं, अर्थात् व्यवहार को आदरणीय नहीं मानते, वे आत्मा के पुरुषार्थ में जागृत हैं; और जो व्यवहार में जागृत हैं—उसी को आदरणीय मानते हैं, वे आत्मा के पुरुषार्थ में सोते हैं, अर्थात् आत्मा के प्रयत्न में वे तत्पर नहीं हैं।

मोक्षप्राभृत की ३१ वीं गाथा में भी कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने यह बात कही है। ज्ञानी को राग तो होता है, परन्तु उस राग में वह तत्पर नहीं है; तत्परता तो ज्ञानस्वभाव में ही है। जिन्हें राग में तत्परता है—राग से लाभ मानते हैं, वे जीव, आत्मस्वभाव के प्रयत्न में अनुद्यमी हैं। अज्ञानी जीव कहते हैं कि व्यवहार करते-करते निश्चय की प्राप्ति होगी... यहाँ सन्त स्पष्ट कहते हैं कि जो व्यवहार में जागृत हैं / तन्मय हैं, वे निश्चय में सोते हैं, अर्थात् वे निश्चय को प्राप्त नहीं होते।

व्यवहार के विकल्प द्वारा-राग द्वारा परमार्थ की प्राप्ति होगी—ऐसा जिसने माना, उसका तो ध्येय ही मिथ्या है, उसने राग को ही ध्येय बनाया है, परन्तु परमार्थस्वभाव को ध्येय नहीं बनाया; इसलिए परमार्थस्वभाव को तो वह आदरणीय नहीं मानता, उसमें उद्यमी नहीं होता और राग को ही आदरणीय मानकर उसी में उद्यमी रहता है—उसी में तत्पर रहता है। ज्ञानी का लक्ष्य पलट गया है, राग होते हुए भी उसका ध्येय चिदानन्दस्वभाव की ओर झुक गया है, उसी में वह तत्पर है, उसी का उद्यमी है; राग को वह हेय मानता है, उसमें तत्परता नहीं है। देखो, इसमें रुचि किस ओर जाती है, उसकी बात है। आत्मा के स्वभाव की ओर रुचि जाती है या राग की ओर—उस पर धर्मी-अधर्मी का माप है। अहो! ऐसी सुन्दर हितकारी बात कहने पर भी, अज्ञानी जीव कहते हैं कि अरे, आप तो व्यवहार को उड़ाते हैं, परन्तु क्या किया जाये? वर्तमान काल ही ऐसा है। पूर्व काल में धर्मात्मा जीवों पर कोई संकट आता था तो वहाँ देव सहायता करने आते थे और धर्म का विरोध करनेवालों को दण्ड देते थे परन्तु वर्तमान में कोई पूछनेवाला नहीं है; आजकल तो 'उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे'—ऐसी स्थिति हो गयी है। तथापि जो सत्य है, वह तो सत्य ही रहेगा, सत्य कहीं पलटनेवाला नहीं है। लोगों को समझ में न आये और विरोध करें, इससे कहीं सत्य का स्वरूप बदलनेवाला नहीं है; इसलिए सत्य समझकर आत्मा का हित करना है, उसे यह बात मानना ही होगी।

आत्मा की सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-रमणता, वह समाधि है। आत्मा के स्वभाव को जानकर उसमें जो तत्पर हैं, वे आत्मा में जागृत हैं / आत्मा की आराधना करनेवाले हैं, और रागादि में वे सोते हैं, तथा जो जीव, रागादि में धर्म मानकर उसी में तत्पर हैं, वे अज्ञानी

जीव, राग में ही जागृत हैं अर्थात् राग की ही आराधना करते हैं, परन्तु रागरहित चिदानन्दस्वभाव की आराधना नहीं करते, उसमें तो वे सोते हैं।

एक-दूसरे से विपरीत दो परिणतियाँ एकसाथ नहीं रह सकती; अर्थात् जिसे चैतन्यस्वभाव में रुचि-तत्परता है, उसे रागादि व्यवहार में रुचि या तत्परता नहीं होती, और जिसे रागादि व्यवहार में तत्परता-आदरबुद्धि है, उसे आत्मा के चैतन्यस्वभाव में तत्परता-आदरबुद्धि नहीं है। चैतन्यस्वभाव और राग दोनों एक-दूसरे से विरुद्ध हैं, इसीलिए उन दोनों की रुचि या आदरबुद्धि एकसाथ नहीं रह सकती। चैतन्यस्वभाव के सन्मुख जिसकी परिणति है—ऐसा सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा, रागादि लौकिक व्यवहार में उदासीन रहता है, उसमें आदरबुद्धि नहीं करता। वह राग में धर्म मानकर आत्मा को बन्धन में नहीं डालता, परन्तु आत्मा के चिदानन्दस्वभाव का ही आदर करके उसी में परिणति लगाता है। इस प्रकार व्यवहार से उदासीन होकर शुद्ध चैतन्यस्वभाव में तत्परता होना-उसके सन्मुख होना, वह मोक्ष का उपाय है। चैतन्यस्वभाव में तत्परता, वह समाधि है और चैतन्य से च्युत होकर रागादि व्यवहार में तत्परता, वह असमाधि है।

अहो! प्रथम इस बात का निर्णय करना चाहिए कि मुझे अपने चिदानन्दस्वभाव का ही शरण है, राग का शरण नहीं है; चैतन्यस्वभाव के शरण में ही सम्यग्दर्शन होता है। ऐसा निर्णय करने पर, चैतन्यसन्मुख होने से समाधि होती है। सम्यग्दर्शन भी समाधि है और जिसे ऐसा निर्णय नहीं वे मिथ्यादृष्टि जीव, द्रव्यलिंगी मुनि होकर नववें ग्रैवेयक तक जायें, तथापि उन्हें असमाधि ही है। समाधि कहो या मोक्ष का उपाय कहो—वह आत्मा के चैतन्यस्वभाव के आश्रय से ही होता है। इसलिए रागादि व्यवहार का आदर छोड़कर शुद्ध ज्ञायकस्वभाव का ही आदर करना—ऐसा सन्तों का उपदेश है। ●

भेदज्ञान के अभ्यास से सिद्धपद की प्राप्ति

मैं शुद्ध ज्ञान और आनन्दस्वरूप हूँ; रागादि व्यवहार मुझ से बाह्य हैं—ऐसा अन्तरंग का भेदज्ञान करके जो जीव, आत्मस्वरूप में जागृत है—उसी में सावधान है, वह मुक्ति को प्राप्त करता है—ऐसा अब कहते हैं—

आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः।
तयोरन्तरविज्ञानादभ्यासादच्युतो भवेत्॥७९॥

अन्तर देखे आतमा, बाहर देखे देह।
भेदज्ञान अभ्यास जब, दृढ़ हो बने विदेह॥७९॥

अन्वयार्थ :- (**अन्तरे**) अन्तरङ्ग में (**आत्मानम्**) आत्मा के वास्तविक स्वरूप को (**दृष्टवा**) देखकर और (**बहिः**) बाह्य में (**देहादिकं**) शरीरादिक परभावों को (**दृष्टवा**) देखकर, (**तयोः**) आत्मा और शरीरादिक दोनों के (**अन्तरविज्ञानात्**) भेदविज्ञान से तथा (**अभ्यासात्**) अभ्यास द्वारा उस भेदविज्ञान में दृढ़ता प्राप्त करने से (**अच्युतो भवेत्**) (यह जीव) अच्युत, अर्थात् मुक्त हो जाता है।

आत्मा को अन्तर में तथा देहादिक को अपने से बाह्य देखकर, इस प्रकार दोनों के भेदविज्ञान द्वारा अभ्यास करने से जीव अच्युत होता है, अर्थात् सिद्धपद को प्राप्त करता है। यहाँ देहादिक कहने पर राग आदि भी उसमें आ जाते हैं, उन रागादि को भी आत्मा के स्वभाव से बाह्य देखना।

देखो, भगवान पूज्यपादस्वामी स्पष्ट कहते हैं कि निश्चय का आदर और व्यवहार के प्रति उदासीनता, वह मुक्ति का कारण है। ज्ञानी, निश्चय और व्यवहार दोनों को जानते अवश्य हैं परन्तु दोनों को जानकर, वे निश्चय में (अर्थात् शुद्ध आत्मा में) तत्पर होते हैं और व्यवहार में (अर्थात् रागादि में) तत्पर नहीं होते, परन्तु उसे हेय मानते हैं और इसलिए

वे मुक्ति को प्राप्त करते हैं परन्तु जो जीव, व्यवहार में तत्पर होते हैं, वे तो मिथ्यादृष्टिरूप से संसार में ही परिभ्रमण करते हैं।

प्रश्न : व्यवहार में तत्पर नहीं होना-यह ठीक है, परन्तु व्यवहार करते-करते ही तो निश्चय की प्राप्ति होगी ?

उत्तर : अरे, भाई! व्यवहार करते-करते निश्चय होगा—ऐसी जिनकी मान्यता है, वे जीव, व्यवहार में ही तत्पर हैं, क्योंकि जिसे लाभ का कारण माने, उसमें तत्पर हुए बिना नहीं रहता।

जो निश्चय का आदर करता है और व्यवहार का आदर नहीं करता, उसी ने निश्चय-व्यवहार दोनों को यथार्थ माना है परन्तु जो व्यवहार को आदरणीय मानता है, उसने तो निश्चय-व्यवहार को जाना ही नहीं। जैसे शरीर और आत्मा दोनों को जानने पर भी, धर्मात्मा, जड़-शरीर को अपने से भिन्न बाह्यरूप ही देखता है और अन्तरंग में आत्मा का अनुभव करता है; उसी प्रकार रागादिरूप व्यवहार और आत्मा के शुद्धस्वभावरूप निश्चय—इन दोनों को जानने पर भी धर्मात्मा, रागादि व्यवहार को अपने से बाह्यरूप देखता है, और शुद्धस्वभाव का ही अन्तरस्वरूप से अनुभव करता है। राग, बाह्यतत्त्व होने पर भी उसे जो अन्तरस्वभाव के साथ एकरूप करते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं; इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा का तो अन्तरंगरूप अनुभव करना और रागादि का बहिरंगरूप अनुभव करना—ऐसे भेदविज्ञान के अभ्यास द्वारा जीव अच्युत होता है, अर्थात् अविनाशी मोक्षपद को प्राप्त करता है।

भाई! प्रथम अपने ज्ञान में इस बात को बिठा कि अन्तर्मुख होने में ही अपना हित है और रागादि में अपना हित नहीं है। रुचि को बदलना ही मुख्य बात है। रागादि व्यवहार की सहायता से कभी कोई जीव, मुक्ति की प्राप्ति नहीं कर सकता; ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टि से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है।

अहो! इस पंचम काल के मुनियों ने भी धर्म की धारा को खण्डित नहीं होने दिया, सर्वज्ञ केवली भगवन्तों के भावों को ज्यों का त्यों बनाए रखा है। मुनि तो धर्म के स्तम्भ हैं। उन्होंने मोक्षमार्ग को टिका रखा है; स्वयं अपने स्वभाव और राग की भिन्नता का अनुभव करके जगत को भी वह भिन्नता बतलायी है।

स्वभाव और राग की भिन्नता को जानकर, स्वभाव में एकाग्रता द्वारा राग से भिन्नता होती जाती है, वही मोक्षमार्ग है। रागादि वास्तव में अपने स्वभाव से बाह्य होने पर भी, अज्ञान के कारण यह जीव उन्हें अपना मानकर उनसे लाभ मानता है; इसलिए वह राग से पृथक् नहीं होता। धर्मी, गृहस्थदशा में हो और रागादि होते हों, तथापि उस समय वह रागादि को हेयतत्त्व-बाह्यतत्त्वरूप ही देखता है और रागादि से भिन्न चैतन्यतत्त्व को ही अन्तरंगतत्त्वरूप से देखता है।

देखो! सीताजी धर्मात्मा थीं और उन्हें ऐसा अनुभव था। रामचन्द्रजी के प्रति जो रागभाव था, उस रागभाव को वे अपने आत्मस्वभाव से बाह्यरूप मानती थीं और चैतन्यतत्त्व का ही राग से भिन्न अन्तरंग-तत्त्वरूप अनुभव करती थीं। रामचन्द्रजी उन्हें वन में भेजते हैं और वहाँ से वर्षों के बाद जब वापिस आती हैं, तब उनकी अग्निपरीक्षा करते हैं। रामचन्द्रजी के हृदय में तो विश्वास था कि सीताजी तो महापतिव्रता सती ही हैं... परन्तु लोगों के अपवाद को दूर करने के लिए अग्निपरीक्षा की; विशाल अग्निकुण्ड बनवाया और उसमें अग्नि प्रज्वलित की गयी। सीताजी, अग्नि के पास खड़े होकर महावैराग्य से पंच परमेष्ठी का स्मरण करती हैं... लोग चिन्ता से भयभीत हो जाते हैं कि अरे! यह अग्नि की ज्वालाएँ तो सीताजी के शरीर को भस्म कर डालेंगी! सीताजी तो अत्यन्त वैराग्यपूर्वक सिद्धभगवान आदि पंच परमेष्ठी को नमस्कार करके अग्नि में कूद पड़ती हैं... लोगों में हाहाकार और कोलाहल मच जाता है... परन्तु उन भगवती महासती के पुण्य का ऐसा योग था कि उसी समय ऊपर से देवों के विमान सकलभूषण मुनिराज के केवलज्ञान का महोत्सव करने जा रहे थे... उन्होंने धर्मात्मा पर संकट देखकर तुरन्त मूसलधार पानी बरसाकर अग्नि बुझा दी... चारों ओर पानी... पानी और पानी! पानी के बीच कमल-सिंहासन पर सीताजी बिराजमान हैं-लोगों के कण्ठ तक पानी आ गया... और डूबने लगे, इसलिए हे माता! 'बचाओ... बचाओ' ऐसी पुकार करने लगे... तब देव, उपसर्ग का निवारण करके सीताजी की प्रशंसा करते हैं। सब लोग क्षमा माँगते हैं... हे माता! हमारा अपराध क्षमा करो... रामचन्द्रजी भी कहते हैं कि—हे देवी! मेरा अपराध क्षमा करो... और अयोध्या पधारो... परन्तु सीताजी के मन में इस प्रसंग से वैराग्य जागृत होता है और वे दीक्षा लेने को तैयार हो जाती हैं। तब लक्ष्मण और लव-कुश रुदन करते हैं... राम कहते हैं कि

हे देवी! इस लक्ष्मण के लिए... और इन लव-कुश जैसे पुत्रों के लिए तुम अयोध्या में वापिस चलो। सीताजी कहती हैं कि इस संसार में अब मैं नहीं रहूँगी, संसार की असारता को मैंने देख लिया है... अब तो अर्यिका होकर आत्मा का हित साधूँगी; मैं अपने अन्तरंग चैतन्यतत्त्व का ही आराधन करूँगी, अपने चैतन्य को उज्ज्वल करने के लिए इस संसार का त्याग करती हूँ; अब मुझे दूसरा कुछ नहीं चाहिए, मैं अपने स्वरूप की साधना करूँगी। मैंने परभावों को अपने स्वरूप से बाह्य माना था, अब उन परभावों को छोड़ने का तथा चैतन्य के आनन्द में स्थिर होने का उद्यम करूँगी—ऐसा कहकर महा वैराग्यपूर्वक अपने कोमल केशों को उखाड़कर रामचन्द्रजी के चरणों में डालती हैं... और यह दृश्य देखकर रामचन्द्रजी मूर्च्छित हो जाते हैं।

सीताजी जब पृथ्वीमती के पास जाकर दीक्षा लेती हैं, तब लोग रुदन करते हैं; राम लक्ष्मण रोते हैं, लव-कुश रोते हैं, प्रजाजन रोते हैं, सब सीताजी को मनाते हैं परन्तु वे अपने दृढ़ निर्णय से च्युत नहीं होती और कहती हैं कि—अरे! इस संसार से अब बस होओ-बस होओ... अपने अन्तरंगतत्त्व के अतिरिक्त अन्य कोई बाह्यतत्त्व मुझे शरणरूप नहीं है। रागादि परभाव मेरे स्वरूप से बाह्य हैं, वे मुझे किंचित् शरणरूप नहीं। अब मैं अपने अन्तरंग चैतन्यस्वरूप में रहकर रागादि परभावों को छोड़ने का अभ्यास करूँगी।

देखो! एक ही मार्ग है। पुरुष हो या स्त्री; रोगी हो या निरोगी; राजा हो या रंक; स्वर्ग में हो या नरक में; वृद्ध हो या बालक; सबके लिए हित का यह एक ही मार्ग है कि शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा का अन्तरंग में अनुभव करते हुए रागादि समस्त परभावों का अपने से बाह्यरूप अनुभव करना। जिनका अपने से बाह्यरूप अनुभव करे, उन्हें आदरणीय क्यों मानेगा? शरीरादि का बाह्यरूप और चैतन्यस्वरूपी आत्मा का अन्तरंगरूप से अनुभव करके उसी में एकाग्रता का अभ्यास करना, वह मुक्ति का कारण है। ऐसा अन्तरंग चैतन्यतत्त्व ही जगत का उत्कृष्ट प्रमेय है। स्वज्ञेय होने से वह मुख्य प्रमेय है; ऐसे प्रमेय को जानना ही 'प्रमेयकमलमार्तंड' का सच्चा ज्ञान है; और जो जीव ऐसे स्व-प्रमेय को नहीं मानते वे 'प्रमेयकमलमार्तंड' को नहीं मानते। इसलिए अपने आत्मा को अन्तरंग में देखकर उसे प्रमेय बनाना और रागादि परज्ञेयों का बाह्यरूप अनुभव करना—ऐसा भेदज्ञान द्वारा आत्मा में एकाग्रता का प्रयत्न करना, वही मोक्ष का उपाय है। ●

भेदज्ञानी को आत्मलक्ष्य से जगत् के प्रति उपेक्षा

जिनको शरीर और आत्मा का भेदज्ञान हो गया है—ऐसे अन्तरात्मा को प्रारम्भ की अभ्यासदशा में यह जगत कैसा लगता है ? और पश्चात्, चैतन्य के अभ्यास में एकाग्र होने पर यह जगत कैसा लगता है ? वह बतलाते हैं:—

पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य विभात्युन्मत्तवज्जगत्।
स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात् काष्ठपाषाणरूपवत्॥८०॥

ज्ञानीजन को जग प्रथम, भासे मत्त समान।
फिर अभ्यास विशेष से, दिखे काष्ठ-पाषाण॥८०॥

अन्वयार्थ :- (**दृष्टात्मतत्त्वस्य**) जिसे आत्मदर्शन हो गया है — ऐसे योगी जीव को (**पूर्वं**) योगाभ्यास की प्राथमिक अवस्था में (**जगत्**) जगत (**उन्मत्तवत्**) उन्मत्त-सरीखा / पागलवत् (**विभाति**) ज्ञात होता है, किन्तु (**पश्चात्**) बाद को जब योग की निष्पन्नावस्था हो जाती है, तब (**स्वभ्यस्तात्मधियः**) आत्मस्वरूप के अभ्यास में परिपक्व हुए अन्तरात्मा को (**काष्ठपाषाणरूपवत्**) यह जगत, काठ और पत्थर के समान चेष्टारहित मालूम होने लगता है।

जिनको अपने आत्मा का सम्यग्दर्शन हो गया है—ऐसे अन्तरात्मा को प्रारम्भिक दशा में तो यह जगत, उन्मत्त जैसा लगता है कि 'अरे रे! यह जगत चैतन्यस्वरूप के चिन्तन से च्युत होकर शुभ-अशुभ चेष्टाओं में ही उन्मत्त की भाँति प्रवर्त रहा है, परन्तु पश्चात् उस अन्तरात्मा योगी को अपने स्वरूप में स्थिरता का अभ्यास करने पर यह जगत, काष्ठ-पाषाण जैसा चेष्टारहित दिखायी देता हे। अपने स्वरूप में एकाग्र होने पर, जगत सम्बन्धी चिन्ताएँ छूट जाती हैं। इस प्रकार अन्तरात्मा की दो भूमिकाएँ यहाँ बतलाई हैं।

आत्मस्वरूप का सम्यक् अनुभव होने पर, धर्मी को प्रारम्भ में राग की भूमिका में

ऐसा विकल्प आता है कि अरे! इस जगत के जीव, आत्मस्वरूप को भूलकर संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं, वे अज्ञान से उन्मत्त जैसे हो गए हैं कि परद्रव्य को अपना मान रहे हैं और स्वतत्त्व को भूल रहे हैं। इस प्रकार ज्ञानी को करुणाबुद्धि से जगत पागल जैसा लगता है। अरे! ऐसे आत्मस्वरूप को भूलकर जगत, भ्रमणा में पड़ा है। जगत से भिन्न, जगत पर तैरता हुआ ऐसा जो अपना चैतन्यस्वभाव, उसका अनुभव स्वयं ने किया है, उसे अन्य जीव, शरीरादि की क्रिया को अपनी मानकर परिणमन करते हुए देखकर ऐसा लगता है कि अरे! यह जीव, मोह से मूर्छित हुए पागल हैं, मोहरूपी भूत इन्हें लगा हुआ है।

ज्ञानी को भेदज्ञान के अभ्यास से जब विशेष दृढ़ता होती है, तब उसे यह समस्त जगत अचेत जैसा लगता है; इसलिए अपने चैतन्य चिन्तन की उग्रता होने पर, जगत के प्रति लक्ष्य नहीं जाता; सहज उदासीनपरिणति वर्तती है। चैतन्यतत्त्व से बाहर जो कुछ है, वह सब मुझसे पृथक् है—ऐसा पहले से जाना ही है और पश्चात् उसमें स्थिरता का अभ्यास करने पर, उसे जगत सम्बन्धी चिन्ता छूट जाती है। स्वरूप में एकाग्रता तो हुई है, वहाँ जगत, चेष्टारहित काष्ठ-पाषाण जैसा लगता है, अर्थात् पर सम्बन्धी चिन्ता उसे नहीं होती है।

प्रारम्भ में तो ज्ञानी को ऐसा होता है कि अरे! यह जीव, स्वरूपचिन्तन में विकल वर्त रहे हैं, अर्थात् आत्मा का चिन्तन करने में वे अपंग हो गए हैं और मिथ्या-विकल्पों से घिर गए हैं, इनकी चेष्टायें उन्मत्त जैसी हैं। यद्यपि सर्व जगत ज्ञेयरूप ही है, वह कहीं मुझे राग-द्वेष का कारण नहीं है, ऐसा ज्ञानी को अनुभव होने पर भी, राग की भूमिका में ऐसा विकल्प आ जाता है कि अरे रे! चैतन्यनिधान को भूलकर यह जगत, बाह्य में परिभ्रमण कर रहा है, उसकी चेष्टायें उन्मत्त जैसी हैं, परन्तु जब ज्ञानी को विशेष लीनता होती है, तब पर के अवलम्बनरहित सहज ही उदासीनता वर्तती है। वहाँ पर सम्बन्धी चिन्ता जागृत नहीं होती। स्वयं अन्तर में स्थिर होकर चैतन्यप्रतिमा हो गया है, वहाँ जगत निःचेष्ट भासित होता है; समस्त जगत ज्ञेयरूप ही प्रतिभासित होता है। 'पर जीव अज्ञान से उन्मत्त वर्तते हैं-उसमें मुझको क्या?' ऐसा उदासीनता का विकल्प भी वहाँ नहीं रहता; वहाँ तो स्वरूप में एकाग्रता वर्तती है; इसलिए पर के प्रति परम उदासीनता सहज ही परिणमन करती है।

देखो! यह ज्ञानी की दशा!! विकल्प आने पर भी ज्ञानी उससे उदासीन हैं, तथापि विकल्प है, उतनी तो असमाधि है। पश्चात् वे विकल्प भी छूटकर स्वरूप में एकाग्र होने पर ऐसी समाधि हो जाती है कि जगत सम्बन्धी चिन्तायें नहीं होतीं। अरे रे! ''ऐसा परम चैतन्यस्वरूप, उसे जगत क्यों नहीं समझता!''—ऐसा भेदभाव भी वहाँ नहीं होता है। इस प्रकार अन्तरात्मा की दो भूमिकायें सिद्ध की हैं। एक तो विकल्प-भूमिका और दूसरी स्वरूप में स्थिरतारूप भूमिका। विकल्प-भूमिका में जगत के प्रति करुणा और खेद आ जाता है कि अरे! इस जगत के प्राणी अपने आत्मस्वरूप को भूलकर उन्मत्त जैसे भवभ्रमण कर रहे हैं; जड़ की क्रिया में और राग में धर्म मानकर वे मोह से पागल हो गए हैं... चैतन्य -स्वभाव के विवेक को वे चूक गए हैं। प्रथम दशा में अन्तरात्मा को ऐसा विकल्प आये; इसलिए कहीं वह अज्ञानी नहीं है, तथा विकल्प आया वह करने जैसा है—ऐसा भी नहीं है परन्तु अपनी ऐसी भूमिका होने से स्थिरता का विशेष अभ्यास करके जहाँ एकाग्रता हुई, वहाँ ऐसा विकल्प भी नहीं रहता; वहाँ जगत सम्बन्धी चिन्ता ही नहीं है, इसलिए जगत अचेत जैसा प्रतिभासता है—ऐसा कहा है। जगत के बाह्य पदार्थों में मेरे चेतन का अभाव है—ऐसा जानकर, अन्तर में एकाग्र होने पर, ज्ञानी अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही देखता है; इसलिए जगत को वह अचेतन जैसा देखता है-ऐसा कहा है।

देखो, कैलाशपर्वत पर भरत चक्रवर्ती ने तीन चौबीसी के रत्नमय जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा करायी है। उस कैलाशपर्वत पर बालि मुनि एक बार ध्यान में बैठे थे; वहाँ से राजा रावण निकला।...बालि मुनि के ऊपर आते ही रावण का विमान रुक गया; रावण ने नीचे उतरकर वहाँ बालिमुनि को देखा; उनको देखते ही रावण को पूर्व के वैर का स्मरण हुआ और क्रोध आ गया; इसलिए बालि मुनि का नाश करने के लिए विद्या के बल से कैलाश के नीचे जाकर कैलाशपर्वत को हिलाने लगा। उस समय ध्यान से च्युत होकर मुनि को ऐसी वृत्ति उठी कि अरे! क्रोध का मारा यह रावण पूरे पर्वत को हिलाता है और यहाँ के रत्नमय जिनबिम्बों की असातना करता है; इसलिए जिनबिम्बों की रक्षा करूँ। ऐसी वृत्ति होते ही उन महाऋद्धिधारी ने पैर का अंगूठा तनिक पर्वत पर दबाया, वहाँ तो तीन खण्ड का राजा रावण, पर्वत के नीचे दबने लगा और रोने लगा! पश्चात् उसने मुनि से क्षमा माँगी

और जिनबिम्बों की विराधना हुई, इससे बहुत पश्चाताप करके उन जिनबिम्बों के पास एक महीने तक ऐसी अद्भुत भक्ति की कि धरणेन्द्र का आसन चलायमान हो गया। इस ओर बालि मुनिराज ने भी प्रायश्चित लिया। देखो, मुनिदशा में भी ऐसा विकल्प आया, इसलिए वह करने जैसा है–ऐसा नहीं है। यदि विकल्प को करने जैसा माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानी को अपनी अस्थिर भूमिका में विकल्प आ जाता है, परन्तु उस विकल्प को भी चैतन्य से पृथक् जानकर आत्मा में स्थिर होना चाहता है। जहाँ दृढ़ अभ्यास द्वारा आत्मा में स्थिरता हो, वहाँ विकल्प नहीं उठते; कोई निन्दा करे, वहाँ 'अरे, यह जीव जैनशासन की विराधना करता है'—ऐसे खेद का विकल्प भी नहीं होता। विकल्प की भूमिका होने पर भी, यदि विवेक नहीं करता तो वह अज्ञानी है। स्वयं विकल्प की भूमिका हो और देव–गुरु–धर्म पर कहीं उपसर्ग आये तो वहाँ धर्मी को वह उपसर्ग दूर करने का भाव आये बिना नहीं रहता। अपने को राग होने पर भी जो विवेक नहीं करता, वह तो अज्ञानी है। यहाँ तो स्वरूप के अनुभव में ऐसी एकाग्रता हुई कि पर की ओर का विकल्प उठता ही नहीं–ऐसी दशा की यह बात है। धर्मी को विकल्प उठे परन्तु वह उसे छोड़कर स्वरूप में स्थिर होना चाहता है; और जहाँ स्वरूप में स्थिर हुआ, वहाँ जगत के विषयों की चिन्ता का अभाव होने से परम उदासीनता सहत ही वर्तती है। उसे जगत सम्बन्धी राग–द्वेष नहीं; इसलिए जगत, काष्ठ–पाषाणवत् प्रतिभासित होता है—ऐसा कहा है।

पहिले शरीरादि से पृथक् आत्मा को जानकर भेदज्ञान के अभ्यास द्वारा स्वरूप में स्थिर होता हुआ समस्त विकल्पों से छूटकर जीव, मुक्ति को प्राप्त होता है। आत्मा के भेदज्ञान के अभ्यास की ऐसी महिमा है। ●

जिनेन्द्र झलक मुनिराज चमकती

जैसे पुत्र में पिता का प्रतिभास आता है, वैसे ही मोक्षमार्गी मुनियों में वीतरागी जिनभगवान का प्रतिभास, वीतरागता का प्रतिभास झलकता है। मात्र शान्त.... शान्त.... वीतराग अकषायभाव ही तैरता है।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, जिणसासणं सव्वं, ८४, पृष्ठ २०

आत्मभावनारूप परिणति के बिना मुक्ति नहीं

अब, शिष्य प्रश्न करता है कि हे नाथ! आपने आत्मा में स्थिरता का अभ्यास करने को कहा, परन्तु वह तो व्यर्थ लगता है, आत्मा के अभ्यास में परिपक्व होने का उद्यम करने की किंचित् आवश्यकता नहीं लगती, क्योंकि शरीर और आत्मा भिन्न हैं—ऐसी धारणा से अथवा ऐसा श्रवण करने से अथवा स्वयं अन्य को कहने से ही मुक्ति हो जावेगी। फिर स्थिरता का उद्यम करने का क्या प्रयोजन है ?—शिष्य के ऐसे **प्रश्न** के **उत्तर** में आचार्य पूज्यपादस्वामी कहते हैं कि :—

शृण्वन्नप्यन्यतः कामं वदन्नपि कलेवरात्।
नात्मानं भावयेद्भिन्नं यावत्तावन्न मोक्षभाक् ॥८१॥

सुने बहुत आतम-कथा, मुँह से कहता आप।
किन्तु भिन्न-अनुभूति बिन, नहीं मुक्ति का लाभ ॥८१॥

अन्वयार्थ :- आत्मा का स्वरूप (**अन्यतः**) उपाध्याय आदि गुरुओं के मुख से (**कामं**) बहुत ही (**शृण्वन्नपि**) सुनने पर तथा (**कलेवरात्**) अपने मुख से (**वदन्नपि**) दूसरों को बतलाते हुए भी (**यावत्**) जब तक (**आत्मानं**) आत्मस्वरूप की (**भिन्नं**) शरीरादि परपदार्थों से भिन्न (**न भावयेत्**) भावना नहीं की जाती, (**तावत्**) तब तक (**मोक्षभाक् न**) यह जीव, मोक्ष का पात्र नहीं होता।

शरीर और आत्मा भिन्न हैं—ऐसा बारम्बार इच्छापूर्वक सुनने पर भी, तथा अन्य को कहने पर भी, और ऐसी धारणा करने पर भी, जब तक स्वयं अन्तर्मुख होकर इस शरीर से भिन्न आत्मा का अनुभव नहीं करता, तब तक जीव, मुक्ति को प्राप्त नहीं होता।

शरीर से आत्मा भिन्न है—ऐसी वाणी गुरु के पास लाखों वर्षों तक सुने और स्वयं भी लाखों मनुष्यों की सभा में उसका उपदेशा दे; वे तो दोनों पर के ओर की आकुल वृत्तियाँ हैं। वाणी तो पर है, अनात्मा है, उसके आश्रय से आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। वाणी सुनने

का और कहने का अभ्यास, वह कहीं स्व-अभ्यास नहीं है; इसलिए वह कहीं मोक्ष का कारण नहीं है; मोक्ष का कारण तो स्व-अभ्यास है। स्व-अभ्यास अर्थात् क्या? कि ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को शरीर से भिन्न जानकर, अन्तर्मुख होकर बारम्बार एकाग्रता का अभ्यास करना, उसका नाम स्वअभ्यास है, और वह मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है। जो अन्तर्मुख होकर ऐसी आत्मभावना करे, उसने श्रीगुरु का उपदेश वास्तव में सुना है क्योंकि श्रीगुरु भी शरीर से भिन्न आत्मा को जानकर उसी में अन्तर्मुख होने को कहते हैं। दूसरों से सुनने का शुभभाव हो, वह कहीं स्व-अभ्यास नहीं है; वह तो राग है। उस राग की भावना से मोक्ष माने तो वह मिथ्यादृष्टि है।

कोई ऐसा माने कि 'जगत के अनेक जीव यदि हमारे निमित्त से धर्म प्राप्त करते हों तो हमें भले ही संसार में थोड़ा समय रहना पड़े...' तो वे जीव महान मूढ़ हैं, उनको स्व -अभ्यास की भावना नहीं है परन्तु पर को समझाने की और राग की भावना है। अन्तर में धर्म के बहाने जगत से मान-सन्मान लेने की उनकी भावना है। 'हमारा भले चाहे जो हो, परन्तु हमें तो दूसरों का हित करना है'—ऐसी बात सुनकर साधारण लोग तो प्रसन्न हो जाते हैं कि वाह! इनकी कैसी उच्च भावना है, यह कैसे परोपकारी है! परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि वे जीव मिथ्यादृष्टि हैं, उन्हें अभी भवभ्रमण का भय नहीं है।—'अरे, मेरा यह आत्मा चारगति के परिभ्रमण से कैसे छूटे!' ऐसी उन्हें दरकार नहीं है, उन्हें तो पर को समझाने की भावना है, परन्तु आत्मा की भावना नहीं है!

अरे, मेरा आत्मा, आत्मा की भावना से रहित अनादि काल से चार गति के घोर दुःख भोग रहा है, उससे अब मेरा छुटकारा किस प्रकार हो?—ऐसा विचार करके धर्मी तो देहादि से भिन्न अपने आत्मा की ही भावना करता है और उसी में एकाग्र होने का अभ्यास करता है। आत्मा में एकाग्रता का अभ्यास ही मोक्ष का कारण है। इसके अतिरिक्त पर के अवलम्बन द्वारा श्रवण-मनन या धारणा, वह मोक्ष का कारण नहीं है; वह तो मात्र विकल्प है-राग है; और यदि उस राग से संवर-निर्जरारूप धर्म का होना माने तो वह मिथ्यादृष्टि है, उसे राग का अभ्यास है परन्तु आत्मा का अभ्यास नहीं है।

अरे जीव! श्रवण करने का या अन्य को श्रवण कराने का राग-भाव, वह आत्मा

नहीं और वाणी का प्रवाह छूटे, उसमें भी आत्मा नहीं है; आत्मा तो ज्ञानानन्दस्वरूप है—ऐसा जानकर अन्तर्मुख ज्ञानानन्दस्वभाव का अनुभव कर। ज्ञायकस्वभाव में जितनी एकाग्रता करेगा, उतना तेरा हित है और वही मोक्ष का कारण है। वाणी अथवा वाणी की ओर का विकल्प, वह कहीं तुझे शरणरूप नहीं होगा। तीर्थंकर परमात्मा की दिव्यध्वनि गणधरदेव सुनते हैं, तथापि उन्हें उस वाणी की ओर का जो विकल्प है, वह तो राग है; वह धर्म नहीं है परन्तु अन्तर में रागरहित वीतरागी एकाग्रता परिणमन करती है, वही धर्म है और वही मोक्ष का कारण है।

देखो, सन्त स्वयं ऐसा कहते हैं कि हे जीवो! हमारी वाणी की ओर के झुकाव से तुम्हारा हित नहीं होगा; तुम्हारा हित तो अपने ज्ञायकस्वरूप की ओर झुकने में ही है, इसलिए तुम अपने स्वभाव में अन्तर्मुख होकर उसकी श्रद्धा-ज्ञान करो और उसका बारम्बार अभ्यास करके उसी में एकाग्र होओ—ऐसे स्व अभ्यास से ही तुम्हारी मुक्ति होगी।●

ऊँचा नाम रखकर नीचा कार्य करना योग्य नहीं

यदि मुनि अपने लिए बनाया हुआ आहार लेते हैं तो उनकी नवकोटि शुद्ध नहीं है, उनका आहार ही शुद्ध नहीं है - ऐसी बात है। बापू! मार्ग तो ऐसा है। अरे! ऊँचा नाम धराकर नीची दशा के कार्य करना तो जगत में महापाप है। इसके बदले तो 'हमारी ऊँची दशा नहीं है, बापू! हम तो अविरत सम्यग्दृष्टि हैं' - ऐसा मानना अथवा कहना, जिससे प्रतिज्ञा भङ्ग का पाप नहीं लगे, लेकिन यदि बड़ा नाम धराकर प्रतिज्ञा तोड़ दे तो महापाप है। जैसे कि उपवास का नाम धराकर एक कण भी खावे तो महापाप है, वह महापापी है और 'मुझे उपवास नहीं है, लेकिन मैं सिर्फ एक बार खाता हूँ, इस प्रकार एकासन करे तो अकेला शुभराग है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/१२१

भिन्न आत्मा की भावना ऐसी दृढ़ कर कि स्वप्न में भी देह का सम्बन्ध न हो

अन्तरात्मा को शरीर से पृथक् आत्मा की अति दृढ़ भावना करनी, - ऐसा अब कहते हैं—

तथैव भावयेद्देहाद्व्यावृत्यात्मानमात्मनि।
यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत्॥८२॥

आत्मा तन से भिन्न गिन, करे सतत अभ्यास।
जिससे तन का स्वप्न में, हो न कभी विश्वास॥८२॥

अन्वयार्थ :- अन्तरात्मा, (**देहात्**) शरीर से (**आत्मानं**) आत्मा को (**व्यावृत्य**) भिन्न अनुभव करके (**आत्मनि**) आत्मा में ही (**तथैव**) उस प्रकार से (**भावयेत्**) भावना करे (**यथा पुनः**) जिस प्रकार से फिर (**स्वप्नेऽपि**) स्वप्न में भी (**देहे**) शरीर की उपलब्धि होने पर, उसमें (**आत्मानं**) आत्मा को (**न योजयेत्**) योजित न करे, अर्थात् आत्मा न समझ बैठे।

आत्मा में अन्तर्मुख होकर शरीर से पृथक् आत्मा का ऐसा अनुभव करना कि जिससे फिर कभी शरीर के साथ स्वप्न में भी आत्मा का सम्बन्ध नहीं हो। धर्मी अपने आत्मा को शरीर से पृथक् ऐसा अनुभव करता है कि उसे स्वप्न भी ऐसे ही आते हैं; स्वप्न में भी शरीर के साथ एकता नहीं भासती। मैं शरीर से पृथक् चैतन्यबिम्ब होकर अनन्त सिद्ध भगवन्तों के मध्य में बैठा हूँ—ऐसे स्वप्न धर्मी को आते हैं। वाणी से या विकल्प से भावना करने की यह बात नहीं है, यह तो अन्तर में आत्मा में एकाग्र होकर

भावना करने की बात है। शरीर से पृथक् कहने पर रागादि से भी आत्मा पृथक है, उसकी भावना करनी चाहिए।

श्री समयसार में आचार्यदेव ने एकत्व-विभक्त आत्मा का जैसा वर्णन किया है, उसी की भावना करने की यह बात है।—किस प्रकार? कि स्वयं ऐसे आत्मा का स्वानुभव करके उसकी भावना करनी। अज्ञानी जीव, शरीर को धर्म का साधन मानते हैं; इसलिए वे तो शरीर से पृथक् आत्मा का कहाँ से अनुभव करें? ज्ञानी तो मानते हैं कि मेरा आत्मा, शरीर से अत्यन्त पृथक् है। 'यह शरीर मैं हूँ'—ऐसी एकत्वबुद्धि स्वप्न में भी उसे नहीं है; इसलिए स्वप्न में भी आत्मा को शरीर के साथ एकमेक नहीं करते; आत्मा में ही श्रद्धा-ज्ञान को लगाकर उसकी भावना करते हैं। भेदज्ञान से निरन्तर ऐसी भावना ही मोक्ष का कारण है। ●

आचार्यदेव के कथन में केवलज्ञान की झङ्कार

अहो! महान सन्त-मुनिवरों ने जङ्गल में रहकर आत्मस्वभाव का अमृत-निर्झर प्रवाहित किया है। **आचार्यदेव तो धर्म के स्तम्भ हैं, जिन्होंने पवित्र धर्म को जीवन्त कर रखा है... गजब का काम किया है!** साधकदशा में स्वरूप की शान्ति का वेदन करते हुए परीषहों को जीतकर, परम सत् को अक्षुण्णरूप से जीवन्त रखा है। **आचार्यदेव के कथन में केवलज्ञान की झङ्कार गूँजती है** – ऐसे महान शास्त्रों की रचना कर उन्होंने बहुत जीवों पर असीम उपकार किया है। उनकी रचनायें तो देखो! पद-पद में कितना गम्भीर रहस्य भरा है। यह तो सत्य का शङ्खनाद है, इसके संस्कार होना कोई अपूर्व महा भाग्य की बात है तथा उसकी समझ तो मुक्ति का वरण करने जाने के लिए श्रीफल समान है; जो समझे उसका तो मोक्ष ही होनेवाला है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, जिणसासणं सव्वं, १००६, पृष्ठ ७७

आत्मभावना में तत्पर मुमुक्षु को अव्रत की तरह शुभव्रत भी छोड़नेयोग्य

८२ वीं गाथा में ऐसा कहा कि आत्मभावना ही मोक्ष का कारण है, व्रत के शुभराग भी मोक्ष के कारण नहीं है; इसलिए मोक्षार्थी को अव्रत की भाँति व्रत का भी विकल्प त्याज्य है। परम उदासीनतारूप निर्विकल्प अवस्था में जैसे स्व-पर सम्बन्धी विकल्प त्याज्य हैं; उसी प्रकार व्रत सम्बन्धी भी विकल्प त्याज्य हैं-ऐसा अब कहते हैं।

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत्॥८३॥

व्रत-अव्रत से पुण्य-पाप, मोक्ष उभय का नाश।
अव्रतसम व्रत भी तजो, यदि मोक्ष की आश॥८३॥

अन्वयार्थ :- (**अवत्तैः**) हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहरूप पाँच अव्रतों से (**अपुण्यम्**) पाप का बन्ध होता है और (**व्रतैः**) अहिंसादिक व्रतों से (**पुण्यं**) पुण्य का बन्ध होता है (**तयोः**) पुण्य और पाप दोनों का (**व्ययः**) जो विनाश है, वही (**मोक्षः**) मोक्ष है; (**ततः**) इसलिए (**मोक्षार्थी**) मोक्ष के इच्छुक पुरुष को (**अव्रतानि इव**) अव्रतों की भाँति (**व्रतानि अपि**) व्रतों का भी (**त्यजेत्**) त्याग करना।

अव्रत से पाप है, और व्रत से पुण्य है, उन दोनों के व्यय से मोक्ष होता है; इसलिए अव्रत की भाँति व्रत को भी मोक्षार्थी जीव छोड़ता है।

देखो! इसमें पूज्यपादस्वामी स्पष्ट करते हैं कि व्रत के शुभराग, पुण्यबन्ध के कारण हैं, वे मोक्ष के कारण नहीं हैं; इसलिए मोक्षार्थी को वे भी छोड़नेयोग्य हैं। उस-उस भूमिका में अव्रत छोड़कर व्रत के शुभराग धर्मी को आयें, वह और बात है परन्तु यदि उन्हें वे हेय

नहीं मानते और उनसे लाभ होने का मानते हैं तो उनकी श्रद्धा ही विपरीत हो जाती है, इसलिए मिथ्यात्व होता है। मिथ्यादृष्टि के तो यथार्थ व्रत भी नहीं होते हैं। यहाँ तो भेदज्ञान के पश्चात् धर्मी को व्रतादि के भाव आते हैं, उनकी बात है; वे धर्मी मानते हैं कि जिस प्रकार हमने अव्रत छोड़े, उसी प्रकार इन व्रत के विकल्पों को भी जब हम छोड़ेंगे, तब हमारी मुक्ति होगी। इन व्रतों के विकल्प हमारी मुक्ति के कारण नहीं हैं।

देखो! जिस प्रकार भावपाहुड़ की ८३ वीं गाथा में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने स्पष्ट कहा है कि व्रतादि में पुण्य है और धर्म तो भिन्न वस्तु है। उसी प्रकार यहाँ भी ८३ वीं गाथा में पूज्यपादस्वामी स्पष्ट कहते हैं कि मोक्षार्थी को अव्रत की भाँति व्रत भी छोड़नेयोग्य है, क्योंकि व्रत के विकल्प, पुण्यबन्ध के कारण हैं; वे कहीं मोक्ष के कारण नहीं। अहो! सर्व सन्तों ने एक ही बात कही है। जैसा वस्तुस्वरूप है, वैसा ही समस्त सन्तों ने प्रसिद्ध किया है। सन्तों ने इतनी स्पष्ट बात समझाई तो भी अज्ञानी जीव, राग की रुचि से इतने अन्धे हो गए कि उनको सत्यस्वरूप दिखायी नहीं देता। क्या हो? कहीं कोई इनको जबरन समझा दे ऐसा है?

श्रीमद् राजचन्द्रजी भी आत्मसिद्धि में कहते हैं कि—

वीता काल अनन्त उन, कर्म शुभाशुभ मांय,
उन शुभाशुभ को छेदते, उपजे मोक्षस्वभाव।

देखो! शुभ करते-करते मोक्ष हो—ऐसा नहीं कहा परन्तु शुभ-अशुभ दोनों का नाश करने से मोक्ष होता है - ऐसा स्पष्ट कहा है। धर्मात्मा, चैतन्यस्वभाव में एकाग्र होकर जब आनन्द में लीन होता है, तब व्रतादि के शुभविकल्प भी छूट जाते हैं और मुक्ति होती है; इसलिए अन्तरात्मा, व्रतादि के विकल्प को भी छोड़कर वीतरागीस्वरूप में स्थिर होने की भावना करता है। शुभ से भी पार, ऐसे वीतरागभाव को परम उदासीनता कहा जाता है और वही मोक्ष का कारण है। रागी जीव तो कर्म से बँधते हैं, विरक्त जीव ही कर्म से छूटते हैं—यह जैनधर्म का महासिद्धान्त है।

अज्ञानी जीव कहते हैं कि 'व्रत, मोक्ष का कारण नहीं है तो क्या व्रत छोड़कर अव्रत करना?' अरे मूर्ख! यह बात कहाँ से लाया? व्रत को भी जो मोक्ष का कारण नहीं मानते,

वे अव्रत / पाप को तो मोक्ष का कारण कैसे मानेंगे? व्रत छोड़कर अव्रत करने का माने, वह तो महास्वच्छन्दी दुर्बुद्धि है और व्रत के शुभविकल्पों को जो मोक्ष का कारण माने, वह भी अज्ञानी दुर्बुद्धि है, मोक्ष के उपाय को वह नहीं जानता है। अव्रत या व्रत दोनों प्रकार के राग से रहित होकर वीतरागभाव से स्वरूप में स्थिर होना, वही मोक्ष का कारण है—ऐसा धर्मी जानते हैं, इसलिए अव्रत तथा व्रत दोनों के विकल्पों को वे छोड़ने जैसा मानते हैं। पहिले अव्रत छोड़कर व्रत के विकल्प आयें, तथापि शुद्धात्मा को उनसे भिन्न जानते हैं। यदि ऐसा नहीं माने और विकल्प को मोक्ष का कारण माने तो उन विकल्पों को छोड़कर स्वरूप में क्यों स्थिर हो? धर्मी तो पहिले से ही समस्त विकल्पों से अपनी आत्मा को पृथक् मानते हैं।

धर्मात्मा समस्त राग से अपने चिदानन्दतत्त्व को भिन्न जानता है, राग के अंश को भी अपने अन्तरंगस्वरूप से नहीं मानता। इस प्रकार राग से भिन्न चैतन्यतत्त्व को जानकर उसमें आंशिक एकाग्रता बढ़ने पर अव्रतों का त्याग हो जाता है, और पश्चात् विशेष लीन होने से स्व में सावधानी बढ़ने पर अव्रतों के समान व्रतों का शुभराग भी छूट जाता है। जिस प्रकार अव्रत के अशुभभाव बन्ध का कारण हैं, उसी प्रकार व्रत के शुभभाव भी बन्ध का कारण है क्योंकि वह भी आत्मा की मुक्ति के बाधक हैं, इसलिए मोक्षार्थी को वह हेय है। जिस प्रकार लोहे की बेड़ी, पुरुष को बन्धन करती है; उसी प्रकार सुवर्ण की बेड़ी भी बन्धनकर्ता ही है, छूटने के इच्छुक को तो वह दोनों बेड़ी के बन्धन छोड़नेयोग्य हैं; उसी प्रकार पाप और पुण्य दोनों जीव को बन्धनकर्ता ही है—ऐसा जानकर मोक्षार्थी जीव को वह दोनों छोड़नेयोग्य हैं। पुण्य, वह आत्मा की मुक्ति में बाधकरूप है-विघ्नरूप है, फिर भी जो उसे मोक्ष का कारण माने, वह मिथ्यादृष्टि है। जो बन्ध के कारण को मोक्ष का कारण मानते हैं, उन्होंने वास्तव में बन्ध-मोक्ष के स्वरूप को जाना ही नहीं।

अज्ञानी कहते हैं कि व्रतादि व्यवहार करते-करते मुक्ति होगी। यहाँ कहते हैं कि व्यवहार तो मुक्ति में विघ्न करनेवाला है; उसे छोड़ने पर मुक्ति होगी। कितना अन्तर! मूल मान्यता में ही अन्तर है। साधक को निचली भूमिका में वह व्रतादिक का राग नहीं छूटता, किन्तु वह उस राग को बाधकरूप जानता है; उसे साधकरूप नहीं मानता। अज्ञानी तो उस

राग को वास्तव में साधकरूप मानता है; इसलिए उसकी तो श्रद्धा ही झूठी है।

अव्रत की भाँति व्रत का शुभभाव भी त्याज्य है—यह बात सुनते ही बहुत लोग विरोध करते हैं, हाय हाय करते हैं कि 'अरे! व्रत छोड़नेयोग्य?'—किन्तु भाई रे! धीरज रखकर समझते सही! व्रत का शुभराग बन्ध का कारण है या मोक्ष का कारण है?

वह राग तो बन्ध का ही कारण है और मोक्ष को विघ्न करनेवाला है, जो वस्तु बन्ध का कारण हो, वह छोड़नेयोग्य होती है या आदरणीय होती है? मोक्षार्थी जीव को रागादिक को बन्ध का ही कारण जानकर वह छोड़नेयोग्य हैं। समाधि तो वीतरागभाव के द्वारा होती है, कहीं राग द्वारा समाधि नहीं होती। अत: मोक्षार्थी जीवों को व्रत-अव्रत दोनों छोड़नेयोग्य हैं।

✦✦✦

अव्रत और व्रत—दोनों को छोड़नेयोग्य कहा; उन्हें छोड़ने का क्रम क्या है? वह कहते हैं—

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः।
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः॥८४॥

हिंसादिक को छोड़कर, होय अहिंसा निष्ठ।
राग व्रतों का भी तजे, हो चैतन्य प्रविष्ठ॥८४॥

अन्वयार्थ :- (**अव्रतानि**) हिंसादिक पञ्च अव्रतों को (**परित्यज्य**) छोड़ करके, (**व्रतेषु**) अहिंसादिक व्रतों में (**परिनिष्ठितः**) निष्ठावान रहना, अर्थात् उनका दृढ़ता के साथ पालन करना; बाद में (**आत्मनः**) आत्मा के (**परमं पदं**) राग-द्वेषादि रहित परम वीतराग पद को (**प्राप्य**) प्राप्त करके (**तान् अपि**) उन व्रतों को भी (**त्यजेत्**) त्याग देना।

व्रत-अव्रत दोनों से भिन्न शुद्ध चैतन्यतत्त्व को पहचानकर सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान सहित उसी में स्थिरता-एकाग्रता के उद्यम द्वारा प्रथम तो अव्रतों को छोड़कर, धर्मी जीव व्रतों का

पालन करते हैं अर्थात् अभी चैतन्य में विशेष स्थिरता नहीं है, वहाँ ऐसे व्रतों का शुभराग रहता है; और पश्चात् शुद्धोपयोग द्वारा स्वरूप में लीन होकर उस व्रत का राग भी छोड़कर आत्मा के परमपद को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार अव्रत तथा व्रत दोनों को छोड़कर उग्र शुद्धोपयोग के द्वारा वे अन्तरात्मा, मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

प्रथम, अव्रत छोड़कर व्रत का भाव है, वहाँ धर्मी जीव व्रत का पालन करते हैं— ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। वास्तव में जो व्रत का राग है, उस राग के पालन की धर्मी को भावना नहीं है। धर्मी को तो शुद्धोपयोग की ही भावना है। व्रत के विकल्प को छोड़कर वह शुद्धोपयोग में लीन होना चाहते हैं। व्रतादिक के विकल्प में रुकते हैं, वहाँ एक मुक्ति नहीं होती; और जो कोई व्रत के विकल्पों से लाभ मानता है, वहाँ तक तो उसे मिथ्यात्व में से भी मुक्ति नहीं मिलती।

व्रत का शुभराग भी मोक्ष का कारण नहीं, किन्तु मोक्ष को रोकनेवाला है; इसलिए त्याज्य है। यह बात सुनते ही मूढ़जन कहते हैं कि 'अरे, व्रत मोक्ष का कारण नहीं! तो क्या व्रत छोड़कर अव्रत करें?' ज्ञानी कहते हैं कि—अरे मूर्ख! यह बात तू कहाँ से लाया? अव्रत को छोड़ने का तो प्रथम ही कहा था। व्रत को भी जो मोक्ष का कारण नहीं मानते, वे अव्रत के पाप को तो मोक्ष का कारण कैसे मानेंगे? निजशुद्धात्मा के आलम्बन के बल द्वारा शुभाशुभ दोनों से छूटकर आत्मा के मोक्ष की बात सुनते ही उसको अपूर्व उत्साह आना चाहिए, सत्य बात में प्रेम, आदर न होकर जिसको खेद होता है कि 'अरे! हमारे शुभ छूट जाता है!' तो समझना कि उसको मोक्ष की रुचि नहीं है किन्तु राग की ही रुचि है, संसार की ही रुचि है।

यहाँ तो उत्कृष्ट बात बतलाते हैं। जिसने आत्मा का सम्यक्भान तो किया है, उपरान्त हिंसादिक के पापभावोंरूप अव्रत भी छोड़कर अहिंसादि व्रत पालता है, उसे भी आगे बढ़ने के लिये कहते हैं कि इन व्रत के विकल्पों को भी छोड़कर तू स्वरूप में स्थित हो, तो तुझे परमात्मदशा प्रगट होगी।

प्रथम ऐसे यथार्थ मार्ग का निर्णय करना चाहिए; मोक्षमार्ग तो वीतरागभाव में ही है; राग में किंचित् मोक्षमार्ग नहीं है, फिर वह अशुभ हो या शुभ। सुमार्ग के निर्णय में ही

जिसको विपरीतता है, जो राग को मोक्षमार्ग मानता है, वह रागरहित वीतरागी मोक्षमार्ग को कहाँ से साध सकेगा? श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव तो स्पष्ट कहते हैं कि 'राग, मोक्षमार्ग नहीं है'—फिर वह भले ही अरिहन्त या सिद्ध भगवान के प्रति राग क्यों न हो!

इससे न राग किंचित् कहीं भी मोक्षेच्छु करे,
वीतराग होकर इस विधि, वह भव्य भवसागर तिरे।

कोई ऐसा कहे कि—'अरे, ऐसा है तो फिर भगवान की भक्ति कोई क्यों करे', तो उसको कहते हैं कि अरे भाई! भगवान कथित ऐसी वीतरागी बात जो समझ लेगा, उसे ही वीतराग भगवान के प्रति सच्ची भक्ति जागेगी, किन्तु जो राग को मोक्षमार्ग मानता है, उसको वीतराग के प्रति सच्ची भक्ति नहीं जागेगी।

सच्चे तत्त्व के निर्णयपूर्वक अव्रत और व्रत दोनों को त्याग करने से क्या होता है—यह आगामी गाथा में कहेंगे।●

मुनिराज की आहारवृत्ति भी शुभभाव

मुनि की आहार-ग्रहण की वृत्ति भी अशुभभाव नहीं है, तथापि वह है तो कर्मधारा या रागधारा। जब तीर्थङ्कर मुनिपने में छद्मस्थ होते हैं, तब उन्हें भी आहार-ग्रहण की वृत्ति उत्पन्न होती है, परन्तु वह वृत्ति अशुभभाव नहीं है, शुभभाव है। मोक्षमार्गप्रकाशक में यह बात आती है कि मुनि के अशुभभाव का त्याग ही है अर्थात् उन्हें अशुभभाव होता ही नहीं। कदाचित् धर्म के लोभी, धर्म समझने के अभिलाषी कोई जीव आवें और मुनिराज को शुभराग हो तो उपदेश देते हैं। बस, यह उपदेश देने का विकल्प या समझाने का भाव शुभराग है, पुण्यास्रव है; लेकिन वह शुभराग भी स्वयं के कारण ही आता है। धर्म के लोभी जीव को समझाते हैं, इसलिए शुभराग आता है – ऐसा नहीं है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/१८२

सभी विकल्प दुःख का मूल है; उनके नाश से परम इष्टपद प्राप्त होता है।

अव्रत और व्रत दोनों का त्याग करने से क्या होता है? — ऐसा पूछने पर आचार्यदेव कहते हैं कि इन दोनों के त्याग से आत्मा को परमप्रिय हितकारी इष्ट सुन्दर परमपद की प्राप्ति होती है।

यदन्त-र्जल्प-संपृक्त-मुत्प्रेक्षा-जाल-मात्मनः।
मूलं दुःखस्य तन्नाशे शिष्टमिष्टं परं पदम्॥८५॥
अन्तर्जल्प क्रिया लिये, विविध कल्पना-जाल।
हो समूल निर्मूल तो, मोक्ष होय तत्काल॥८५॥

अन्वयार्थ :- (**अन्तर्जल्पसंपृक्तं**) अन्तरङ्ग जल्पयुक्त (**यत् उत्प्रेक्षाजालं**) जो विकल्पजाल है, वही (**आत्मनः**) आत्मा के (**दुःखस्य**) दुःख का (**मूलं**) मूलकारण है, (**तन्नाशे**) उसका, अर्थात् विकल्पजाल का विनाश होने पर, (**इष्टं**) हितकारी (**परमं पदं शिष्टं**) परमपद की प्राप्ति होती है — ऐसा प्रतिपादन किया है।

अन्तर में अनेक प्रकार के सङ्कल्प-विकल्पोंरूप जो कल्पना जाल है, वही आत्मा को दुःख का मूल है; चैतन्यस्वरूप में एकाग्रता द्वारा उसका नाश करने से अपने प्रिय हितकारी ऐसे परम पद की प्राप्ति होती है।

सन्त कहते हैं कि 'निर्विकल्प रस पीजिये....' अर्थात् अपने चिदानन्दमय परम अतीन्द्रियस्वरूप का निर्विकल्प वेदन करना ही आनन्द है और उस स्वरूप से बाहर निकलकर जितने सङ्कल्प-विकल्प हैं, वे दुःख का कारण हैं। अन्तर्मुख होकर जो निर्विकल्प होता है, वही परमपद को पाता है। जो जीव, चैतन्यस्वरूप को चूककर सङ्कल्प-विकल्प अपनाता है, वह परमपद को प्राप्त नहीं करता।

सङ्कल्प-विकल्परूप जितने राग हैं, वे सभी संसारदु:ख का कारण हैं। उस राग से आत्मा को लाभ मानना तो ज़हर की छुरी लेकर अपने पेट में घोंपकर उससे लाभ मानने जैसा है। आत्मा का चिदानन्दस्वभाव आनन्द का मूल है और उस स्वभाव में से बाहर निकलकर जो कुछ शुभ-अशुभवृत्ति उठती है, वह सब आकुलताजनक है, संसार दु:ख का ही कारण है। उसे छोड़कर चिदानन्दतत्त्व में स्थिर होने से ही परमानन्द का अनुभव होता है।

अहो! कैसा सुन्दर मार्ग है!! परम वीतरागी शान्ति का मार्ग है। अरे! सर्वज्ञ के ऐसे वीतरागी शान्त मार्ग को अज्ञानी विपरीतरूप से मान रहे हैं। ज्ञानी धर्मात्मा जानते हैं कि अहो! चैतन्यस्वरूप में एकाग्र होकर परम वीतरागी आनन्द का वेदन करना, वही एक हमें परम इष्ट है, वही हमें प्रिय है, वही हमारा प्रिय पद है, वही सुन्दर है; उसके अतिरिक्त राग की वृत्ति उत्पन्न हो, वह दु:खदायक है; वह हमें इष्ट नहीं है, वह हमें प्रिय नहीं है, वह सुन्दर नहीं है, वह हमें प्रिय नहीं है, हम उस राग की वृत्ति को छोड़कर चैतन्य में ही लीन रहना चाहते हैं।

यह आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है और स्वयं आनन्दस्वरूप है। सङ्कल्प-विकल्प का जाल उठे, वह आकुलता है; वह आत्मा का स्वरूप नहीं है, वह तो दु:ख का मूल है। चैतन्यस्वरूप से बाहर निकलकर, जो कोई बाह्य विषयों के सङ्कल्प-विकल्प होते हैं, वे सब हितकर नहीं परन्तु दु:खकर है। उन सङ्कल्प-विकल्प का नाश करके चैतन्यस्वरूप में लीनता करने से ही इष्ट ऐसा परम पद प्राप्त होता है-ऐसा भगवान ने कहा है। अव्रत या व्रत की वृत्ति उठे, वह इष्ट नहीं तथा उससे इष्टपद की प्राप्ति नहीं होती; निर्विकल्प आनन्द का वेदन हो, वही आत्मा को इष्ट है, उससे परमात्मा हुआ जाता है।

यह भगवान आत्मा, इन्द्रियों से पार अतीन्द्रिय है; विकल्पों से पार निर्विकल्प स्वरूप है। चिदानन्दमय है ऐसे निज आत्मा को भूलकर, बाह्य विषयों की ओर के झुकाव से जो सङ्कल्प-विकल्प हों, उनमें ही अज्ञानी फँसा रहता है परन्तु यहाँ तो तदुपरान्त ऐसा कहते हैं कि चैतन्यस्वरूप आत्मा का भान होने के पश्चात् भी, अस्थिरता से जो व्रतादि के विकल्प उठते हैं, वे भी आकुलतारूप हैं-बन्ध का कारण है, दु:ख का कारण है। भले

ही सीधी रीति से बाह्य विषयों में प्रवर्तता न हो परन्तु यदि अन्दर सङ्कल्प-विकल्प की धूमधाम होती हो तो वह दुःखरूप है। सङ्कल्प-विकल्प सर्वथा छूटने से पहले भी इस बात का निर्णय करना चाहिए।

अहो! मुझे शान्ति और आनन्द तो मेरे आत्मा के अनुभव में ही है; सङ्कल्प-विकल्प उठे उसमें मेरी शान्ति नहीं है। साधकदशा में व्रत-तप के विकल्प तो आते हैं परन्तु उन्हें छोड़कर स्वरूप में स्थिर होऊँगा, तभी मुझे मेरे पूर्णानन्द की प्राप्ति होगी-ऐसा जो निर्णय नहीं करता और उन विकल्पों से लाभ मानता है, वह तो अज्ञानी है; इष्ट पद क्या है उसकी भी उसे खबर नहीं है। उसने तो राग को ही इष्ट माना है। ज्ञानी तो अपने चैतन्यपद को ही इष्ट समझता है और अव्रत तथा व्रत दोनों छोड़कर चिदानन्दस्वरूप में ही लीनता से वह परम इष्ट पद को पाता है। जहाँ तक सङ्कल्प-विकल्प की जाल में उलझा करे, तब तक परम सुखमय इष्ट पद की प्राप्ति जीव को नहीं होती; जब अन्तर के सङ्कल्प-विकल्प की समस्त जाल को छोड़कर स्वयं अपने चैतन्य चमत्काररूप विज्ञानघन आत्मा में लीन होता है, तब ही अनन्त सुखमय परम पद की प्राप्ति होती है।●

छोटे से सिद्ध भगवान....

अहा! आठ वर्ष का छोटा-सा राजकुमार, जब दीक्षा लेकर मुनि हो, तब वैराग्य का वह अद्भुत दृश्य! आनन्द में लीनता!! **मानों छोटे-से सिद्ध भगवान ऊपर से उतरें हों! वाह रे वाह! धन्य यह मुनिदशा!**

जब वे छोटे से मुनिराज दो-तीन दिन में आहार के लिए निकलें, तब आनन्द में झूलते-झूलते धीरे-धीरे चले आ रहे हों और योग्य विधि का मेल मिलने पर आहार ग्रहण के लिए छोटे-छोटे हाथों को अञ्जलि जोड़कर खड़े हों। **अहा! वह दृश्य कैसा होगा!!**

बाद में वे आठ वर्ष के मुनिराज, आत्मा के ध्यान में लीन होकर केवलज्ञान प्रगट करके सिद्ध हो जाएँ – ऐसी आत्मा की शक्ति है। **वर्तमान में भी विदेहक्षेत्र में श्री सीमन्धरादि भगवान के पास आठ-आठ वर्ष के राजकुमारों की दीक्षा के ऐसे प्रसङ्ग बनते रहते हैं।** *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, गुरुदेवश्री के वचनामृत, १८९, पृष्ठ ११६*

ज्ञान-परायण जीव, परमात्मा होता है

जिसे चैतन्यस्वरूप आत्मा का भान है और समस्त सङ्कल्प-विकल्प की जाल का नाश करने के लिये उद्यमी है—ऐसा ज्ञान-परायण जीव किस क्रम से परमात्मा होता है,यह बतलाते हैं।

अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः।
परात्मज्ञानसम्पन्नः स्वयमेव परो भवेत्॥८६॥

करें अव्रती व्रत-ग्रहण, व्रती ज्ञान में लीन।
फिर हों केवलज्ञानयुत, बनें सिद्ध स्वाधीन॥८६॥

अन्वयार्थ :- (**अव्रती**) हिंसादिक पञ्च अव्रतों में अनुरक्त हुए मनुष्य को (**व्रतं आदाय**) अहिंसादि व्रतों को ग्रहण करके, अव्रतावस्था में होनेवाले विकल्पों का नाश करना तथा (**व्रती**) अहिंसादिक व्रतों के धारक को (**ज्ञानपरायणः**) ज्ञानभावना में लीन होकर, व्रतावस्था में होनेवाले विकल्पों का नाश करना और फिर अरहन्त-अवस्था में (**परात्मज्ञानसम्पन्नः**) केवलज्ञान से युक्त होकर (**परः भवेत्**) परमात्मा होना — सिद्धस्वरूप को प्राप्त करे।

अव्रती, व्रत को ग्रहण करके अव्रतसम्बन्धी विकल्पों का नाश करता है और फिर ज्ञान-परायण होकर, अर्थात् ज्ञान में लीन होकर, व्रत सम्बन्धी विकल्पों का भी नाश करता है। इस प्रकार ज्ञानभावना में लीनता द्वारा वह जीव स्वयं परात्मज्ञानसम्पन्न / उत्कृष्ट आत्मज्ञान सम्पन्न, अर्थात् केवलज्ञान सम्पन्न परमात्मा होता है।

सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन तो हुआ है, तत्पश्चात् की यह बात है। जिसे सम्यग्दर्शन नहीं, उसे तो अव्रत का त्याग नहीं होता, उसे तो अंशमात्र समाधि नहीं होती।

मैं विकल्पों से पार ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ-ऐसा जिसे सम्यक्भान नहीं, वह किसमें एकाग्र होकर सङ्कल्प-विकल्पों को छोड़ेगा? चैतन्यस्वरूप में जितनी एकाग्रता होती है, उतनी ही समाधि होती है। देखो! केवली भगवान को परिपूर्ण अनन्त सुखरूप समाधि ही है। मुनिदशा में जो व्रतादि का विकल्प उठता है, उतनी भी असमाधि है, समकिती को जो अव्रतों का विकल्प उठे उसमें विशेष असमाधि है और मिथ्यादृष्टि को तो घोर असमाधि है। जितनी असमाधि है, उतना दुःख है। केवली भगवन्तों को परिपूर्ण अनन्त सुख है; तत्पश्चात् बारहवें इत्यादि गुणस्थान में उनसे कम सुख है, मुनियों को जितना संज्वलन कषाय है, उतना भी दुःख है और जितनी ज्ञान-परायणता है, उतना सुख है।

समकिती को चौथे गुणस्थान में अव्रत सम्बन्धी विकल्प होने पर भी, वे श्रद्धा अपेक्षा से ज्ञान-परायण ही है; विकल्प-परायण नहीं,-विकल्प से लाभ नहीं मानते।

पहले अव्रत का त्याग करके व्रती होने को कहा; वहाँ कोई ऐसा माने कि अपने को सम्यग्दर्शन भले न हो परन्तु पहले अव्रत छोड़कर व्रत ले लेना, फिर सम्यग्दर्शन होना होगा तो होगा! —तो ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि को जैनशासन की परिपाटी की खबर नहीं है। सम्यग्दर्शन बिना व्रत कभी होते ही नहीं और अव्रत छूटता ही नहीं। पहले मिथ्यात्व छूटता है, पश्चात् ही अव्रत छूटते हैं और तत्पश्चात् ही व्रत छूटते हैं। जिसे मिथ्यात्व ही नहीं छूटा, उसे अव्रतादि का त्याग हो ही नहीं सकता। जिसे सम्यग्दर्शन ही नहीं, वह तो बहिरात्मा है। यहाँ तो वह बहिरात्मपना छोड़कर जो अन्तरात्मा हुए हैं, सम्यग्दृष्टि हुए हैं, उस अन्तरात्मा में से परमात्मा होने की यह बात है। अन्तरात्मा होने के पश्चात् ज्ञानानन्दस्वरूप में लीन होने से ही परमात्मदशा होती है। पहले ही जिसने मिथ्यात्व को छोड़ा है और ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का भान हुआ है—ऐसे समकिती पहले अव्रत को छोड़कर, पश्चात् व्रत को भी छोड़कर, अपने चिदानन्दस्वरूप में निर्विकल्परूप से लीन होकर केवलज्ञान प्रगट करके परमात्मा होते हैं और सिद्धपद को पाते हैं।

इस प्रकार ज्ञानभावना ही मोक्ष का कारण है; व्रतादि के विकल्प, मोक्ष का कारण नहीं है।●

देहाश्रित लिङ्ग या जाति, मोक्ष का कारण नहीं

जिस प्रकार व्रतादि विकल्प, मोक्ष का कारण नहीं हैं; उसी प्रकार मुनिलिङ्ग का विकल्प भी मोक्ष का कारण नहीं है-इस प्रकार अब आचार्य प्रतिपादन करते हैं—

लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्गकृताऽऽग्रहा॥८७॥

लिङ्ग देह आश्रित दिखे, आत्मा का भव देह।
जिनको आग्रह लिङ्ग का, कभी न होंय विदेह॥८७॥

अन्वयार्थ :- (**लिङ्ग**) लिङ्ग, अर्थात् नग्नपना आदि वेष (**देहाश्रितं दृष्टं**) शरीर के आश्रित देखा जाता है (**देह एव**) और शरीर ही (**आत्मनः**) आत्मा का (**भवः**) संसार है; (**तस्मात्**) इसलिए (**ये लिङ्गकृताग्रहाः**) जो लिङ्ग के ही आग्रही हैं, (**ते**) वे पुरुष (**भवात्**) संसार से (**न मुच्यन्ते**) नहीं छूटते हैं — मुक्त नहीं होते।

लिङ्ग देहाश्रित है, और देह में आत्मबुद्धि ही संसार है; अत: जो देहादि लिङ्ग में या रागादि में ममत्वबुद्धि करते हैं, वे संसार से छूट नहीं सकते।

समयसार में आचार्य भगवान कहते हैं कि—आत्मा को देह ही नहीं है, तो फिर देह या देहाश्रित भाव, मोक्ष का कारण कैसे हों? पञ्च महाव्रतादि मुनिलिङ्ग को या अणुव्रतादि के शुभरागरूप गृहस्थीलिङ्ग को आत्मा का स्वरूप मानकर अज्ञानी उसे मोक्षमार्ग मानते हैं, किन्तु वह लिङ्ग, मोक्षमार्ग नहीं क्योंकि अरहन्तदेव, देह के प्रति निर्मम होते हुए लिङ्ग को (महाव्रत के विकल्प को) छोड़कर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही सेवन करते हैं। भगवान ने तो शुद्ध ज्ञान की उपासना के द्वारा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग का सेवन किया और ऐसा ही मोक्षमार्ग उपदेश द्वारा बतलाया। द्रव्यलिङ्ग तो शरीराश्रित होने से परद्रव्य है, इससे वह मोक्षमार्ग नहीं है; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है,

क्योंकि वह आत्माश्रित है; अत: हे भव्य! बाह्यलिङ्ग का ममत्व छोड़कर दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग में ही अपने आत्मा को लगा।

जिसको लिङ्गकृत आग्रह है, वह मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकता, किन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि दिगम्बर जैन लिङ्ग के सिवा अन्य किसी भी लिङ्ग में मोक्ष हो जाये। मोक्ष प्राप्त करनेवाले को मुनिदशा में शरीर की दिगम्बरदशा ही होती है, यह निरपवाद नियम है और ऐसे नियम को जानना, वह कहीं लिङ्गकृत आग्रह नहीं है किन्तु अन्तर में जो चैतन्यतत्त्व की आराधना तो नहीं करते और शरीर की दिगम्बरदशा हुई, उसे ही मोक्ष का कारण मानते हैं, उन्हें लिङ्गकृत आग्रह है। शरीर सम्बन्धी विकल्प छोड़कर, जब स्वरूप में स्थिर होगा, तभी मुक्ति होगी। जैसे जीव-पुद्गल को गति के समय निमित्त धर्मास्तिकाय ही है, उसी प्रकार मोक्ष के साधक मुनि को लिङ्ग तो दिगम्बर शरीर ही होता है परन्तु शरीर कहीं मोक्ष का सच्चा कारण नहीं है। मोक्ष का सच्चा कारण तो आत्माश्रित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही है। इसलिए अरिहन्त भगवन्तों ने ऐसे शरीर का ममत्व छोड़कर रत्नत्रय की ही मोक्षमार्गरूप से उपासना की है; और उसी का उपदेश दिया है।

देह तो संसार का निमित्त है। अशरीरी सिद्धदशा के प्रतिपक्षी संसार का आधार (निमित्तरूप में) शरीर है; जिसको शरीर का ममत्व है-शरीर मुझे धर्म का साधन होगा ऐसा जो मानता है, वह शरीर से छूट नहीं सकेगा अर्थात् वह संसार से मुक्त नहीं हो सकता और अशरीरी सिद्धपद-परमात्मदशा को प्राप्त नहीं कर सकता।

जो जीव, वस्त्र-पात्र आदि परिग्रहसहित मुनिदशा मानते-मनवाते हैं, उनके तो मोक्षमार्ग के निमित्त में भी भूल है; यहाँ तो कहते हैं कि शरीर की नग्नदशा या पञ्च महाव्रत सम्बन्धी शुभ विकल्प, (जो कि मोक्षमार्ग के बाह्य लिङ्ग हैं), उन्हें जो मोक्षमार्ग मानते हैं, उनको भी लिङ्ग का आग्रह है, शरीर का ममत्व है। जिसको शरीर का ममत्व है, वह शरीर से छूटकर अशरीरीदशा कहाँ से प्राप्त कर सकेगा? भाई! यह शरीर ही तेरा नहीं है तो फिर उसमें तेरा मोक्षमार्ग कैसा? देह को जो मोक्ष का साधन मानते हैं, उन्हें देह का ममत्व होता ही है। क्योंकि जिसे मोक्ष का साधन मानेगा, वह उसका ममत्व कैसे छोड़ेगा? मुनिदशा में शरीर नग्न ही होता है, यह बात सच है, किन्तु मुनिदशा कुछ नग्न शरीर के आश्रय से

है—ऐसा नहीं है; मुनिदशा तो तीनों काल वीतरागभावमय होने से शुद्धात्मा के ही आश्रित है; राग या शरीर के आधार से नहीं है। शुद्धात्मा को जो नहीं जानता, उसे मुनिदशा नहीं होती।

कोई कुतर्क करे कि मोक्षमार्ग, देहाश्रित नहीं है, तो फिर मुनिदशा में शरीर नग्न हो या वस्त्रसहित हो—उसमें क्या विरोध ? तो उसे ज्ञानीजन उत्तर देते हैं कि भाई ! निमित्त भी उचित ही होता है, निमित्त का मेल होता है, भूमिकानुसार होता है। जिस दशा में जैसा राग न हो, वैसा निमितत भी नहीं होता। जिस प्रकार सर्वज्ञ सदा वीतराग ही होते हैं, सर्वज्ञ को राग नहीं है, आहार की इच्छा नहीं है तो बाह्य में भी आहार की क्रिया नहीं है; उसी प्रकार मुनि को परिग्रह का भाव नहीं है तो बाह्य में भी वस्त्रादि परिग्रह कभी नहीं होता। ऐसा मेल सहज नियमबद्ध होता है। जितना राग छूट गया, उतने निमित्त भी सहज छूट जाते हैं। तथापि धर्मी को बाह्य निमित्त में कर्तत्व नहीं है।

स्वभाव के आश्रित शुद्धरत्नत्रय होता है; जो उसका सेवन नहीं करते और देहाश्रित या रागाश्रित मोक्षमार्ग मानते हैं, उन्होंने शुद्धात्मा को जाना ही नहीं। शुद्धज्ञान का अनुभव ही एक परमार्थ मोक्षमार्ग है, अन्य कोई सच्चा मोक्षमार्ग नहीं है।

अज्ञानी कहते हैं कि—देह निमित्त तो है न ?—तो यहाँ कहते हैं कि हाँ; देह, निमित्त है किन्तु किसका ? संसार का। जो जीव ऐसा मानते हैं कि शरीर की दशा मुझे मोक्ष का कारण होगी तो वह जीव संसार से छूटता ही नहीं। यहाँ तो 'देह है सो भव है'—ऐसा कहकर आचार्यदेव, देह को मोक्ष के निमित्तपने में से निकाल देते हैं; देह तो संसार का ही निमित्त है, क्योंकि जो जीव, देह की क्रिया को अपनी मानते हैं, उन्हें तो देहदृष्टि से संसार ही होता है; इसलिए उनको तो शरीर, संसार का ही निमित्त हुआ; मोक्ष का निमित्त नहीं हुआ। देह से भिन्न आत्मा के चिदानन्दस्वभाव को जानकर, उसमें एकाग्रता द्वारा जो रत्नत्रय की आराधना करते हैं, वही मुक्ति को प्राप्त करते हैं और उन्हीं के लिये शरीर को मोक्ष का निमित्त कहा जाता है। देखो, योग्यता की खूबी ! देह का लक्ष्य छोड़कर जो आत्मा को मोक्ष का साधन बनाता है, उस जीव को देह, मोक्ष का निमित्त कहा जाता है, और जो देह को ही मोक्ष का साधन मानकर अटक गये हैं, उनको तो देह संसार का ही निमित्त है।

मुनिदशा में दिगम्बरदशारूप लिङ्ग ही निमित्तरूप होता है, वस्त्रादि नहीं होते—ऐसा नियम है, किन्तु वह निमित्त ही मोक्ष का कारण होगा—ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि को तो उस शरीर के आश्रय से संसार ही होता है। अज्ञानी मानता है कि शरीर से मोक्ष होता है, यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि शरीर, वही भव है-संसार है। जिन्हें ज्ञानानन्दतत्त्व की प्रतीति नहीं है, देह के लक्ष्य से रुक गये हैं, वे संसार में ही भटकते हैं। व्रतों के विकल्प, मोक्ष का कारण नहीं हैं, शरीर का दिगम्बर वेश भी मोक्ष का कारण नहीं हैं।

प्रश्न : तो फिर मुनिदशा में वस्त्र होने में कोई आपत्ति तो नहीं है ?

उत्तर : जो मुनिदशा में वस्त्रादि का होना मानते हैं, उन्हें तो निमित्त की भी खबर नहीं है, उनकी तो बड़ी भूल है। तीनों काल मुनिदशा में दिगम्बर शरीर ही निमित्तरूप होता है, किन्तु जो लोग उस दिगम्बर लिङ्ग को मोक्ष का कारण मानते हैं, वे भी निमित्ताधीन दृष्टि के कारण संसार में ही भ्रमण करते हैं।

देहदृष्टि से तो संसार ही मिलता है; अत: जो देह की दशा को मोक्ष का कारण मानते हैं, वे सब संसार के ही आग्रही हैं; निमित्त के आश्रय से मुक्ति माननेवाले निमित्त के आग्रही हैं और निमित्त के आग्रही, वे संसार के ही आग्रही हैं। देह, मोक्ष का कारण है—ऐसा मिथ्या आग्रह छोड़कर, जो श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता द्वारा चैतन्यस्वरूप की आराधना करते हैं, वे ही मुक्ति को-परमात्मदशा को पाते हैं। अरिहन्त-भगवन्त भी देहाश्रित लिङ्ग का विकल्प छोड़कर रत्नत्रय की आराधना द्वारा मुक्ति को प्राप्त हुए हैं; अत: वही मुक्ति का मार्ग है, लिङ्ग मुक्ति का मार्ग नहीं है—ऐसा नि:शङ्क जानना।

✦✦✦

अब लिङ्ग की भाँति उत्तम जाति या कुल भी देहाश्रित है, वह मोक्ष का कारण नहीं है; इसलिए 'हम ब्राह्मण-क्षत्रिय, हम वैश्य, हमारा कुल उत्तम है, जाति उत्तम है, अत: वही मोक्ष का कारण है'—ऐसा जो मानते हैं, वे भी मुक्ति को प्राप्त नहीं होते —ऐसा आचार्यदेव कहते हैं—

जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रहाः॥८८॥

जाति देह आश्रित कही, आत्मा का भव देह।
जिनको आग्रह जाति का, सदा मुक्ति संदेह॥८८॥

अन्वयार्थ :- (**जातिः**) ब्राह्मण आदि जाति, (**देहाश्रिता इष्टा**) शरीर के आश्रित देखी गयी है (**देह एव**) और शरीर ही (**आत्मनः भवः**) आत्मा का संसार है; (**तस्मात्**) इसलिए (**ये**) जो जीव, (**जातिकृताग्रहाः**) मुक्ति की प्राप्ति के लिए जाति का हठ पकड़े हुए हैं (**तेऽपि**) वे भी (**भवात्**) संसार से (**न मुच्यन्ते**) नहीं छूट सकते हैं।

जाति तो शरीराश्रित है, उस जाति को ही जो आत्मा का स्वरूप मानता है, वह देह को ही आत्मा मानता है; इसलिए 'मैं वैश्य हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ'—ऐसा उसे जातिकृत आग्रह है, वह जीव भी भव से नहीं छूटता। जो देह के साथ एकत्वबुद्धि रखता है, वह देह के संयोग से कैसे छूटेगा? भाई! ब्राह्मण या वैश्य आदि जातियाँ तेरी नहीं हैं, तेरी सच्ची जाति तो चैतन्य जाति है; चेतना ही तेरा सच्चा स्वरूप है; अपनी चैतन्यजाति को पहिचान तो तेरी मुक्ति होगी।

धर्मी जानता है कि मैं तो शरीर से भिन्न आत्मा हूँ, चैतन्य ही मेरी जाति है; क्षत्रिय आदि जातियाँ तो शरीराश्रित हैं। शरीर की जाति, वह मैं नहीं हूँ; चैतन्य ही मेरी उत्तम जाति है और उसकी आराधना करना, वही मेरी कुल-परम्परा है—ऐसी प्रतीतिपूर्वक जाति एवं कुल के विकल्प छोड़कर, धर्मात्मा अपने चैतन्यस्वरूप की आराधना से ही मुक्ति प्राप्त करता है।

देखो! शरीर की उत्तम जाति या कुल, वह मोक्ष का कारण नहीं है—ऐसा यहाँ कहा; इसलिए 'चाहे जो जाति हो, चाण्डाल कुल में जन्म लिया हो, तथापि मुनि हो सकता है'—ऐसा यदि कोई माने तो उसे भी तत्त्व की खबर नहीं है। मोक्ष प्राप्त करनेवाले को निमित्त की योग्यता कैसी होती है—उसकी उसे खबर नहीं है। जिस प्रकार शरीर की दिगम्बरदशा, वह मोक्ष का कारण न होने पर भी, मोक्ष प्राप्त करनेवाले को निमित्तरूप से तो दिगम्बरदशा ही होती है; अन्य दशा नहीं होती—ऐसा नियम है; उसी प्रकार शरीर की

जाति, मुक्ति का कारण न होने पर भी, मोक्ष प्राप्त करनेवाले को निमित्तरूप से तो क्षत्रियादि तीन जातियाँ ही होती हैं; चाण्डाल जाति उस भव में नहीं होती—ऐसा नियम है।

स्त्रीलिङ्ग में मोक्ष नहीं होता, पुरुषलिङ्ग एवं उत्तम जाति में ही मोक्ष होता है—ऐसा कथन शास्त्र में आता है; वहाँ उस लिङ्ग या जाति को ही आत्मा का स्वरूप मान ले या उसी को मोक्ष का सच्चा साधन मान ले और उससे भिन्न आत्मा को तथा शुद्धरत्नत्रयरूप मोक्षसाधन को न जाने तो वह जीव, देहबुद्धिवाला है; वह मोक्ष प्राप्त नहीं करता-भले ही उसने उत्तम कुल में जन्म लिया हो और पुरुष हो। उत्तम ऐसे चैतन्यकुल को नहीं जाना तो शरीर का कुल क्या करेगा? इसलिए शरीर से और राग से भिन्न अपनी चैतन्यजाति को जान।

✦✦✦

शास्त्रों में मुनि को दिगम्बरदशा तथा उच्च जाति और पुरुषलिङ्ग ही होने का कहा है—उक्त कथन से कोई जीव उन बाह्य चिह्नों को ही मोक्ष का कारण मान ले और अन्तरङ्ग के सही साधनों को भूल जाये तो वह परम पद को प्राप्त नहीं होता - इस प्रकार अब ८९वीं गाथा में कहते हैं—

जातिलिंगविकल्पेन येषां च समयाग्रहः।
तऽपि न प्राप्तनुवन्त्येव परमं पदमात्मनः॥८९॥

जाति-लिङ्ग से मोक्षपद, आगम-आग्रह वान।
नहीं पावे वे आत्म का, परम सुपद निर्वाण॥८९॥

अन्वयार्थ :- (**येषां**) जिन्हें (**जातिलिंग-विकल्पेन**) जाति और लिङ्ग के विकल्प से मुक्ति होती है — ऐसा (**समयाग्रहः**) आगमसम्बन्धी आग्रह है, (**ते अपि**) वे भी (**आत्मनः**) आत्मा के (**परमं पदं**) परमपद को (**न प्राप्नुवन्ति एव**) प्राप्त कर नहीं सकते हैं-संसार से मुक्त हो नहीं सकते हैं।

इस गाथा का कोई ऐसा विपरीत अर्थ जाने कि जाति-लिङ्ग के भेद का आग्रह नहीं करना, अर्थात् चाहे जिस जाति और चाहे जिस लिङ्ग में मोक्ष मान लेना, तो यह अर्थ सत्य नहीं है। शास्त्र में निमित्तरूप जो जाति और लिङ्ग आदि कहे हैं, वही निमित्त होते हैं और विपरीत नहीं होते हैं परन्तु उस निमित्त का, अर्थात् बाह्यसाधन का आग्रह नहीं करना और अन्तर के सही साधनरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को पहिचानकर उसकी उपासना में तत्पर होना चाहिए।

किस जाति में तथा कैसे वेष में मोक्ष होगा?—उसका निर्णय भी अनेक जीवों को नहीं होता, और चाहे जैसे कुलिङ्ग में भी मोक्ष हो जाना मानते हैं—उनको तो सच्चे मार्ग का भी पता नहीं है। मोक्ष का सच्चा साधन तो रत्नत्रय है; और जहाँ ऐसा रत्नत्रयरूप मोक्षसाधन हो, वहाँ बाह्यसाधनरूप उत्तम जाति तथा दिगम्बर पुरुष वेष ही होता है; इसके अतिरिक्त दूसरा माननेवाले को तो मोक्ष के बाह्यसाधन का भी पता नहीं है तो अन्तरङ्ग सच्चा साधन तो उसे कहाँ से होगा?

*'जाति वेष को भेद नहीं, कह्यो मार्ग जो होय' —*श्रीमद् राजचन्द्र*

इस प्रकार कहा है परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं समझना कि चाहे जिस जाति में और चाहे जिस वेष में मुक्ति हो जाये। उसका सही अर्थ तो ऐसा समझना चाहिए कि जहाँ यथार्थ मोक्षमार्ग हो, वहाँ जाति-वेष के भेद नहीं होते, अर्थात् वहाँ जो होता है, वही होता है—दूसरा भेद नहीं होता, अर्थात् दिगम्बर वेष और तीन उत्तम जाति के अतिरिक्त दूसरा वेष या दूसरी जाति नहीं होती है। ऐसा होने पर, जिनकी ऐसी मान्यता हो कि इस लिङ्ग और इस जाति के कारण ही अब मेरी मुक्ति हो जायेगी, उसे लिङ्ग और जाति का आग्रह है। लिङ्ग और जाति तो शरीराश्रित है, उसका जिसे आग्रह और ममत्व है, उसे देह से भिन्न चैतन्य जाति का पता नहीं, इसलिए वह परम पद को प्राप्त नहीं होता।*

मुनिदशा में पुरुषपना और दिगम्बर लिङ्ग ही होता है, दूसरा लिङ्ग नहीं होता तथा क्षत्रिय, ब्राह्मण या वैश्य जाति ही होती है, शूद्र जाति नहीं होती।—इस प्रकार आगम में

** मूल गुजराती पुस्तक में यह पेराग्राफ नहीं है, किन्तु आत्मधर्म में प्रकाशित प्रवचनों में है। यहाँ उपयोगी जानकर इसे लिया गया है। —सम्पादक*

कहा है, वह तो यथार्थ निमित्त कैसा हो, वह वहाँ बतलाया है—परन्तु आगम के उस कथन से कोई अज्ञानी ऐसा माने कि 'इस लिङ्ग और इस जाति से ही अब मुक्ति हो जायेगी' तो उसे आगम की ओट में जाति और लिङ्ग का ही आग्रह है, वह भी मुक्ति को प्राप्त नहीं होता। इस जाति और इस लिङ्ग में ही मोक्ष होता है—ऐसा कहकर शास्त्रों ने तो यथार्थ निमित्त बतलाया है, परन्तु कहीं उस जाति या लिङ्ग को ही मोक्ष का कारण कहने का शास्त्रों का अभिप्राय नहीं; तो भी उसी को जो मोक्ष का कारण मानते हैं, वे संसार में ही परिभ्रमण करते हैं। मोक्ष का कारण तो आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र ही हैं; जो ऐसे रत्नत्रय की आराधना करते हैं, वही मुक्ति को प्राप्त होते हैं।! ●

धीर... गुण-गम्भीर मुनिराज

सन्त मुनिराज धीर और गुण-गम्भीर हैं। चक्रवर्ती के सम्पूर्ण सैन्य बल को क्षण में पराजित कर दें, ऐसे ऋद्धि का बल प्रगटा होने पर भी चैतन्य के परमानन्द के अनुभव की धुन में स्थित सन्तों को, उस ऋद्धि के प्रयोग के प्रति लक्ष्य ही नहीं जाता; घोर प्रतिकूलता आ पड़ने पर भी वे ऋद्धि का उपयोग नहीं करते। अहो! मुनिराज ऐसे धीर और गम्भीर हैं।

साधारण प्राणी तो किञ्चित् ऋद्धि प्राप्त होने पर भी उसे झेल नहीं सकता और किञ्चित् प्रतिकूलता आ पड़ने पर ही धैर्य से च्युत हो जाता है, परन्तु चैतन्य के साधक सन्त तो महाधीर और गम्भीर होते हैं। बाह्य में कैसी भी ऋद्धि प्रगट हो परन्तु मेरी चैतन्य ऋद्धि के समक्ष उसकी क्या महिमा? और बाहर में कैसी भी प्रतिकूलता का ढेर आवे परन्तु मेरे चैतन्य में उसका प्रवेश नहीं है। मेरी साधना में, प्रतिकूलता उत्पन्न करने की सामर्थ्य किसी में नहीं है; इस प्रकार जानते हुए धर्मात्मा, चैतन्य के अवलम्बन से घोर उपसर्ग को भी जीत लेते हैं। इस प्रकार वे धीर और गुण-गम्भीर हैं।

ऐसे गुण-गम्भीर सन्तों को भक्ति क्रिया में कुशल ऐसे हम, भव-दुःख के अभाव के लिए पूजते हैं। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, रत्न संग्रह, पृष्ठ ४१*

अज्ञानी का ध्येयरहित त्याग
भेदज्ञान के बिना राग-द्वेष का ही सेवन

शरीर की जाति या लिङ्ग, मोक्ष का कारण नहीं—ऐसा समझकर शरीर का ममत्व छोड़कर परमपद में प्रीति करना—यह तात्पर्य है। जिस शरीर का ममत्व छोड़ने के लिए, तथा जिस परमात्मस्वरूप को प्राप्त करने के लिए भोगों से निवृत्ति का उपदेश है, उसे जाने बिना अर्थात् शरीर से भिन्न चिदानन्दस्वरूप आत्मा को जाने बिना भोगादिक को छोड़कर भी अज्ञानी जीव, मोह के कारण उस शरीर में ही अनुराग करने लगता है और दूसरे पर, अर्थात् परमात्मस्वरूप पर, द्वेष करता है।—जिसका त्याग करने का है, उसकी तो प्रीति करता है और जिसकी प्राप्ति करना है, उस पर द्वेष करता है—इस प्रकार अब गाथा ९० में कहते हैं—

यत्त्यागाय निवर्तन्ते भोगेभ्यो यदवाप्तये।
प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति द्वेषमन्यत्र मोहिनः ॥९०॥

बुध तन-त्याग विराग-हित, होते भोग निवृत्त।
मोही उनसे द्वेष कर, रहते भोग प्रवृत्त॥९०॥

अन्वयार्थ :- (**यत्त्यागाय**) जिस शरीर के त्याग के लिए, अर्थात् उससे ममत्व दूर करने के लिए और (**यद् अवाप्तये**) जिस परम वीतरागपद को प्राप्त करने के लिए (**भोगेभ्यः**) इन्द्रियों के भोगों से (**निवर्तन्ते**) निवृत्त होते हैं, अर्थात् उनका त्याग करते हैं, (**तत्रैव**) उसी शरीर और इन्द्रियों के विषयों में (**मोहिनः**) मोही जीव, (**प्रीतिं कुर्वन्ति**) प्रीति करते हैं और (**अन्यत्र**) वीतरागता आदि के साधनों में (**द्वेषं कुर्वन्ति**) द्वेष करते हैं।

अज्ञानी जीव, शरीर का ममत्व छोड़ने के लिए जिन भोगों को छोड़ता है, उसी में पुनः अज्ञान से वह प्रीति करता है तथा परमपद के प्रति अप्रीतिरूप द्वेष करता है। इन्द्रिय-

विषयों को छोड़कर अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव में आने का तो उसे पता नहीं; इसलिए एक प्रकार के इन्द्रिय-विषय को छोड़कर फिर से दूसरे प्रकार के इन्द्रिय-विषय में ही वह परिणमन करता है, और अतीन्द्रियस्वभाव के प्रति अरुचिरूप द्वेष करता है। इस प्रकार मोही जीवों का त्याग, वह सही त्याग नहीं परन्तु वह तो राग-द्वेष गर्भित है।

निर्ममत्व चैतन्यस्वभाव की दृष्टि बिना शरीरादि का ममत्व नहीं छूटता है। चैतन्य के अनुभव बिना शरीर का ममत्व छोड़ने के लिए त्यागी हो तो भी उसे इन्द्रियों के विषय में त्याग-ग्रहण की बुद्धि तो रहती ही है; अतीन्द्रिय चैतन्यस्वभाव तो उसने लक्ष्य में नहीं लिया है। यह बाह्य त्याग मुझे मोक्ष का कारण होगा—ऐसा उसे शरीर की दिगम्बरदशा आदि के प्रति राग है। इस प्रकार जिसे आत्मा का अनुभव नहीं, उसे शरीरादि की ममता का सच्चा त्याग नहीं होता है। बाह्य भोगों से निवृत्ति करके, परमात्मपद में प्रीति करना थी, उसके स्थान पर शरीर को मोक्ष का साधन माना, इसलिए शरीर में ही उसने अपना अस्तित्व मानकर उसमें प्रीति की; शरीर से भिन्न चैतन्य का अस्तित्व नहीं जाना और उसमें प्रीति नहीं की, इसलिए उस मोही जीव को त्याग का हेतु सिद्ध नहीं हुआ। बाह्य में त्यागी होकर भी जिसका त्याग करने का था, उसकी तो उसने प्रीति की, तथा जिसकी प्राप्ति करनी थी, उसे नहीं जाना, उसमें अरुचिरूप द्वेष किया।

बाह्य विषय-भोग छोड़कर व्रती हुआ, उस व्रत के पालन में जिसको कष्ट और दुःख लगता है, उसके अभिप्राय में विषयों में सुखबुद्धि है। 'मैं तो ज्ञान ही हूँ, ज्ञान में ही मेरा अस्तित्व है, मेरे ज्ञानस्वभाव में ही मेरा सुख है तथा बाह्य विषयों में कहीं मेरा सुख नहीं'—ऐसा अनुभव करने पर, शरीरादि में से सुखबुद्धि छूट जाती है। शरीर के साधन द्वारा चारित्र का पालन होगा—ऐसी जिसकी बुद्धि है, उसका शरीर के प्रति ममत्व नहीं छूटा है। उसने विषय छोड़कर भी शरीर में ही ममत्वबुद्धि की है। जहाँ अन्तर के चैतन्यतत्त्व का वेदन नहीं-आनन्द का अनुभव नहीं, वहाँ किसी न किसी प्रकार से बाह्य विषयों में ममता तथा सुखबुद्धि का जीव को वेदन होता ही रहता है; इसलिए उसे भोगों से सच्ची निवृत्ति नहीं होती।

अत: शरीरादि से भिन्न आत्मतत्त्व को जानकर, उसमें प्रीति करना चाहिए। चैतन्य में प्रीति करके उसमें लीनता करने पर, बाह्य भोगों से सहज ही निवृत्ति होती है तथा शरीरादि का भी ममत्व छूट जाता है। इस प्रकार परमपद की प्राप्ति होती है।●

अज्ञानी को आत्मा और देह में एकत्वबुद्धि

जिनको शरीर से भिन्न आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं—ऐसे मोही जीव, आत्मा की क्रिया को देह में मिलाते हैं और देह की क्रिया को आत्मा में मिलाते हैं, उस बात को दृष्टान्त से समझाते हैं:—

अनन्तरज्ञः संधत्ते दृष्टिं पंगोर्यथाऽन्धके।
संयोगात् दृष्टिमङ्गेऽपि संधत्ते तद्वदात्मनः ॥९१॥

यथा पंगु की दृष्टि का, करे अन्धे में आरोप।
तथा भेदविज्ञान बिन, तन में आत्मारोप ॥९१॥

अन्वयार्थ :- (**अनन्तरज्ञः**) भेदज्ञान न रखनेवाला पुरुष (**यथा**) जिस प्रकार (**संयोगात्**) संयोग के कारण, भ्रम में पड़कर संयुक्त हुए लंगड़े और अन्धे की क्रियाओं को ठीक न समझ कर, (**पगोर्दृष्टिं**) लगड़े की दृष्टि को (**अन्धके**) अन्धे पुरुष में (**संधत्ते**) आरोपित करता है-यह समझता है कि अन्धा स्वयं देखकर चल रहा है, (**तद्वत**) उसी प्रकार (**आत्मनः दृष्टिं**) आत्मा की दृष्टि को (**अङ्गेऽपि**) शरीर में भी (**सन्धत्ते**) आरोपित करता है-यह समझने लगता है कि यह शरीर ही देखता-जानता है।

एक अन्धे मनुष्य के कन्धे पर लँगड़ा बैठा है; वह लँगड़ा, आँख से मार्ग देखता है, और अन्धा चलता है। चलने की शक्ति लँगड़े में नहीं तथा देखने की शक्ति अन्धे में नहीं है। देखने की क्रिया तो लँगड़े की है और चलने की क्रिया अन्धे की है। जो अन्धे और लँगड़े के बीच का अन्तर नहीं जानते; वे लोग लँगड़े की दृष्टि का अन्धे में आरोप करके ऐसा मानते हैं कि यह लँगड़ा ही मार्ग देखकर चलता है—उनका यह आरोप मिथ्या है, उनको पता नहीं कि मार्ग देखनेवाला तो ऊपर भिन्न बैठा है। इसी प्रकार यह शरीर तो

ज्ञान बिना का अन्ध-जड़ है, और आत्मा देखनेवाला है, परन्तु शरीर की क्रिया करने के लिए पंगु है। शरीर के हलन-चलन को आत्मा जानता है, वह जानने की क्रिया आत्मा की है तथा शरीरादि गमन करने की क्रिया तो जड़ की है परन्तु जिनको जड़-चेतन के अन्तर का पता नहीं, आत्मा और शरीर की भिन्नता का अनुभव नहीं—ऐसे अज्ञानी जीव, आत्मा के ज्ञान का शरीर में आरोप करके ऐसा मानते हैं कि यह शरीर ही जानता है—आँख से ही सब दिखायी देता है; इसलिए शरीर ही आत्मा है परन्तु उनका यह आरोप मिथ्या है। उनको पता नहीं कि जाननेवाला तो शरीर से भिन्न है, शरीर कुछ भी नहीं जानता; जानने की क्रिया तो आत्मा की है।

तथा वह अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि शरीर का हलन-चलन-बोलना, वह सब मेरी क्रिया है, मैं ही उस क्रिया का करता हूँ, परन्तु शरीर का हलना-चलना-बोलना वह तो जड़ की क्रिया है, वह जड़-अन्धा है; उसके पैर से (उसकी पर्याय से) हलता-चलता-बोलता है; वे क्रियाएँ आत्मा से नहीं हुई; आत्मा ने तो उनको जानने की क्रिया की है। इस प्रकार जड़-चेतन की भिन्न-भिन्न क्रियाएँ हैं। जड़-चेतन की क्रियाओं का ऐसा भेद-अन्तर नहीं जाननेवाला अज्ञानी जीव, उन दोनों को एकरूप मानकर संसार में परिभ्रमण करता है।

देखो! यह भेदज्ञान की बात हो रही है। जड़-चेतन की भिन्नता का जिनको ज्ञान नहीं, उनको कभी समाधि नहीं होती। आत्मा ज्ञानस्वरूप है; उसकी क्रिया तो जाननेरूप ही है तथा शरीर जड़स्वरूप है, वह स्वयं हलन-चलन की क्रियावाला है परन्तु उसमें देखने की क्रिया नहीं है। आत्मा तथा शरीर दोनों पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं, दोनों की क्रियाएँ भी भिन्न-भिन्न हैं। शरीर ऊँचा-नीचा हो, व्यवस्थित पैर उठें, भाषा निकले, वे सब जड़ की क्रिया हैं। जड़ अन्धा स्वयं गमन करता है, और वहाँ उस क्रिया का जो ज्ञान होता है; वह ज्ञान, आत्मा की क्रिया है परन्तु अज्ञानी कहते हैं कि 'मैंने शरीर की क्रिया की; मैं बोला, मैंने सम्भालकर पैर रखा।'—ऐसी भ्रमणा के कारण वह अज्ञानी, शरीरादि बाह्य पदार्थों में ही उपयोग की एकता करता है, परन्तु शरीर से भिन्न आत्मा में उपयोग की एकता नहीं करता। उसे यहाँ समझाते हैं कि अरे मूढ़! जड़ तथा चेतन की क्रियाएँ भिन्न-भिन्न हैं; तेरी

क्रिया तो जाननेरूप है, शरीर की क्रियाएँ तेरी नहीं; इसलिए शरीरादि जड़ के साथ सम्बन्ध तोड़ तथा चैतन्यस्वभाव के साथ सम्बन्ध जोड़।

जड़–चेतन के भेदज्ञान के लिए यहाँ अन्धे और लँगड़े का सरस दृष्टान्त दिया है। अन्धे में हलन–चलन करने की शक्ति है परन्तु मार्ग देखने की शक्ति नहीं; उसके कन्धे पर लँगड़ा बैठा है, उसमें जानने की शक्ति है परन्तु शरीर को गमन कराने की शक्ति नहीं। अन्धा गमन करता है और लँगड़ा देखता है। वहाँ गमन करने की क्रिया किसकी है ?— अन्धे की है। देखने की क्रिया किसकी है ? लँगड़े की है। इस प्रकार दोनों की क्रियाएँ भिन्न–भिन्न हैं। उसी प्रकार शरीर जड़–अन्धा है, उसमें स्वयं हलन–चलन की शक्ति है, परन्तु जानने–देखने की शक्ति उसमें नहीं है। उसके साथ एकक्षेत्रावगाह आत्मा रहा हुआ है, उसमें जानने–देखने की शक्ति है परन्तु शरीर को गमन कराने की शक्ति नहीं है। शरीर उसके स्वभाव से ही हलन–चलन करता है, वह जड़ की क्रिया है तथा उसको जानना, वह आत्मा की क्रिया है। इस प्रकार जड़–चेतन दोनों की भिन्न–भिन्न कियाएँ हैं। ऐसी भिन्नता को जो जाने, उसे शरीर से उपेक्षा होकर आत्म–समाधि होती है।

प्रश्न : अन्धे को तो कुछ मालूम नहीं, इसलिए लँगड़ा ही उसे मार्ग बतलाकर हलन–चलन करवाता है; इसी प्रकार शरीर तो जड़ है, उसे कुछ पता नहीं, आत्मा ही उसकी क्रियाएँ करता है ?

उत्तर : अरे भाई ! ऐसा नहीं है। अन्धा उसके पैर से गमन करता है, कहीं लँगड़ा उसे गमन नहीं करवाता; उसी प्रकार शरीर और आत्मा का संयोग होने पर भी, शरीर उसकी अपनी शक्ति से गमन करता है; उसमें ज्ञान नहीं होने पर भी, वह स्वयं अपनी शक्ति से ही हलन–चलन करता है, आत्मा उसे गमन नहीं करवाता। आत्मा, शरीर की क्रिया करता है–ऐसा अज्ञान से ही प्रतिभासित होता है; इसी प्रकार शरीर की आँख द्वारा आत्मा देखता है—ऐसा भी अज्ञान से ही प्रतिभासित होता है।

मैं तो ज्ञान हूँ और शरीर तो जड़ है; मैं तो जाननेवाला हूँ तथा शरीर अन्धा है, मैं तो अरूपी हूँ और शरीर जड़ है—दोनों की क्रियाएँ अत्यन्त भिन्न हैं—ऐसा भेदज्ञान, अज्ञानी जीव नहीं करता, तथा भेदज्ञान बिना जगत में कोई शरणभूत नहीं, कहीं पर शान्ति या समाधि नहीं है।

अज्ञानी जीव, शरीर से भिन्न आत्मा के अनुभव बिना अनादि से अनाथ होकर रहा है। शरीर और आत्मा का संयोग देखकर एकता का भ्रम अज्ञानी को हो गया है, तथा इस कारण ही संसार में परिभ्रमण करता है। संयोग होने पर भी दोनों की क्रियाएँ भिन्न ही हैं—ऐसी जो भिन्नता पहिचाने तो वह देहबुद्धि छोड़कर आत्मा में एकाग्रता करे।—इस प्रकार आत्मा में एकाग्रता से समाधि-शान्ति होती है और भ्रवभ्रमण छूटता है।

शरीर और आत्मा का संयोग होने पर भी, भेदज्ञानी अन्तरात्मा उनको भिन्न-भिन्न जानता है, यह बात अब ९२ वीं गाथा में कहेंगे।●

गणधरों का नमस्कार जिसे प्राप्त हो, वह साधु पद

शान्त... शान्त... मुनिराज को अन्दर में भी अकषाय परिणमन है और बाहर में वाणी तथा शरीर में भी शान्तपना दिखता है। अहो! वे तो उपशमरस / अकषायरस में जम गये हैं। उन्हें मुनि कहते हैं, जिन्हें गणधर का नमस्कार पहुँचता है। देखो! गणधर भी शास्त्र रचना के समय नमस्कार मन्त्र में कहते हैं कि हे सन्तों! तुम्हारे चरणों में मेरा नमस्कार हो। यद्यपि अन्य साधु, गणधर से छोटे हैं; इसलिए गणधर उन्हें बाहर में व्यवहार से नमस्कार नहीं करते, परन्तु वे नमस्कार मन्त्र की रचना करते हैं, उसमें साधु को नमस्कार आ जाता है। जिन्हें चार ज्ञान प्रगट हुए हैं, जिन्होंने अन्तर्मुहूर्त में द्वादशाङ्ग की रचना की है, जो तीर्थङ्कर के वजीर/दीवान हैं, ऐसे गणधरों का नमस्कार जिसे प्राप्त हो, वह साधुपद कैसा होता है?

अहा! तीर्थङ्कर धर्मराजा हैं और गणधर उनके दीवान हैं। फिर भी जब वे शास्त्र की रचना करते हैं, तब **'णमो लोए सव्व आइरियाणं'** कहते हैं। वे आचार्य कैसे होंगे, जिनको गणधर का नमस्कार प्राप्त होता है? गणधर नमस्कार करें, वे ऐसे होते हैं कि जिनका अनाहारी परिणमन है, जिनकी वीतरागी दशा है और जिन्हें आहार लेने का राग उत्पन्न हो तो निर्दोष आहार लेने की वृत्ति है – ऐसे अन्तरङ्ग में रमणतावाले साधु अथवा आचार्य बाहर और अन्दर से शान्त होते हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/१३२)

ज्ञानी को देह और आत्मा का भेदविज्ञान

शरीर और आत्मा का संयोग देखकर, अज्ञानी जीव उन दोनों की क्रियाओं को एक-दूसरे में मिला देता है, दोनों के भिन्न लक्षणों को नहीं जानता; इसलिए दोनों की भिन्न क्रियाओं को नहीं पहिचानता। यह बात ९१ वीं गाथा में कही है। अब ९२ वीं गाथा में कहते हैं कि—शरीर और आत्मा का संयोग होने पर भी, भेदज्ञानी अन्तरात्मा उन्हें भिन्न जानता है और एक को दूसरे में नहीं मिलाता—

दृष्टभेदो यथा दृष्टिं पङ्गोरन्धे न योजयेत्।
तथा न योजयेद्देहे दृष्टात्मा दृष्टिमात्मनः ॥९२॥

पंगु अन्ध की दृष्टि का, बुधजन जानें भेद।
त्यों तन-आत्मा का करें, ज्ञानी अन्तर छेद॥९२॥

अन्वयार्थ :- (**दृष्टभेदः**) जो लँगड़े और अन्धे के भेद का तथा उनकी क्रियाओं को ठीक समझता है, वह (**यथा**) जिस प्रकार (**पंगोर्दृष्टिं**) लँगड़े की दृष्टि को अन्धे पुरुष में (**न योजयेत्**) नहीं जोड़ता-अन्धे को मार्ग देखकर चलनेवाला नहीं मानता। (**तथा**) उसी प्रकार (**दृष्टात्मा**) आत्मा को शरीरादि पर-पदार्थों से भिन्न अनुभव करनेवाला अन्तरात्मा (**आत्मनः दृष्टिं**) आत्मा की दृष्टि को-उसके ज्ञान-दर्शनस्वभाव को, (**देहे**) शरीर में (**न योजयेत्**) नहीं जोड़ता है-शरीर को ज्ञाता-दृष्टा नहीं मानता है।

जिसने दृष्टिवन्त लँगड़े और दृष्टिहीन अन्धे—उन दोनों के बीच भेद जाना है, अर्थात् देखने का कार्य लँगड़े का है और चलने का कार्य अन्धे का है—ऐसी भिन्नता को जाना है; वह जीव, लँगड़े की दृष्टि, अन्धे में आरोपित नहीं करता; उसी प्रकार जिसने चेतनवन्त ऐसा जीव और चेतनहीन ऐसा जड़-शरीर दोनों के बीच भेद जाना है—जानने

का कार्य तो जीव करता है, और शरीर की चेष्टायें तो जड़ की हैं—इस प्रकार दोनों का भिन्न-भिन्न स्वरूप जिसने जाना है, वह चेतन के भाव को जड़ में नहीं मिलाता—आत्मा को शरीर की क्रिया में नहीं जोड़ता—अर्थात् शरीर की क्रिया आत्मा करता है—ऐसा वह नहीं मानता; परन्तु शरीर और आत्मा की क्रियाओं को भिन्न-भिन्न ही जानता है—ऐसी भिन्नता को जाननेवाला अन्तरात्मा है।

देखो! इन्द्रियों में कुछ भी जानने की शक्ति नहीं। किसी को जातिस्मरण होते ही ज्ञान में अनेक भव दिखते हैं, तो क्या वे आँख से दिखायी देते हैं? नहीं; वे तो ज्ञान से ही जाने जाते हैं। अवधिज्ञानी को यहाँ बैठे-बैठे स्वर्ग-नरक साक्षात् दिखायी देते हैं, वह क्या आँख की शक्ति है? आँख तो एक ओर बाह्य में रह जाती है। सर्वज्ञ परमात्मा आँख के अवलम्बन बिना आत्मा में ही एकाग्रता से सारे विश्व को देखते हैं-जानते हैं। जानना वह इन्द्रियों की क्रिया नहीं, जानना तो ज्ञान की क्रिया है; इस प्रकार धर्मी दोनों को भिन्न-भिन्न पहिचानता है।

शरीर और आत्मा का संयोग होने पर, अज्ञानी को ऐसा भ्रम होता है कि शरीर के कार्य मानों आत्मा ही करता है; अथवा यह आँख आदि जड़ इन्द्रियाँ जानने का कार्य करती हैं, परन्तु जड़ और चेतन की भिन्न-भिन्न क्रियाओं को वह नहीं पहिचानता। भाई! जानने का कार्य कहीं यह आँख नहीं करती, जानने का कार्य तो अन्तर में जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है, वह करता है। धर्मी अन्तरात्मा मानता है कि ज्ञाता-दृष्टा तो मैं हूँ, मेरा ज्ञान-दर्शन स्वभाव इस शरीर में नहीं; शरीर से तो मैं अत्यन्त भिन्न हूँ। अपने ज्ञानस्वरूपी आत्मा को वह शरीरादि पदार्थों से अत्यन्त भिन्न अनुभव करता है।

भाई! शरीर और आत्मा तो अत्यन्त भिन्न है; संयोगरूप से साथ होने पर भी, दोनों के स्वभाव के बीच अत्यन्त-अभावरूपी महान पर्वत खड़ा हुआ है। एक-दूसरे का अंश भी एक-दूसरे में नहीं मिलता। एक रूपी, दूसरा अरूपी; एक जड़, दूसरा चेतन; इस प्रकार दोनों के स्वभाव की अत्यन्त भिन्नता को ज्ञानी जानता है। जहाँ अपने ज्ञान में राग के अंश को भी एकमेक नहीं करते, वहाँ ज्ञानी, जड़ को अपने में कैसे मिलायेंगे? शरीर और राग से अपने आत्मा को अत्यन्त भिन्न अनुभव करते हैं।

यह जानने की क्रिया तो अपनी है, और यह शरीर की क्रियाएँ अपनी नहीं, परन्तु जड़ की हैं-ऐसा जाननेवाले भेदज्ञानी धर्मात्मा को शरीरादि में अपनेपन की कल्पना कभी नहीं होती। चेतनागुण तो आत्मा का है, वह कहीं शरीर का नहीं; शरीर तो चेतनारहित जड़ है—ऐसा जाननेवाला ज्ञानी अपनी ज्ञानक्रिया को शरीर में नहीं मिलाता। इन इन्द्रियों द्वारा मैं जानता हूँ—ऐसा नहीं मानता, तथा शरीर की क्रियाएँ अपने से होती हैं-ऐसा भी कभी नहीं मानता। शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न जानकर आत्मा में ही ज्ञान को मिलाता है-उसी में एकाग्र होता है।

जाननेवाला आत्मा अन्तर में बैठा है, इसलिए आत्मा के कारण शरीरादि की हलन-चलन क्रियाएँ व्यवस्थित होती हैं—ऐसा नहीं है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, वह शरीरादि की क्रियाओं को भी जानता है परन्तु उसकी क्रियाओं को करता नहीं है।

प्रश्न : आत्मा न हो, तब शरीर की क्रिया क्यों नहीं होती ?

उत्तर : आत्मा नहीं होता, तब शरीर स्थिर रहा हुआ है, वह भी उसकी एक क्रिया ही है, उस समय भी उसमें अनन्त रजकण समय-समय आते हैं, और चले जाते हैं। जिस प्रकार गमन करना, वह एक क्रिया है; उसी प्रकार स्थिर रहना भी एक क्रिया है। आत्मा हो तब भी शरीर की क्रिया शरीर से होती है, और आत्मा न हो तो भी शरीर की क्रिया शरीर से ही होती है। आत्मा तो ज्ञानक्रिया का ही करनेवाला है। आत्मा हो और वाणी निकले, वहाँ वास्तव में आत्मा उस वाणी का जाननेवाला ही है, परन्तु अज्ञानी भ्रम से ऐसा मानता है कि 'मैं भाषा बोला'। ज्ञानी अपनी ज्ञानक्रिया के सिवा शरीरादि की किसी क्रिया को अपनी नहीं मानता; वह तो ज्ञानस्वभाव को ही अपना मानकर उसी में एकाग्र होता है।●

अज्ञानी जागता हो, तथापि विभ्रम में है; ज्ञानी सोता हो तब भी मोक्षमार्ग में है

अज्ञानी-बहिरात्मा की सब अवस्थाएँ भ्रमरूप हैं, और ज्ञानी अन्तरात्मा की सर्व अवस्थाएँ भ्रमरहित ही हैं—ऐसा अब कहते हैं—

सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमोऽनात्मदर्शिनाम्।
विभ्रमोऽक्षीणदोषस्य सर्वावस्थाऽऽत्मदर्शिनः ॥९३॥

विदिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते।
देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते ॥९४॥

निद्रित अरु उन्मत्त को, सब जग माने भ्रान्त।
अन्तर-दृष्टि को दिखे, सब जग मोहाक्रान्त ॥९३॥

हो बहिरातम शास्त्र-पटु, हो जाग्रत, नहीं मुक्त।
निद्रित हो उन्मत्त हो, ज्ञाता कर्म-विमुक्त ॥९४॥

अन्वयार्थ :- (**अनात्मदर्शिनाम्**) आत्मस्वरूप का वास्तविक परिज्ञान जिन्हें नहीं है — ऐसे बहिरात्माओं को (**सुप्तोन्मत्तादि अवस्था एव**) केवल सोने व उन्मत्त होने की अवस्था ही (**विभ्रमः**) भ्रमरूप मालूम होती है किन्तु (**आत्मदर्शिनः**) आत्मानुभवी अन्तरात्मा को, (**अक्षीणदोषस्य**) मोहाक्रान्त बहिरात्मा की (**सर्वावस्थाः**) सर्व ही अवस्थाएँ-सुप्त और उन्मत्तादि अवस्थाओं की तरह, जाग्रत, प्रबुद्ध और अनुन्मत्तादि अवस्थाएँ भी (**विभ्रमः**) भ्रमरूप मालूम होती हैं।

(**देहात्मदृष्टिः**) शरीर में आत्मबुद्धि रखनेवाला बहिरात्मा (**विदिताशेषशास्त्रः**

अपि) सम्पूर्ण शास्त्रों का जाननेवाला होने पर भी तथा (**जाग्रत् अपि**) जागता हुआ भी (**न मुच्यते**) कर्मबन्धन से नहीं छूटता है किन्तु (**ज्ञातात्मा**) जिसने आत्मा के स्वरूप को देह से भिन्न अनुभव कर लिया है — ऐसा विवेकी अन्तरात्मा (**सुप्तोन्मत्तः अपि**) सोता और उन्मत्त हुआ भी (**मुच्यते**) कर्मबन्धन से मुक्त होता है-विशिष्टरूप से कर्मों की निर्जरा करता है।

बहिरात्मा को ऐसा प्रतीत होता है कि निद्रा या उन्मत्त अवस्था, वही भ्रमरूप है, जागृत दशा के समय उसे भ्रम नहीं लगता परन्तु ज्ञानी तो जानता है कि जो बहिरात्मा है, उसकी सब अवस्थाएँ भ्रमरूप हैं; वह चाहे पढ़ा-लिखा हो, चतुर हो, जागृत हो, तथापि अपने को शरीरादिरूप मानता हुआ वह भ्रम का ही सेवन कर रहा है, मोह से वह उन्मत्त ही है। जगत कहता है कि प्रवीण है, ज्ञानी कहते हैं कि पागल है। मैं चैतन्य हूँ—ऐसा जिसको अनुभव नहीं और शरीर को ही अपना मान रहा है, वह पागल ही है। तथा इससे विपरीत लें तो, ज्ञानी धर्मात्मा की सब अवस्थाएँ भ्रमरहित ही हैं। कदाचित् उन्मत्त जैसे दिखायी दे या निद्रा में हो, तथापि उस समय ज्ञानी की दशा भ्रमरूप नहीं, परन्तु चैतन्यस्वरूप में वह जागृत ही है, शरीरादि में अपनेपन का भ्रम उसे नहीं होता।

देखो! सीताजी का अपहरण होने से उनके वियोग में रामचन्द्रजी को मूर्च्छा आ जाती है, और वृक्षों तथा पर्वतों से भी पूछते हैं कि कहीं पर सीताजी को देखा है?—तो क्या उस समय वे पागल हैं? यह भ्रमरूप हैं?—नहीं; उस समय भी ज्ञानी हैं, अन्तर में उस समय निःशङ्क अनुभव प्रवर्त रहा है कि हम तो चैतन्यस्वरूप आत्मा ही हैं; सीता या सीताजी के प्रति का राग वह हम नहीं। इस प्रकार ज्ञानी सर्व अवस्थाओं में भ्रमरहित हैं; आत्मा सम्बन्धी भ्रान्ति उसको नहीं होती और अज्ञानी, कदाचित् स्त्री आदि का मरण होने पर भी विलाप न करे, तथापि वह उन्मत्त तथा भ्रमरूप ही है। सत्-असत् को भिन्न जाने बिना, अर्थात् स्व-पर को भिन्न जाने बिना अज्ञानवश अपनी इच्छानुसार दोनों को एकमेक मानता है, ऐसे अज्ञानी का सब ज्ञान और चेष्टाएँ उन्मत्तवत् हैं; इसलिए मिथ्या हैं— ऐसा मोक्षशास्त्र में उमास्वामी ने भी कहा है।

राग और शरीर की सब अवस्थाएँ मेरी हैं—इस प्रकार अज्ञानी को अब अवस्थाओं

में भ्रम प्रवर्तता है और ज्ञानी तो उन सब अवस्थाओं से अपने आत्मा को भिन्न जानता है, वह अपने आत्मा को ज्ञानानन्दस्वरूप अनुभव करता है; इसलिए सर्व अवस्थाओं में वह भ्रमरहित ही है। सोते समय भी वह भ्रान्तिरहित है तथा अज्ञानी जागृत अवस्था में भी भ्रान्तिसहित है। शरीरादि की अवस्था को जो अपनी मानता है, उसे ज्ञानी, पागल-उन्मत्त जानते हैं तथा ज्ञानी, लड़ाई आदि में हों, स्त्री के वियोग में मूर्च्छित हो जायें—वहाँ अज्ञानी को ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी दशा भ्रमरूप है परन्तु नहीं; उस समय भी ज्ञानी चिदानन्दस्वरूप में भ्रमरहित जागृत ही है। ज्ञानी की अन्तरदशा को अज्ञानी नहीं पहिचानता। अन्तरात्मा और बहिरात्मा की पहिचान बाह्यदृष्टि से नहीं होती।

किसी अज्ञानी को रोगादि की प्रतिकूलता आने पर उसे चुपचाप सहन कर ले, तो वहाँ बाह्यदृष्टि को ऐसा लगता है कि यह बड़ा ज्ञानी है, परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि उनकी चेष्टा उन्मत्त जैसी है। तथा ज्ञानी को रोगादि के समय कभी वेदना की तीव्रता मालूम हो, वहाँ बाह्यदृष्टि जीवों को ऐसा लगता है कि यह अज्ञानी होगा, परन्तु वेदना की तीव्रता के समय भी अन्तर में ज्ञानस्वभाव पर ही ज्ञानी की दृष्टि है—ज्ञानस्वरूप में वे निर्भ्रान्त हैं; उस दशा को अज्ञानी पहिचान नहीं सकते।

देखो, पण्डित बनारसीदासजी जब अन्तिम स्थिति में थे, तब उनकी वाणी रुक गयी थी परन्तु अभी प्राण नहीं निकलते थे; तब आसपास बैठे हुए लोगों को ऐसा प्रतीत हुआ कि उनका जीव किसी ममता में अटका हुआ है, इसलिए शरीर को नहीं छोड़ता, परन्तु पण्डितजी तो मृत्युकाल निकट जानकर अपनी भावना में लीन थे। लोगों की मूर्खता देखकर उनका निराकरण करने के लिये उन्होंने संकेत से स्लेट-पेन मँगवाई और उस में लिखा कि—

''ज्ञान कुतक्का हाथ, मारि अरि मोहना;
प्रगट्यो रूप स्वरूप, अनंत सु सोहना।
जा परजैको अंत, सत्यकर मानना;
चले बनारसिदास, फेर नहीं आवना॥''

देखो! यह ज्ञानी की जागृतदशा!! बाह्य से देखनेवालों को ऐसा लगता है कि यह

मूर्च्छित हुए हैं, परन्तु अन्तर में उनका ज्ञान जागृत है, उसकी अज्ञानी को खबर नहीं पड़ती। और अज्ञानी बाह्य में बड़ी-बड़ीं बातें करता हो, रोग के समय धैर्य रखता हो, तथापि अन्तर में भिन्न चैतन्य के वेदन बिना, राग में ही ज्ञान को एकाग्र करके मच्छित हुआ है।

इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी की अन्तरदशा में बड़ा अन्तर है; बाह्य से उसका माप नहीं निकलता। चिदानन्दस्वरूप की दृष्टि में ज्ञानी सदा सर्व अवस्थाओं में नि:शङ्क वर्तता है; इन्द्रियाँ सुसुप्त हों, तब भी उसकी चेतना जागृत है। नींद के समय भी वह आराधक है और अज्ञानी मूढ़ प्राणी, बहिरात्मदृष्टि से शरीरादि की अवस्था को अपनी मानकर सदा भ्रमरूप ही परिणमन करता है। जागता हो तो भी वह मोह निद्रा में सोया है, अन्तर में जो दृष्टि विद्यमान है, वह सर्व अवस्थाओं में अपना कार्य करती ही है।

राग और देह पर ही जिसकी दृष्टि है—ऐसे अज्ञानी की सर्व अवस्थाएँ भ्रमरूप हैं; भले ही वह जागृत हो, शास्त्र पढ़ता हो, तथापि शरीरादि को आत्मा माननेवाला वह जीव अबुध है, सोता ही है, मूर्ख ही है और आत्मा को शरीर से भिन्न माननेवाला ज्ञानी सोते समय या मूर्च्छा समय भी प्रबुद्ध है, स्वरूप में जागृत है, विवेकी है।

यहाँ कोई बहिरात्मा कहता है कि बाल-वृद्ध आदि शरीर की अवस्थारूप आत्मा को माननेवाले अज्ञानी भी, शास्त्र पढ़कर तथा निद्रारहित होकर मुक्ति को प्राप्त कर लेंगे। तो आचार्यदेव उसके उत्तर में कहते हैं कि भले ही अनेक शास्त्र पढ़ा हो तथा जागृत हो, तथापि 'शरीर ही आत्मा है'—ऐसी जिसकी दृष्टि है, वह जीव, मुक्ति को प्राप्त नहीं होता; जागृत होने पर भी और शास्त्र पढ़ने पर भी वह बँधता ही है। शास्त्र पढ़ने का सार तो शरीरादि से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा को जानना था; वह तो अज्ञानी जानता नहीं; इसलिए वास्तव में वह शास्त्र पढ़ा ही नहीं। शास्त्रों का जो आशय था, उसे तो वह बिल्कुल नहीं समझा; और जिसने शरीरादि से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को माना है, वह ज्ञानी सोते समय भी छूटता ही जाता है; सोते समय भी ज्ञान में एकतारूप परिणमन करता है; रागादि में एकतारूप परिणमन नहीं करता, इसलिए क्षण-क्षण उसका छुटकारा ही होता जाता है; सुप्त एवं उन्मत्त अवस्था के समय भी भेदज्ञान के कारण उसे विशिष्ट कर्मनिर्जरा होती रहती है।

देखो, अज्ञानी सर्व अवस्थाओं में बँधता ही है और ज्ञानी सर्व अवस्थाओं में मुक्त ही है। चाहे शास्त्र के शब्द पढ़ना नहीं आता हो, तथापि शरीरादि से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को जिसने जाना, उसने सर्व शास्त्रों का रहस्य जान लिया है।

'अज्ञानी सोते अच्छे और ज्ञानी जागते अच्छे' क्योंकि अज्ञानी सोता हो तो सोने में पाप तो न करे—ऐसा कितने ही लोग करते हैं परन्तु यहाँ तो आचार्यदेव कहते हैं कि अरे भाई! शरीर में आत्मबुद्धि के कारण अज्ञानी जीव सोते समय भी मिथ्यात्व का महापाप बाँध रहे हैं। अज्ञानी जागृत हो, तब पाप बँधता है और सोते समय उसे पाप नहीं होता, यह उसकी भ्रमणा है। उसी प्रकार ज्ञानी को जागृतदशा में धर्म रहता है और सोते समय अनुभव चला जाता है—ऐसा नहीं; सोते समय ज्ञानी को आत्मानुभव का परिणमन होता ही रहता है। सोने की दशा हो या जागृतदशा हो, विवेकी दशा हो या उन्मत्त जैसी दशा हो, तथापि ज्ञानी को सब अवस्था में आत्मज्ञान समान ही है तथा अज्ञानी को सर्व अवस्थाओं में अज्ञान ही वर्त रहा है। जिसमें हितबुद्धि होती है, उसी में उसके श्रद्धा-ज्ञान वर्त रहे हैं। ज्ञानी को आत्मा में ही हितबुद्धि है; इसलिए सोते समय भी उसे आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान वर्तते हैं तथा अज्ञानी को शरीरादि बाह्य विषयों में सुखबुद्धि है; इसलिए निरन्तर शरीरादि में ही उसके श्रद्धा-ज्ञान-लीनता वर्तते हैं। ज्ञानी को ज्ञानस्वरूपी आत्मा की प्रतीति प्रतिक्षण वर्त रही है, वही उसकी मुक्ति का चिह्न है। इस प्रकार भेदज्ञान करके निर्विकल्प प्रतीति और अनुभव की दृढ़ता करना ही मोक्ष का सर्वोत्तम मुख्य उपाय है, और वही उपादेय है।

प्रश्न : भेदज्ञान का अभ्यास कब तक करना चाहिए?

उत्तर : ज्ञानानन्दस्वरूप में अन्तर्मुख होकर निर्विकल्प अनुभव हो, तब तक भेदज्ञान का प्रयत्न करते रहना चाहिए तथा भेदज्ञान के बाद भी केवलज्ञान हो, तब तक उस ज्ञानानन्दस्वरूप में लीनता का बारम्बार प्रयत्न करते रहना चाहिए। इस प्रकार आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप को जानकर, उसमें लीनता करना ही मोक्ष का श्रेष्ठ उपाय है; वह एक ही उपाय है और दूसरा कोई उपाय नहीं है। मैं ज्ञानस्वरूपी आत्मा हूँ—ऐसा निर्णय करके उसी का अवधान करना, उसी का ध्यान धरना। इस प्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा की श्रद्धा करके उसमें लीनता करने से मुक्ति होती है। ●

जहाँ सुखबुद्धि, वही परिणाम स्थिर
जहाँ सुखबुद्धि नहीं, वहाँ विरक्त रहते हैं

सुप्त आदि अवस्था में भी ज्ञानी को स्वरूप का संवेदन क्यों बना रहता है ? यह बात अब स्पष्ट करते हैं और अन्यत्र कहीं उसके परिणाम क्यों लीन नहीं होते—यह बात दो श्लोकों में समझाते हैं।

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैवे लीयते॥९५॥
यत्रानाहितधीः पुंसः श्रद्धा तस्मान्निवर्तते।
यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः॥९६॥

जहाँ बुद्धि हो मग्न वहीं, हो श्रद्धा निष्पन्न।
हो श्रद्धा जिसकी जहाँ, वहीं पर तन्मय मन॥९५॥
जहाँ नहीं मति-मग्नता, श्रद्धा का भी लोप।
श्रद्धा बिन कैसे बने, चित्त-स्थिरता योग॥९६॥

अन्वयार्थ :- (**यत्र एव**) जहाँ ही — जिस किसी विषय में ही (**पुंसः**) पुरुष को (**आहितधीः**) दत्तावधानरूप बुद्धि होती है (**तत्रैव**) वहीं, अर्थात् उसी विषय में उसे (**श्रद्धा जायते**) श्रद्धा उत्पन्न होती है और (**यत्र एव**) जहाँ ही - अर्थात् जिस विषय में ही (**श्रद्धा जायते**) श्रद्धा उत्पन्न होती है, (**तत्रैव**) वहाँ ही - उस विषय में ही (**चित्तं लीयते**) उसका मन लीन हो जाता है-तन्मय बन जाता है।

(**यत्र**) जिस विषय में (**पुंसः**) पुरुष की (**अनाहितधीः**) बुद्धि दत्तावधानरूप नहीं होती, (**तस्मात्**) उससे (**श्रद्धा**) श्रद्धा (**निवर्तते**) हट जाती है-उठ जाती है;

और (**यस्मात्**) जिससे (**श्रद्धा**) श्रद्धा (**निवर्तते**) हट जाती है, (**चित्तस्य**) चित्त की (**तल्लयः कुतः**) उस विषय में लीनता कैसे हो सकती है ? अर्थात्, नहीं होती।

'इसी में तेरा हित है' इस प्रकार जिस विषय में जीव को हितबुद्धि होती है, उसी में उसको श्रद्धा उत्पन्न होती है तथा जिस विषय में श्रद्धा होती है, उसी में उसके चित्त की लीनता होती है। धर्मात्मा को अपने आत्मस्वरूप में ही हितबुद्धि होने से, निद्रा आदि अवस्थाओं में भी उसकी श्रद्धा वर्तती रहती है तथा अज्ञानी को बाह्य विषयों में हितबुद्धि होने से, उसे बाह्य विषयों में ही श्रद्धा और लीनता वर्तती रहती है। इस प्रकार जहाँ रुचि, वहाँ श्रद्धा और जहाँ श्रद्धा, वहाँ एकाग्रता होती है।

प्रथम, आत्मा में ऐसी हितबुद्धि होनी चाहिए कि अहो ! इस जगत में कहीं मेरा सुख हो तो वह अपने आत्मा में ही है; अपने आत्मा से बाह्य जगत के किसी भी विषय में मेरा सुख नहीं है—ऐसा दृढ़ निर्णय करे तो आत्मा में हितबुद्धि होने से उसकी रुचि होती है। जिसको आत्मा की रुचि है, उसे स्वप्न में भी बाह्य विषयों में सुखबुद्धि नहीं होती। शुद्धचिदानन्द आत्मा में ही सुखबुद्धि होने से, स्वप्न में भी उसी का स्मरण रहा करता है। मैं चिदानन्द हूँ, मैं ज्ञायक हूँ—ऐसी प्रतीति का परिणमन धर्मी को निरन्तर होता है तथा अज्ञानी को, 'शरीर वह मैं, राग वह मैं'—ऐसी विपरीत प्रतीति का परिणमन निरन्तर होता है।

जीव को जिस विषय की रुचि, श्रद्धा और लीनता होती है, उसी का उसे स्मरण होता रहता है। धर्मी को स्वप्न भी ऐसा आता है कि—मैं चरमशरीरी हूँ, मैं भगवान की सभा में बैठा हूँ, मुनि मुझे आशीर्वाद देते हैं—इस प्रकार रुचि और श्रद्धा का पुरुषार्थ, जीव को उस विषय से दूर नहीं होने देता, उसे उसी का स्मरण होता रहता है। वज्रपात हो या देव चलायमान करने आये तो भी धर्मी की श्रद्धा में आत्मा की रट नहीं जाती।—मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ—ऐसी श्रद्धा की रट उसे निरन्तर लगी ही रहती है। इस प्रकार जिसमें हितबुद्धि हो, उसमें श्रद्धा और लीनता होती है, उपयोग बारम्बार उस ओर जाता है; और जिसमें हितबुद्धि न हो, उसमें जीव को श्रद्धा या लीनता नहीं होती, अर्थात् उसमें वह अनासक्त ही होता है।

मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ और शरीरादि अचेतन हैं—इस प्रकार जहाँ दोनों की

भिन्नता जानी, वहाँ आत्मा में आत्मबुद्धि होकर शरीर में से आत्मबुद्धि छूट गयी। जिसमें आत्मबुद्धि न हो, उसमें लीनता भी नहीं होती। जिसे सचमुच अपने से भिन्न माना, उस विषय में सुखबुद्धि नहीं रहती; इसलिए श्रद्धा उससे पराङ्मुख हो गयी और जिसमें श्रद्धा न हो, उसमें लीनता भी नहीं होती। इस प्रकार ज्ञानी धर्मात्मा जगत के सर्व विषयों के प्रति अनासक्त है।

अरे जीव! एक बार तू निर्णय तो कर कि तेरा हित और तेरा सुख किसमें हैं?— जिसमें सुखबुद्धि हो, उसकी रुचि और उसमें लीनता होती है। आत्मा का ज्ञानपद बतलाकर आचार्यदेव कहते हैं कि—

इसमें सदा रतिवंत बन, इसमें सदा सन्तुष्ट रे।
इससे हि बन तू तृप्त, उत्तम सौख्य हो जिससे तुझे ॥२०६॥

इस ज्ञानस्वरूप आत्मा के सिवा अन्यत्र कहीं तेरा सुख नहीं है; इसलिए उसकी रुचि मत कर, प्रीति मत कर, उसमें एकाग्रता मत कर। सुख तो आत्मा के अनुभव में है— एक समय भी ऐसा लक्ष्य करे तो उसके परिणामों का वेग पर की ओर से विमुख हो जाये... उसके विषय अति मन्द हो जायें। जिसमें सुख नहीं उसका उत्साह क्या? ज्ञानी बाह्यसामग्री के बीच खड़ा हुआ दिखायी दे, राग भी दिखायी दे, परन्तु उसकी रुचि की दिशा बदल गयी है; उसकी श्रद्धा, शुद्धात्मा में ही प्रविष्ट हो गयी है, इसलिए शुद्धात्मा की श्रद्धा या प्रीति छोड़कर उसे किसी प्रकार का राग नहीं आता। जिसने स्वभाव के सुख का स्वाद ले लिया, उसे परभावों में कहीं एकत्वबुद्धि से लीनता नहीं होती। इस प्रकार ज्ञानी की परिणति, पर विषयों से विमुख होकर निजात्मा को ही ध्येय बनती है।●

मुनिराज को कोई जिम्मेदारी नहीं

मुनि को कर्म-प्रक्रम नहीं होता। मुनि अपने जिम्मे कोई कार्य नहीं लेते, पाठशाला का ध्यान रखना पड़ेगा, रकम उगाहने हेतु तुम्हें जाना पड़ेगा, तीर्थ हेतु रकम उगाहना पड़ेगा — ऐसे किसी भी कार्य को मुनि अपने जिम्मे लेते ही नहीं। मुनि किसी भी प्रकार की जिम्मेदारी रखते ही नहीं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, जिणसासणं सव्वं, २७२, पृष्ठ १६

सिद्ध को पहचानकर उपासना से सिद्धि की प्राप्ति

अब, ध्येयरूप शुद्धात्मा, जिसमें कि चित्त को लीन करना है, उसकी उपासना दो प्रकार से है—एक भिन्न उपासना और दूसरी अभिन्न उपासना। इन दोनों का स्वरूप दृष्टान्तसहित समझाते हैं; तथा उसका फल भी बतलाते हैं।

धर्मात्मा को जिस विषय में चित्त की लीनता करनेयोग्य है, उस ध्येय की उपासना दो प्रकार से है—एक तो भिन्न आत्मा—अरिहन्त-सिद्धभगवान; तथा दूसरा-अभिन्न ऐसा अपना आत्मा। उसमें भिन्न आत्मा की उपासना का क्या फल है, वह दृष्टान्तसहित बतलाते हैं—

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी॥९७॥

जैसे दीप-संयोग से, वाती बनती दीप।
त्यों परमात्मा ध्यान से, परमात्मा हो जीव॥९७॥

अन्वयार्थ :- (**आत्मा**) यह आत्मा (**भिन्नात्मानं**) अपने से भिन्न आत्मा की (**उपास्य**) उपासना करके, (**तादृशः**) उन्हीं के समान (**परः भवति**) परमात्मा होता है; (**यथा**) जैसे, (**भिन्ना वर्तिः**) दीपक से भिन्न बत्ती भी (**दीपं उपास्य**) दीपक की उपासना करके — उसका सामीप्य प्राप्त करके, (**तादृशी**) उसके जैसी - दीपकस्वरूप (**भवति**) हो जाती है।

यह आत्मा अपने से भिन्न ऐसे अरिहन्त तथा सिद्ध परमात्मा की उपासना -आराधना करके उनके जैसा परमात्मा स्वयं हो जाता है—किस प्रकार ?—कि दीपक से भिन्न ऐसी जो वर्तिका, वह भी दीपक की आराधना करके (अर्थात् उसकी अत्यन्त

निकटता प्राप्त करके) स्वयं दीपकस्वरूप हो जाती है; उसी प्रकार अरिहन्त तथा सिद्ध परमात्मा के स्वरूप का ध्यान करने पर, आत्मा स्वयं परमात्मा हो जाता है।

श्री समयसार की प्रथम गाथा में भी यह बात कही है। वहाँ **'वंदितु सव्वसिद्धे'** —ऐसा कहकर सर्व सिद्धों को वन्दन किया... किस प्रकार?—कि सिद्ध भगवान पूर्ण शुद्धता को प्राप्त हुए हैं; इसलिए वे साध्यस्वरूप जो शुद्ध आत्मा, उसके प्रतिछन्द के स्थान में है, इसलिए उन सिद्ध भगवान का ध्यान करके यह आत्मा भी उनके जैसे हो जाता है। इस प्रकार भिन्न में से अभिन्न में आ जाये, परलक्ष्य छोड़कर स्वतत्त्व को लक्ष्य में ले, तब उसकी भिन्न-उपासना भी सच्ची कही जाती है; तथा वह स्वयं उपास्य जैसा परमात्मा बन जाता है, परन्तु मात्र परसन्मुख ही देखता रहे तो उसे भिन्न-उपासना भी सच्ची नहीं होती और उसका सच्चा फल उसे प्राप्त नहीं होता।

श्री प्रवचनसार गाथा ८० में भी कहा है कि—

जो जानता अरहंत को गुण-द्रव्य अरु पर्याय से,
वह जीव जाने आत्म को तसु मोह नष्ट अवश्य हो।

द्रव्य-गुण तथा पर्याय तीनों से सर्वत: शुद्ध ऐसे भगवन्त अरिहन्तदेव के आत्मा को जानने से, उस जैसे अपने शुद्धस्वरूप को भी जीव जान लेता है; इसलिए उसका मोह नष्ट हो जाता है। इस परमात्मा को जानकर उपासना करनेवाला स्वयं भी परमात्मा हो जाता है।

देखो! यह परमात्मा की उपासना का फल! परन्तु उपासना किस प्रकार करें? केवलज्ञानी परमात्मा को प्रतीत में लेकर उनको उपास्य रूप से जिसने अङ्गीकार किया उसने अपने आत्मा में से रागादि और अल्पज्ञता की महिमा निकाल दी तथा पूर्ण सामर्थ्यवान ज्ञानस्वभाव का ही आदर किया; इस प्रकार ज्ञानस्वभाव का ही आदर करके स्वयं अपने स्वभावोन्मुख हो जाता है, वही अरिहन्त तथा सिद्ध परमात्मा की यथार्थ उपासना है तथा इस प्रकार ज्ञानस्वभाव की ओर झुककर उसमें एकाग्र होने से वह स्वयं भी परमात्मा हो जाता है।

देखो! भिन्न आत्मा की उपासना में मात्र भिन्न का ही लक्ष्य नहीं, परन्तु भिन्न आत्मा

का लक्ष्य छोड़कर, स्वयं अपने अभिन्न आत्मा की ओर उन्मुख हो जाता है, तब ही भिन्न आत्मा की (अरिहन्त-सिद्ध भगवान की) परमार्थ उपासना हुई। मात्र राग द्वारा भगवान की भक्ति करता रहे और उस राग द्वारा लाभ मानता रहे तो वह यथार्थ सर्वज्ञ भगवान की उपासना नहीं करता परन्तु राग की ही उपासना करता है; सर्वज्ञ की उपासना करने की विधि वह नहीं जानता। 'सर्वज्ञ की निकटता' करके उसकी उपासना करे कि अहो! ऐसी सर्वज्ञता!—जिसमें राग नहीं, अल्पज्ञता नहीं; परिपूर्ण ज्ञान और आनन्द का जिसमें परिणमन है; मेरे आत्मा का भी ऐसा ही स्वभाव है—ऐसी प्रतीति करके ज्ञानस्वभाव का बहुमान करके और रागादि का बहुमान छोड़कर, ज्यों ही स्वयं अपने ज्ञानस्वभाव में तन्मय हुआ, त्यों ही भाव-अपेक्षा से भगवान के साथ एकता हुई। जिस प्रकार भगवान का भाव है, उसी प्रकार का भाव अपने अन्तरङ्ग में प्रगट हुआ, इसलिए उसने भगवान की उपासना की। इस प्रकार से जो जीव, सर्वज्ञ परमात्मा की उपासना करते हैं, वे स्वयं परमात्मा हो जाते हैं।

केवली भगवान की परमार्थ-स्तति का स्वरूप श्री समयसार की ३१ वीं गाथा में कहा है। वहाँ भी ऐसा ही कहा है कि जो जीव, इन्द्रियों से भिन्न अपने उपयोगस्वरूप आत्मा को जानते हैं, वे जितेन्द्रिय हैं तथा वही केवलज्ञानी की परमार्थ स्तुति है। देखो! इसमें केवलज्ञानी की ओर तो लक्ष्य भी नहीं; आत्मा की ओर ही लक्ष्य है, तथापि उसे केवलज्ञानी की स्तुति कहते हैं। प्रथम, उस ओर लक्ष्य था और उसके द्वारा निजस्वरूप का निर्णय करके स्वसन्मुख हो जाता है, तब ही सच्ची स्तुति होती है। पञ्च परमेष्ठी की परमार्थ उपासना, आत्मा के आश्रय से होती है; पर के आश्रय से नहीं होती। बीच में जितना राग रह जाता है, उतनी तो उपासना की निर्बलता है। सर्वज्ञ का निर्णय अपने ज्ञानस्वभाव के आश्रय से ही होता है। ज्ञान अल्प होने पर भी, उस ज्ञान को पूर्ण ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख करने से उसमें सर्वज्ञता का निर्णय होता है। वर्तमान में जिसे सर्वज्ञ के निर्णय का भी पता नहीं, उसे सर्वज्ञ की उपासना कहाँ से हो?

अरिहन्त और सिद्ध भगवान को जैसा परिपूर्ण ज्ञान और आनन्द प्रगटरूप प्रसिद्ध है, वैसा ही ज्ञान और आनन्दरूप मेरा स्वभाव है, इसी प्रकार अरिहन्त और सिद्ध को ध्येय

बनाकर उनकी भाँति आपने आत्मा की ओर उन्मुख होकर, उसकी श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रतारूप आराधना से जीव स्वयं परमात्मा हो जाता है।

अरिहन्त और सिद्ध भगवान की उपासना को भिन्न उपासना कहते हैं, परन्तु वह कब? कि जब आत्मा की ओर उन्मुख होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करे तब। इसलिए वास्तव में तो अभिन्न उपासनारूप निश्चय प्रगट हुआ, तब भिन्न उपासना को व्यवहार कहते हैं। जो मात्र पर के सामने ही देखा करे और स्व-सन्मुख न हो, उसे तो अभिन्न या भिन्न एक भी उपासना नहीं होती—ऐसा समझना चाहिए।●

प्रतिकूलता में भी सन्तों को दुःख नहीं

बाह्य प्रतिकूल संयोग होने पर भी सन्तों को दुःख नहीं होता, क्योंकि चैतन्यमूर्ति आत्मा अस्पर्श स्वभावी है, वह परसंयोगों को स्पर्श नहीं करता; अतः उसे संयोगों का दुःख नहीं है।

धर्मात्मा को अन्तर स्वभाव की दृष्टि से आत्मा के परम आनन्द का स्पर्श हुआ है, आनन्द का अनुभव हुआ है और फिर विशेष लीनता होने पर वीतरागी चारित्रदशा प्रगटी है, उसमें परम आनन्द की लहरें बढ़ गई हैं।

भगवान वन में अकेले रहते थे, इसलिए दुःखी थे – ऐसा नहीं है। वे तो अन्तर के चैतन्यवन में आत्मा के आनन्द की मस्ती में रहते थे। वास्तव में भगवान वन में रहे ही नहीं, वे तो शरीर में भी नहीं रहते थे, पञ्च-महाव्रत के शुभराग में भी नहीं रहते थे; वे तो अपने आत्मस्वभाव में रहकर आत्मा के आनन्द में झूलते थे।

सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करके भगवान ने दीक्षा ली। इसके पश्चात् आत्मध्यान में लीन होते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान प्रगट हो जाता है।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, राजकोट : वीर सं. २४७६, फाल्गुन शुक्ल दशमी, दीक्षाकल्याणक दिवस

आत्मा स्वयं अपनी उपासना से परमात्मा होता है

अब, अभिन्न उपासना का दृष्टान्त तथा फल कहते हैं—

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा।
मथित्वाऽऽत्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः ॥९८॥

निज आतम के ध्यान से, स्वयं बने प्रभु आप।
बाँस रगड़ से बाँस में, स्वयं प्रगट हो आग॥९८॥

अन्वयार्थ :- (**अथवा**) अथवा (**आत्मा**) यह आत्मा (**आत्मानम्**) अपने चित्स्वरूप को ही (**उपास्य**) चिदानन्दमयरूप से आराधन करके, (**परमः**) परमात्मा (**जायते**) हो जाता है, (**यथा**) जैसे, (**तरुः**) बाँस का वृक्ष (**आत्मानं**) अपने को (**आत्मैव**) अपने से ही (**मथित्वा**) रगड़कर, (**अग्निः**) अग्निरूप (**जायते**) हो जाता है।

आत्मा की उपासना में, भिन्न उपासना और अभिन्न उपासना—ऐसे दो प्रकार हैं; अरिहन्त-सिद्ध के स्वरूप को जानकर, वैसा अपने स्वरूप का ध्यान करना, वह उपासना है; उसमें अरिहन्त की उपासना कहना, वह भिन्न उपासना है, और अपने स्वरूप की उपासना कहना, वह अभिन्न उपासना है। भिन्न उपासना की बात ९७ वीं गाथा में की; तथा बाँस में से स्वयं अग्नि होती है, उस दृष्टान्त से अभिन्न उपासना का स्वरूप इस गाथा में समझाते हैं।

जिस प्रकार बाँस का वृक्ष बाहर के अन्य किसी साधन बिना स्वयं अपने साथ ही रगड़ने से अग्निरूप हो जाता है; उसी प्रकार आत्मा अन्य किसी के अवलम्बन बिना स्वयं अपने में ही एकाग्रता के मन्थन द्वारा परमात्मा हो जाता है।

जिस प्रकार बाँस में शक्तिरूप से अग्नि भरी हुई है, उसमें रगड़ से स्वयं व्यक्त

अग्निरूप परिणमन हो जाता है; उसी प्रकार आत्मा में परमात्मदशा शक्तिरूप पड़ी है, वह आत्मा अन्तर में एकाग्र होकर स्वभाव का मन्थन करते-करते स्वयं परमात्मदशारूप में परिणमित हो जाता है। इसमें जो त्रिकाल शक्ति है, वह शुद्ध उपादान है, तथा पूर्व की मोक्षमार्गरूप पर्याय, वह व्यवहार कारण है। त्रिकालरूप जो शुद्धस्वभाव है, वही मोक्ष का परमार्थ कारण है। उस कारणस्वरूप में एकाग्र होने से मोक्ष होता है। यहाँ तो अभिन्न उपासना बतलाना है, इसलिए आत्मा स्वयं अपने में एकाग्रता द्वारा अपनी उपासना करके परमात्मा हो जाता है। देखो! यह मोक्ष का सुगम मार्ग है! आत्मा की उपासना ही मोक्ष का सुगम तथा अचल मार्ग है।

देखो! इसमें निश्चय-व्यवहार किस प्रकार आया? त्रिकाल कारणपरमात्मा भूतार्थ होने से वह मोक्ष का निश्चयकारण है, तथा मोक्षमार्गरूप पर्याय तो अभूतार्थ होने से व्यवहारकारण है। 'अभिन्न उपासना में' संयोग की बात नहीं आती, संयोग तो भिन्न है।

जिस प्रकार बाँस का वृक्ष स्वयं अपनी डालियों के साथ ही रगड़ते-रगड़ते अग्निरूप हो जाता है; उसी प्रकार आत्मा स्वयं अपने गुणों के साथ घर्षण से, अर्थात् अन्तर्मन्थन से पर्याय को आत्मा में एकाग्र करते-करते स्वयं परमात्मा हो जाता है। अन्तरस्वरूप में लीन होकर आत्मा में अभेदता करना, वह अभेद उपासना है और अभेद उपासना ही मोक्ष का कारण है।

प्रश्न : भिन्न उपासना का फल भी तो मोक्ष कहा था?

उत्तर : वहाँ भिन्न उपासना में से अभिन्न उपासना में आ जाता है-वह परमात्मा होता है। अरिहन्त और सिद्धभगवान का निर्णय करके, वैसे अपने स्वभाव की ओर जो झुक गया, अर्थात् भिन्न उपासना छोड़कर अभिन्न उपासना में आ गया, उसे परमात्मदशा हुई; वहाँ निमित्त से उसे भिन्न उपासना का फल कहा है।

यहाँ तो अभेद की बात है। ध्रुवस्वभाव के साथ अभेद होकर मोक्षपर्यायरूप कार्य हुआ है, इससे वह निश्चयकारण है। मोक्षपर्याय, वह भी व्यवहारनय का विषय है तथा अभेद द्रव्य, निश्चयनय का विषय है। उसी के आश्रय से मुक्ति होती है।

देखो, यह मोक्ष का मार्ग कहा जाता है।

अपने को आप भूल के हैरान हो गया।
अपने को आप जानके मुक्त हो गया॥

अज्ञान से संसार तथा भेदज्ञान से मोक्ष। भेदज्ञान किसे कहते हैं—उसकी यह बात है। भेदज्ञानी अपने चिदानन्दस्वभाव को शरीरादि से भिन्न, रागादि से भिन्न जानकर, उसी में एकाग्रता करके मुक्त होता है। अज्ञानी, रागादि को अपना स्वरूप मानकर, उसमें एकाग्रता करने से ही संसार में परिभ्रमण करता है।

मोक्ष के लिए किसकी उपासना करना ?—अपने आत्मा की ही उपासना से मुक्ति होती है। बाह्य-पदार्थों की ओर का सङ्कल्प-विकल्प छोड़कर स्वयं अपने आत्मा में लीन होकर उसकी उपासना करने से परमात्मदशा प्रगट हो जाती है।—इसमें स्वयं ही उपासक है और स्वयं ही उपास्य है; इसलिए यह अभिन्न उपासना है, ऐसी उपासना बिना मुक्ति नहीं। जिस प्रकार बाँस के वृक्ष को अग्निरूप होने में अपने से भिन्न दूसरे साधन / निमित्त नहीं, स्वयं अपने में ही घर्षण से अग्निरूप होता है; उसी प्रकार आत्मा को परमात्मा होने में अपने से भिन्न दूसरे साधन नहीं, स्वयं अपने में ही घर्षण से (निर्विकल्प में लीनता से) अपने ध्यान से ही परमात्मा हो जाता है। निजस्वरूप को ध्येय बनाकर अनन्त जीव सिद्धपद को प्राप्त हुए हैं। अनन्त जीव आत्मा में एकाग्र होकर परमात्मा हुए हैं, परन्तु पर में एकाग्र होकर परमात्मा नहीं हुए।

आत्मा का द्रव्यस्वभाव त्रिकाल मोक्षस्वरूप है, उस शक्ति के ध्यान से मुक्ति होती है। ध्याता, ध्यान और ध्येय यह कहीं भिन्न-भिन्न नहीं। आत्मा स्वयं ध्याता, स्वयं ही ध्येय और अपने में ही एकाग्रतारूप ध्यान—ऐसी अभिन्न आराधना का फल मोक्ष है। ध्याता और ध्येय का भी वहाँ भेद नहीं रहता; द्रव्य-पर्याय की एकता होकर वहाँ द्रव्य ध्येय और पर्याय ध्याता—ऐसा भी भेद नहीं रहता।—ऐसी अभेद उपासना से आत्मा परमात्मा हो जाता है।

देखो, भाई! एक बार इस बात का अन्तर में निर्णय तो करो... जिसको मार्ग का निर्णय सच्चा होगा, उसके संसार का अन्त आयेगा, परन्तु मार्ग का ही निर्णय नहीं करे और विपरीत मानेगा तो अनन्त काल तक अन्त नहीं आयेगा। अरे! ऐसा भव पा करके जीवन

में सत्य मार्ग के निर्णय का भी अवकाश न ले तो उसने जीवन में क्या किया? मार्ग के निर्णय बिना तो जीवन व्यर्थ है। इसलिए आत्मा के हित के लिए मार्ग का निर्णय करना चाहिए। निर्णय करनेवाले का जीवन भी सफल है। जिसने यथार्थ मार्ग का आत्मा में निर्णय कर लिया है, वह क्रम-क्रम से उस मार्ग में चलकर मुक्ति को प्राप्त करेगा।

इस प्रकार आत्मस्वरूप की आराधना से ही मुक्ति होती है; इसलिए उसी की भावना करनी चाहिए। ●

मुनिपना अर्थात् परमेश्वरपद

मुनि को वह विकल्प दुःखदायक लगता है। बाहर आना उन्हें अच्छा नहीं लगता। पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण विकल्प के भाव आयें - उपयोग ज्यों ही बाहर जाए कि तुरन्त सहजरूप से स्वभाव की ओर ढल जाते हैं। तुरन्त ही इस शुभ को छोड़ूँ और अन्तर में स्थिर होऊँ - ऐसे विकल्प से नहीं, किन्तु सहजस्वभाव के बल से स्वोन्मुख हो जाते हैं। अहाहा! अतीन्द्रिय आनन्दामृत का सागर जहाँ दृष्टि तथा अनुभव में आया, वहाँ उसके निर्विकल्प स्वाद की दशा में से उपयोग बाहर आने पर विकल्प आया, लेकिन तुरन्त ही स्वरूपानन्द में ढल जाते हैं। अहा! ऐसी है छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए मुनिराज की दशा!

'बाहर आना पड़े, वह बोझ या उपाधि लगता है।'

अरे! उपदेश देने का विकल्प आये, आहार लेने का विकल्प आये- वह सब बोझ या उपाधि लगता है। राग के भार से रहित ज्ञायकवस्तु में विकल्प बोझ के समान लगता है। अनाकुल आनन्द के रसिक भगवान आत्मा को राग तो आकुलता, दुःख एवं भाररूप लगता है। मुनि आनन्द में स्थित हैं, उन्हें बाहर आना नहीं रुचता। अहाहा! मुनिपना, वह तो परमेश्वरपद है। मुनि पञ्च परमेष्ठियों में आते हैं न?

दो छोटे पाण्डव भ्राताओं को विकल्प आया कि तीनों ज्येष्ठ भ्राता उपसर्ग में कैसे होंगे? इतने मात्र से बन्ध हो गया और दो भव बढ़ गये। बाहर आना पड़े; विकल्प उठे, वह मुनि को बोझरूप लगता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, २/५१

आत्मभावना भाओ... और परमपद को पाओ

आत्मस्वरूप की भावना करने से आत्मा स्वयं स्वत: परमात्मपद को प्राप्त होता है– ऐसा अब कहते हैं।

इतीदं भावयेन्नित्यमवाचांगोचरं पदम्।
स्वत एव तदाप्नोति यतो नावर्तते पुनः॥९९॥

भेदाभेद स्वरूप का, सतत चले अभ्यास।
मिले अवाची पद स्वयं, प्रत्यावर्तन नाश॥ ९९॥

अन्वयार्थ :– **(इति)** उक्त प्रकार से **(इदं)** भेद–अभेदरूप आत्मस्वरूप की **(नित्यं)** निरन्तर **(भावयेत्)** भावना करनी चाहिए — ऐसा करने से **(तत्)** उस **(अवाचांगोचरं पदं)** अनिर्वचनीय परमात्मपद को **(स्वत एव)** स्वयं ही यह जीव **(आप्नोति)** प्राप्त करता है **(यतः)**, जिस पद से **(पुनः)** फिर **(न आवर्तते)** वापस नहीं आता — पुनर्जन्म लेकर संसार में भ्रमण करना नहीं पड़ता।

पूर्व की गाथाओं में भिन्न उपासना का और अभिन्न उपासना का स्वरूप कहा, इन दोनों में शुद्धात्मस्वरूप की सन्मुखता है। इस प्रकार जानकर निरन्तर उस शुद्ध आत्मा की भावना करनी चाहिए; उसकी भावना से वचन–अगोचर ऐसा परमपद स्वत: प्राप्त होता है कि जिसमें से कदापि पुनरागमन नहीं होता।

सिद्ध भगवान तथा अरिहन्त भगवान को जानकर प्रथम तो आत्मा के वीतराग–विज्ञान स्वभाव का निर्णय करना चाहिए तथा फिर उसकी भावना से उसमें एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिए। यही परमात्मा होने का उपाय है। किसी निमित्त का आश्रय करके

या रागादिक का आश्रय करके सिद्ध या अरिहन्त भगवान, परमात्मदशा को प्राप्त नहीं हुए, परन्तु आत्मस्वरूप का आश्रय करके उसी के ध्यान में परमात्मदशा को प्राप्त हुए हैं।

श्री समयसार गाथा ४१० में कहते हैं कि शरीराश्रित मोक्षमार्ग नहीं; अरिहन्त भगवन्तों ने शरीर का ममत्व छोड़कर शुद्धात्मा के आश्रय से दर्शन-ज्ञान-चारित्र की ही मोक्षमार्गरूप से उपासना की है। भगवन्तों ने स्वद्रव्याश्रित ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही मोक्षमार्ग कहा है; इसलिए हे भव्य! शुद्धज्ञानचेतनामय होकर तू अपने आत्मा को ध्या।

अपने शुद्ध आत्मा की भावना के प्रभाव से ही आत्मा सर्वज्ञ होता है। अहो! सर्वज्ञपद की महिमा वचन से अगोचर है!! उसकी प्राप्ति शुद्धात्मा की भावना से अर्थात् स्वानुभव से होती है। इसलिए श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं कि 'अनुभवगोचर मात्र रहा वह ज्ञान जो।' सर्वज्ञस्वभाव से भरे हुए अपने चैतन्यपद को छद्मस्थ-ज्ञानी भी अपने स्वानुभव से बराबर जाना सकता है। उसको जानकर उसी की नित्य भावना करने जैसी है।

शुद्धस्वरूप की भावना करनेवाला, अर्थात् पर्याय को अन्तर्मुख करके स्वरूप में लीन होनेवाला जीव स्वयं अपने से ही सिद्धपद प्राप्त करता है, किसी अन्य बाह्य साधन के कारण सिद्धपद प्राप्त नहीं होता। संस्कृत में लिखा है कि मोक्ष किस विधि से प्राप्त होता है? कि **'स्वत एव आत्मनैव परमार्थतो न पुनः गुरु आदि बाह्यनिमित्तात्'** अर्थात् अपने द्वारा अपने आत्मा से ही परमार्थ मोक्ष को प्राप्त होते हैं, न कि गुरु आदि बाह्य निमित्त से? देखो, कितनी स्पष्ट बात की है।

जिसको अपना मोक्षपद साधना है तो उस मोक्षपद को प्राप्त हुए (अरहन्त और सिद्ध) तथा उसे साधनेवाले (साधु, मुनिराज आदि) जीव कैसे होते हैं, उसकी पहिचान तो उसे होती है; इससे विपरीत की ओर उसका भाव झुकता नहीं, परन्तु यहाँ तो इससे आगे बढ़कर अन्तिम आराधना की पूर्णता की उत्कृष्ट बात है। सच्चे देव-गुरु को पहिचानने के बाद भी, उनके लक्ष्य से राग में रुक नहीं जाता, परन्तु उनके जैसा निजस्वरूप के अनुभव में एकाग्र होकर मोक्ष को साधता है। जितनी निजस्वरूप में एकाग्रता, उतना मोक्षमार्ग। अहो! मात्र स्वाश्रय में मोक्षमार्ग है; अंशमात्र पराश्रय मोक्षमार्ग में नहीं। मोक्षमार्ग में पर का

आश्रय माने, उसने सच्चे मोक्षमार्ग को पहिचाना नहीं। भाई! पर के आश्रय से मोक्षमार्ग मानेगा तो उसका लक्ष्य छोड़कर निजस्वरूप का ध्यान तू कब करेगा? परलक्ष्य छोड़कर, निजस्वरूप के ध्यान में लीन हुए बिना तीन काल में किसी को मोक्ष नहीं होगा।—अभी ऐसा मार्ग भी निश्चित न करे, वह उसे साधेगा कब? मार्ग के निर्णय में ही जिसकी भूल हो, वह उसे साध नहीं सकता। यहाँ तो निर्णय के उपरान्त अब पूर्ण समाधि प्राप्त करके जन्म-मरण के अभावरूप सिद्धपद होने की बात है।—यही सच्चा समाधिसुख है। 'सादि अनन्त अनन्त समाधि सुखमें, अनन्त दर्शन ज्ञान अनन्त सहित जो'—ऐसे निजपद की प्राप्ति का अपूर्व अवसर आये-ऐसी यह बात है।●

अहा! अद्‌भुत मुनिदशा

मुनिराज बारम्बार वीतरागतारूप से, जिसमें अनन्तगुणों का वास है ऐसे निज चैतन्यनगर में / अन्तर अतीन्द्रिय आनन्द के धाम में प्रविष्ट होकर अद्‌भुत ऋद्धि को अनुभवते हैं। अहा! अद्‌भुत मुनिदशा!

मुनिराज ने शुभोपयोग से भिन्न होकर अन्तर में आनन्द के नाथ का अनुभव किया है; जो आनन्द की दशा प्रगट हुई, उसे रखते हैं और जो प्रगट नहीं हुई, उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे मुनिराज निर्विकल्पदशा से परिणमित होकर, बाह्य से शून्य होकर अन्तर में प्रवेश करते हैं; वहाँ शून्यता नहीं है। मुनि तो अतीन्द्रिय आनन्द की अद्‌भुतदशा को अनुभवते हैं।

अहा! उन भावलिङ्गी/आनन्द की मस्ती में झूलनेवाले मुनिराज की क्या-क्या बात कहें! वर्तमान में तो उनके दर्शन भी दुर्लभ हो गये हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, पृष्ठ २७४

अरिहन्तदेव के मार्ग में ही मोक्ष का उपाय

अरिहन्तमार्ग में मोक्ष के उपाय का यथार्थ स्वरूप क्या है, वह बतलाया तथा उसके फल में परमपद की प्राप्ति भी बतलायी। अब ऐसा यथार्थ मोक्षमार्ग दूसरे किसी अन्यमत में नहीं होता-यह बात समझाते हैं—

अयत्नसाध्यं निर्वाणं चित्तत्त्वं भूतजं यदि।
अन्यथा योगतस्तस्मान्न दुःखं योगिनां क्वचित्॥१००॥

पञ्चभूत से चेतना, यत्न-साध्य नहीं मोक्ष।
योगी को अतएव नहीं, कहीं कष्ट का योग॥१००॥

अन्वयार्थ :- (**चित्तत्वं**) चेतना लक्षणवाला, यह जीवतत्त्व (**यदि भूतजं**) यदि भूत चतुष्टय से उत्पन्न हुआ हो तो (**निर्वाणं**) मोक्ष (**अयत्नसाध्यं**) यत्न से साधने योग्य नहीं रहे (**अन्यथा**) अथवा (**योगतः**) योग से, अर्थात् शारीरिक योगक्रिया से (**निर्वाणं**) निर्वाण की प्राप्ति हो तो (**तस्मात्**) उससे (**योगिनः**) योगियों को (**क्वचित्**) किसी भी अवस्था में (**दुःखं न**) दुःख नहीं हो।

यह चैतन्यतत्त्व आत्मा स्वतः सिद्ध, शरीर से भिन्न तत्त्व है, वह अविनाशी है। यह चैतन्यतत्त्व 'भूत' अर्थात् पृथ्वी-पानी-अग्नि-वायु आदि से उत्पन्न हुआ हो तो शरीर की उत्पत्ति के साथ उसकी उत्पत्ति, और शरीर के नाश से उसका नाश—ऐसा ही, इसलिए मोक्ष के लिए कोई यत्न करने का न रहे। शरीर के संयोग से आत्मा उत्पन्न होता है और शरीर के वियोग से आत्मा नाश को प्राप्त होता है, शरीर से भिन्न कोई आत्मा ही नहीं—ऐसा नास्तिक लोग मानते हैं। शरीर के छूटने पर आत्मा का भी अभाव हो जायेगा—इस प्रकार

अभाव को वे मोक्ष कहते हैं; इसलिए उनको मोक्ष का प्रयत्न करने का कहाँ रहा? मोक्ष तो परम आनन्दमय दशा है, और वह ज्ञानमय पुरुषार्थ से प्रगट होती है। 'मोक्ष' वह कहीं आत्मा का अभाव नहीं परन्तु मोक्ष, यह तो कर्म के अभाव में आत्मा का पूर्ण शुद्धस्वरूप से विकसित हो जाना है। यदि मोक्ष में आत्मा का अभाव हो तो ऐसे मोक्ष को नास्तिक के सिवा कौन चाहेगा? स्वयं अपने अभाव को कौन चाहेगा? इसलिए नास्तिक मानते हैं तदनुसार आत्मा कहीं पञ्च भूत से उत्पन्न नहीं हुआ, तथा वह मरकर पञ्च भूत में मिल नहीं जाता; वह तो स्वयंसिद्ध अनादि-अनन्त तत्त्व है; और निजस्वरूप में एकाग्रता के प्रयत्न से वह परम आनन्दरूप मोक्षदशा को प्राप्त होता है। मोक्षदशा में सदाकाल उसका अस्तित्व रहता है।

दूसरे कोई ऐसा मानते हैं कि आत्मा तो सर्वथा शुद्ध ही है, पर्याय में भी अशुद्धता नहीं है—तो वह भी भ्रमणा है, और उनको भी मोक्ष का उद्यम नहीं होता। आत्मा में शुद्धता का सामर्थ्य सदाकाल है, परन्तु उसे पहिचानकर उसी में उपयोग को एकाग्र करे, तब वह प्रगट होता है, और ऐसे उपायरूप योग द्वारा मोक्ष होता है। ऐसी मोक्षदशा न प्रगटे, वहाँ तक आत्मा में अशुद्धता है।

इस प्रकार शरीर से भिन्न आत्मतत्त्व की नित्यता, उसकी पर्याय में अशुद्धता तथा प्रयत्न द्वारा उस अशुद्धता का नाश करके मोक्ष की उत्पत्ति, तथा मोक्षदशा में परम आनन्द-सहित आत्मा का नित्य अस्तित्व, यह सर्व प्रकार जाने, तभी मोक्ष का सच्चा उद्यम होता है।

आत्मा और उसकी शुद्ध-अशुद्ध अवस्थाओं के ज्ञान बिना सच्ची समाधि या मोक्षसाधना नहीं हो सकती। देहबुद्धि रखकर अज्ञानी जो समाधि साधना चाहता है, वह तो कल्पना है; आत्मा की चैतन्य समाधि में तो महान अपूर्व आनन्द होता है।

शरीर, वह आत्मा नहीं है; ऐसी भिन्नता जानकर जिसने अपने उपयोग को निजस्वरूप में एकाग्र किया है—ऐसे योगी मुनियों को शरीर के छेदन-भेदनादि उपसर्ग में भी कदापि दुःख नहीं होता। वे तो आनन्दस्वरूप में उपयोग को एकाग्र कर-करके मोक्ष के साधन में तत्पर है। मोक्ष का उद्यम तो आनन्दकारी है, वह कहीं दुःखरूप नहीं। जगत को मोक्ष का उपाय मालूम नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं कि शरीर, आत्मा नहीं है; **'तस्मात् न दुःखं योगिनां क्वचित्'....** शरीर से भिन्न चैतन्यतत्त्व में जहाँ उपयोग को एकाग्र किया, वहाँ निजानन्द के अनुभव में लीन मुनि को शरीर का लक्ष्य नहीं, फिर दुःख कैसा ? इधर उनके शरीर को सिंह, बाध खाते हैं और वे अन्तर में अतीन्द्रिय सुख की कल्लोल करते हैं।

इस प्रकार शरीर से भिन्न आत्मतत्त्व को जानकर अपने निजस्वरूप में उपयोग को एकाग्र करो—ऐसा उपदेश है। निजस्वरूप में उपयोग को एकाग्र करना, वही मोक्षमार्ग है, उसमें सुख है, उसमें समाधि है, उसमें महा आनन्द है; उसमें किञ्चित् दुःख नहीं। ●

मुनिराज की क्रीड़ा और उनका क्रीड़ास्थल

जैसे कोई फूलों की सुगन्ध लेने बाग में जाए और वहाँ उनकी सौरभ में तल्लीन हो जाए, वैसे ही **मुनिराज राग की क्रीड़ा छोड़कर चैतन्य के बाग में खेलते-खेलते कर्म के फल का नाश करते हैं और अतीन्द्रिय आनन्द के फल का वेदन करते हैं, अनुभव करते हैं।** चैतन्य के बाग में क्रीड़ा करनेवाले मुनिराज को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक चारित्र हुआ है, आनन्दादि अनन्त गुण खिल उठे हैं, अन्तर्निमग्नदशा तीव्र प्रगट हुई है। **अहा! मुनिपना बड़ी अद्‌भुत वस्तु है!**

भाई! बाग में हजारों पुष्पवृक्ष होते हैं, उसी प्रकार मुनिराज को भगवान आत्मा के बाग में अनन्त गुण निर्मल पर्यायोंरूप से खिल उठे हैं, क्योंकि चारित्र है ना! मुनिराज आत्म-उद्यान में खेलते-खेलते, लीला करते-करते, किञ्चित दुःख बिना अन्तर में अनन्त आनन्द की धारा में निमग्न रहकर कर्म के फल का नाश करते हैं। वास्तव में तो उस समय कर्मफल उत्पन्न ही नहीं होता, उसे 'नाश करते हैं' – ऐसा कहा जाता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, पृष्ठ २०९

सत् आत्मा को मृत्यु नहीं

देह से भिन्न निजस्वरूप में उपयोग को लगानेवाले मुनियों को कदापि दु:ख नहीं है, यह बात बतलायी, और आत्मा, पृथ्वी आदि से उत्पन्न हुआ पदार्थ नहीं है परन्तु असंयोगी स्वयंसिद्ध वस्तु है—ऐसा बतलाया। अब, मरणपर्यन्त अर्थात् देह का विलय हो जाने पर भी, आत्मा का अस्तित्व बना रहता है—यह बात दृष्टान्त रूप से १०१ वीं गाथा में कहते हैं—

स्वप्ने दृष्टे विनष्टेऽपि न नाशोऽस्ति यथात्मनः।
तथा जागरदृष्टेऽपि विपर्यासाविशेषतः ॥१०१॥

देह-नाश के स्वप्न में, यथा न निज का नाश।
जागृत देह-वियोग में, तथा आत्म अविनाश ॥१०१॥

अन्वयार्थ :- **(स्वप्ने)** स्वप्न की अवस्था में **(दृष्टे विनष्टे अपि)** प्रत्यक्ष देखे जानेवाले शरीरादिक के विनाश होने पर भी, **(यथा)** जिस प्रकार **(आत्मनः)** आत्मा का **(नाशः न अस्ति)** नाश नहीं होता है; **(तथा)** उसी प्रकार **(जागरदृष्टे अपि)** जाग्रत अवस्था में भी दृष्ट शरीरादिक का विनाश होने पर भी, आत्मा का नाश नहीं होता है **(विपर्यासाविशेषतः)** क्योंकि दोनों ही अवस्थाओं में विपरीत प्रतिभास में कोई अन्तर नहीं है।

जैसे किसी ने स्वप्न में देखा कि मेरा नाश हो गया है, मेरा शरीर मिट गया है परन्तु स्वप्न में देखी हुई वह बात सत्य नहीं है, क्योंकि जागृत होते ही अपने को जीवन्त ज्यों का त्यों देखता है। स्वप्न में जो नाश देखा, वह तो विपर्यास और भ्रमणा है किन्तु अज्ञानी, जागृतदशा में भी देह के नाश से अपना नाश मानता है, वास्तव में यह भी स्वप्नदशा की

तरह ही विपर्यास और भ्रमणा है क्योंकि वास्तव में आत्मा का कभी नाश नहीं होता। जैसे जागृत अवस्था में स्वयं जैसा है वैसा ही है वैसे मोहनिद्रा छोड़कर देह से भिन्न चैतन्यदृष्टि से देखे तो आत्मा दूसरे भव में या शरीररहित सिद्ध अवस्था में ज्यों का त्यों नित्य बिराजमान है। देह के संयोग-वियोग से आत्मा की उत्पत्ति-मरण मानना यह भ्रमणा है। आत्मा, देह से भिन्न उपयोग-लक्षणवाला है, देह की उत्पत्ति से आत्मा की उत्पत्ति नहीं, उसी प्रकार देह के वियोग से आत्मा का मरण नहीं होता। आत्मा, जन्म-मरण से रहित सत्स्वरूप है।

आत्मा स्वतन्त्र सत् वस्तु है। सत् का सर्वथा नाश नहीं होता और सर्वथा नवीन उत्पन्न नहीं होता परन्तु सत् सदा सत्‌रूप रहता है और उसकी पर्याय में उत्पाद-व्ययरूप परिवर्तन होते रहते हैं। जैसे-किसी ने स्वप्न में देखा कि मैं मर गया, और जागृत होने पर लोगों से कहे कि भाई! मैं तो मर गया हूँ—तो लोग उसे मूर्ख ही कहेंगे अरे! तू जीता-जागता खड़ा है और कहता है कि मैं मर गया? जैसे स्वप्न की उसकी बात भ्रमणा है; उसी प्रकार देह छूटने से आत्मा का मरण मानना, भ्रमणा है। ज्ञानी कहते हैं कि अरे मूर्ख! चेतनलक्षण आत्मा कभी मरता होगा!! तू आत्मा का नाश मानता है, यह तो देह-बुद्धि के कारण तेरी भ्रमणा ही है। जैसे स्वप्न की बात सत्य नहीं; उसी प्रकार तेरी बात भी सत्य नहीं। आत्मा अपने द्वारा किये हुए परिणामों से स्वर्ग या नरक में जाकर उनका फल प्राप्त करता है और वीतरागता द्वारा मोक्ष प्राप्त होने पर सादि-अनन्त सिद्धदशा में रहकर मोक्ष के परम सुख को भोगता है।

आत्मा, देह से भिन्न अविनाशी तत्त्व है। देह के साथ आत्मा का नाश नहीं होता। जिस प्रकार निद्रा में-स्वप्न में यह देखा कि 'मैं मर गया' लेकिन जब जागा, तब अनुभव करता है कि मैं मरण को प्राप्त नहीं हुआ; जो स्वप्न में था, वही मैं हूँ। इसी प्रकार अज्ञानदशा में भ्रम से देहात्मबुद्धि के कारण, देह के नाश से आत्मा का नाश होना भासित होता है, किन्तु वास्तव में आत्मा नाश को प्राप्त नहीं होता। आत्मा दूसरे शरीर में या सिद्धदशा में ज्यों का त्यों रहता है, अर्थात् आत्मा सत् है, मोक्ष में भी आत्मा सत् है। नास्तिक लोग ऐसा मानते हैं कि मोक्ष में आत्मा का अभाव है।—यदि ऐसा हो तो मोक्ष

की इच्छा कौन करे?—अपने अभाव को कौन चाहे? कोई भी अपने अभाव की इच्छा नहीं रखता। सर्व प्राणी मोक्ष को तो चाहते हैं, क्योंकि उसमें आत्मा सदैव परम शुद्ध आनन्ददशा सहित बिराजमान है। किसी भी अवस्था में आत्मा के अभाव की कल्पना करना, वह मिथ्या है। जैसे स्वप्न में आत्मा का नाश दिखायी देता है, वह मिथ्या है; उसी प्रकार जागृत अवस्था में जो आत्मा का मरण दिखायी देता है, वह अज्ञानी का भ्रम है। दोनों में विपर्यास की समानता है।

इस देह का नाश होने पर भी, आत्मा का अस्तित्व ज्यों का त्यों बना रहता है। ऐसे सत् आत्मा की मुक्ति प्रयत्न द्वारा सिद्ध होती है। जो देह से भिन्न आत्मा का शाश्वतपना जो जानते हैं, उन्हें मरण का भय नहीं रहता। 'हमारा नाश हो जायेगा'—ऐसा भी सन्देह उन्हें नहीं होता। किसी भी परिस्थिति में-देह छूटते समय भी, धर्मी जीव अपने भिन्न अस्तित्व का अनुभव करते हैं और आत्मा की ऐसी भावनासहित देह छोड़ते हैं... देह छोड़ते समय भी उनके समाधि होती है। ●

धन्य वह अद्भुत मुनिदशा!

अहाहा! मुनि किसे कहते हैं? कि जो शीघ्र-शीघ्र निज शुद्धात्मा में डुबकी लगाकर अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन करते हों, वे मुनि हैं। उनकी दशा अद्भुत है, जगत से न्यारी है। मुनि को अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का ज्वार आता है। जिस प्रकार पूर्णमासी के पूर्णचन्द्र के योग से समुद्र में ज्वार आता है; उसी प्रकार मुनिराज को पूर्ण चैतन्यचन्द्र के एकाग्र अवलोकन से आत्मसमुद्र में ज्वार आता है, वैराग्य उमड़ता है, आनन्द उछलता है, सर्व गुण-पर्यायों में यथासम्भव वृद्धि होती है। अहा! मुनिराज का वैराग्य, राग के रसरहित उग्र विरक्तभाव कोई और ही है। धन्य वह मुनिदशा!

पञ्च परमेष्ठी में जिनका स्थान है, उन मुनिराज का अन्तर वैराग्य कोई अद्भुत है। वे स्वरूपानन्द में इतने लीन हुए हैं कि भूमिकानुसार जो महाव्रतादि का शुभराग आता है, वह भी दोष लगता है। यह सूक्ष्म बात है भाई!

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, २/१९८

आत्मभावना का उग्र प्रयत्न

अब कहते हैं कि—प्रयत्नपूर्वक आत्मा के भेदज्ञान की भावना करना चाहिए... असह्य दु:ख और किसी भी प्रतिकूलता में आत्मा की भावना नहीं छोड़ना। आत्मा को भिन्न जानकर अति उग्र प्रयत्नपूर्वक उसकी भावना भाते रहना चाहिए। क्योंकि—

अदु:खभावितं ज्ञानं क्षीयते दु:खसन्निधौ।
तस्माद्यथाबलं दु:खैरात्मानं भावयेन्मुनि: ॥१०२॥

दु:ख-सन्निधि में नहीं टिके, अदु:ख भावित ज्ञान।
दृढ़तर भेद-विज्ञान का, अत: नहीं अवसान ॥१०२॥

अन्वयार्थ :- (**अदु:खभावितं ज्ञानं**) जो ज्ञान अदु:ख-सुख में भाया जाता है, वह (**दु:खसन्निधौ**) उपसर्गादिक दु:खों के उपस्थित होने पर (**क्षीयते**) नष्ट हो जाता है। (**तस्मात्**) इसलिए (**मुनि:**) मुनि को — अन्तरात्मा योगी को (**यथाबलं**) अपनी शक्ति के अनुसार (**दु:खै:**) कायक्लेशादिरूप दु:खों से (**आत्मानं भावयेत्**) आत्मा की शरीरादि से भिन्न भावना करनी चाहिए।

दु:ख बिना भाया हुआ ज्ञान, उपसर्गादि दु:ख के प्रसङ्गों में नष्ट हो जाता है; इसलिए अपनी शक्ति-अनुसार कायक्लेशादिपूर्वक आत्मा की दृढ़ भावना करनी चाहिए। किसी भी प्रतिकूलता में मुमुक्षु को जागृत रहने का यह उपदेश है। जिसने संसार में बाह्य सुखों की अभिलाषा छोड़कर आत्मभावना भायी है, उन्हें कष्टदायक प्रसङ्गों पर भी आत्मा की ऐसी भावना बनी रहेगी और यह भावना, तीव्र वैराग्य का रूप धारण कर लेगी। साताशील या प्रमादी न हो जायें; इसलिए यह जागृति का उपदेश है क्योंकि यदि आत्मा की भावना भूलकर बाह्य सुख-साता में मग्न हो जायें तो ज्ञान का नाश हो जाता है।

आत्मा के श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक ऐसी भावना भाना कि किसी भी प्रतिकूलता में वह उत्तर दे! किसी भी प्रसङ्ग पर वह भेदज्ञान की भावना उपस्थित रहे। जहाँ अन्य कोई उपाय नहीं है, वहाँ अन्तर के भेदज्ञान की भावनासहित सहनशीलता, वह अमोघ उपाय है। जहाँ ज्ञान की भावना जागृत है, वहाँ कोई भी प्रतिकूलता साधक को आत्मभावना से विचलित नहीं कर सकती।

अन्तर के ज्ञानानन्दस्वभाव की ओर उन्मुख होकर ऐसी दृढ़ भावना करनी चाहिए कि समाधि के समय किसी भी प्रकार की प्रतिकूलता के सन्मुख टिका जा सके और मृत्यु-काल में भी आत्मा किसी प्रतिकूलता में दब न जाये; आनन्द की उग्र भावनासहित समाधिमरण हो। जिसने सातापूर्वक मात्र भेदज्ञान की बात की, किन्तु अन्तर्मुख होने का प्रयत्न नहीं किया है, उसे प्रतिकूलता के समय भेदज्ञान की भावना नहीं रहेगी। जिसने आत्मा के आश्रय से अन्तर्मुख होने का प्रयत्न किया है, उसे किसी भी प्रसङ्ग पर आत्मा की भावना रहेगी। अनुकूल संयोगों में जो मग्न है, और अन्तर के अनुभव का प्रयत्न नहीं करता, वह प्रतिकूल संयोगों के समक्ष कैसे टिक सकेगा? उस समय उसका ज्ञान उसे जवाब नहीं देगा।

प्रभो! अपने चैतन्य की संयोग से भिन्न ऐसी भावना भाना कि वह भावना किसी भी प्रतिकूलता में टिक सके। 'देह से आत्मा भिन्न है'—ऐसी साधारण जानकारी में मत रुक जाना, परन्तु अन्तर में प्रयत्न द्वारा आत्मा का अनुभव और उसकी भावना करना।

आत्म-अनुभव से रहित मात्र धारणा तुझे शरणरूप नहीं होगी। अन्तर में भेदज्ञान की भावना से निर्विकल्प आनन्द-रस के पान का ऐसा प्रयत्न करना कि समाधिमरण के समय प्यास से गला सूख जाये और पानी अन्दर न उतरे, तब भी अन्तर के अनुभव से आत्मा तृप्त रहे।

अष्टप्राभृत की ६२ वीं गाथा में भी कष्टसहनपूर्वक आत्मा की भावना करने का उपदेश है—

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि।
तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेदि भावए॥६२॥

सुख से भाने में आया हुआ ज्ञान, दु:ख में नष्ट हो जाता है; अत: यथाशक्ति बलपूर्वक प्रयत्न द्वरा कायक्लेश सहन करके आत्मा का अनुभव करना—ऐसा उपदेश है। आहार-आसन-निद्रा आदि प्रमाद को जीतकर, जिनवर के मत-अनुसार गुरुप्रसाद से आत्मा को जानकर उसे ध्याना।

देहादि से भिन्न आत्मा की भावना करनेवाले मुमुक्षु जीव के अन्तर परिणामों में तीव्र उदासीनता, वैराग्य, प्रतिकूलता में सहनशीलता, धैर्य आदि होते हैं। इससे कहते हैं कि हे जीव! तपश्चरणादि वैराग्यभावनापूर्वक तू ज्ञान को भा। ऐसी भावना भा कि चाहे जैसी प्रतिकूलता में वह छूटे नहीं, अखण्ड आराधना में भङ्ग न पड़े। जो मात्र बाह्य सुखसाता में पड़े हैं और ज्ञान की मात्र बातें करते हैं, उन्हें प्रतिकूलता के समय ज्ञानभावना कहाँ से रहेगी? अज्ञानी तो मरण या प्रतिकूलता के प्रसङ्गों पर भड़क उठते हैं और अपने से भिन्न ज्ञान को भूल जाते हैं। जिसने ज्ञानभावना की, उस ज्ञानी को मरण का भय नहीं होता; प्रतिकूलता में ज्ञानभावना नहीं छूटती। देखो! सुदर्शन सेठ, सीताजी पर कैसे सङ्कट आये, फिर भी वे उन प्रसङ्गों पर अपनी ज्ञानभावना को भूले नहीं थे; जिन्होंने बार-बार आत्मा के अनुभव का प्रयोग किया है और स्वभाव में रहने का प्रयत्न किया है, उन्हें किसी भी अवसर पर ज्ञानभावना जागृत रहती है। इसलिए दु:ख में सहनशीलता के प्रयत्नसहित ज्ञानस्वभाव की भावना करने का उपदेश दिया है।

समयसार में भी कहते हैं कि—हे जीव! तू मरकर भी तत्त्व का जिज्ञासु हो... मरण-समान कष्ट सहन करके भी, देह से भिन्न आत्मा को अनुभव में ले.... अन्तर में उसके अनुभव की अभिलाषा जागृत कर, चैतन्य की रुचि के समक्ष दुनिया की किसी भी प्रतिकूलता को न देख।

मैं आत्मा हूँ, शरीर से पृथक् हूँ—ऐसी सामान्य धारणा की हो, किन्तु जिसने अन्तर में आत्मा की सच्ची रुचि से भेदज्ञान करके उसकी भावना नहीं भायी, उसे जब तक शरीरादि की अनुकूलता हो, तब तक तो ऐसा लगता है कि ज्ञान है परन्तु जहाँ शरीर में कष्ट हो, मरण का अवसर आये या कोई दूसरे निन्दा-अपमान आदि प्रतिकूलता के प्रसङ्ग आयें, तब उसकी धारणा नहीं रहेगी और प्रतिकूलता के वेदन में फँस जायेगा। इसलिए

यहाँ पर ऐसा उपेदश है कि अभी से देहादि के प्रति उदासीनता की भावनापूर्वक तू ज्ञान का अभ्यास कर।

जिसे अनुकूलता का जितना प्रेम होता है, उसे प्रतिकूलता में उतना ही द्वेष हुए बिना नहीं रहता। ज्ञानी तो आत्मा को दोनों से पृथक् जानकर पल-पल उसी की भावना करते हैं। ज्ञान की सच्ची भावना भायी होगी तो वह विशेष प्रसङ्ग पर उपस्थित होगी और आत्मा को समाधि-समाधान-शान्ति प्रदान करेगी। जीवन में जिसने आत्मा की दरकार नहीं की, उसकी भावना नहीं की और कहे कि मैं मरण समय समाधि रखूँगा, तो वह समाधि कहाँ से रखेगा? जैसे किसी ने अपने जीवन में बन्दूक हाथ में न ली हो और न निशाना लगाना जानता हो, वह लड़ाई में दुश्मन के समक्ष किस प्रकार खड़ा रहेगा? जिन्दगी में अभ्यास किया होगा, उसे समय पर काम आयेगा। इसलिए हे भाई! प्रमाद छोड़कर दृढ़ वैराग्यपूर्वक आत्मा की भावना भा!

जिस प्रकार दीक्षा के समय संसार-भोगों को तुच्छ जानकर अत्यन्त वैराग्य पैदा होता है; उसी प्रकार किसी तीव्र रोग या मृत्यु की सम्भावना के प्रसङ्ग पर जागृत हुई उत्तम भावना का स्मरण करके विशुद्धभाव से उत्तम बोध का सेवन करना... ऐसी दृढ़ भावना करना कि केवलज्ञान तक अखण्ड रहे। अरे जीव! भेदज्ञान करके अपने ज्ञान को अन्तर्मुख करना... बारम्बार ज्ञान को अन्तर में एकाग्र करने का अभ्यास करना! रोम-रोम में अर्थात् आत्मा के प्रदेश-प्रदेश में ज्ञान का परिणाम हो जाये—ऐसा दृढ़ अभ्यास करना... विषयों के ओर की प्रवृत्ति छोड़कर चैतन्य का रस इतना बढ़ाना कि स्वप्न में भी, अथवा प्राण जायें तो भी शिथिलता न आये और ज्ञान, धारावाहीरूप से टिका रहे—ऐसे दृढ़ ज्ञानभाव का उपदेश है। ●

देह और आत्मा का अत्यन्त भेदज्ञान करके चैतन्य में एकाग्रता द्वारा परम पद को पाओ

आत्मा और शरीर के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण अनेकबार जीवों को इच्छानुसार देहादि क्रिया होती देखकर ऐसा भ्रम न करना चाहिए कि आत्मा के कारण शरीर का यन्त्र चलता है! परन्तु आत्मा को देह से भिन्न ही जानना चाहिए। आत्मा में देह का आरोप नहीं करना चाहिए। देह से भिन्न आत्मा की भावना करके एकाग्र होना चाहिए—जिससे परमपद की प्राप्ति हो—ऐसा दो गाथाओं में कहते हैं।

प्रयत्नादात्मनो वायुरिच्छाद्वेषप्रवर्तितात्।
वायोः शरीरयंत्राणि वर्तन्ते स्वेषु कर्मसु॥१०३॥

तान्यात्मनि समारोप्य साक्षाण्यास्तेऽसुखं जडः।
त्यक्त्वाऽरोपं पुनर्विद्वान प्राप्नोति परमं पदम्॥१०४॥

राग-द्वेष के यत्न से, हो वायु सञ्चार।
वायु है तनयन्त्र की, सञ्चालन आधार॥१०३॥

मूढ़ अक्षमय आत्म गिन, भोगे दुःख सन्ताप।
सुधी तजे यह मान्यता, पावे शिवपद आप॥१०४॥

अन्वयार्थ :-(**आत्मनः**) आत्मा के (**इच्छाद्वेषप्रवर्तितात् प्रयत्नात्**) राग और द्वेष की प्रवृत्ति से होनेवाले प्रयत्न से (**वायुः**) वायु उत्पन्न होती है-वायु का संचार होता है, (**वायोः**) वायु के संचार से (**शरीरयंत्राणि**) शरीररूपी यन्त्र, (**स्वेषु कर्मसु**) अपने-अपने कार्य करने में (**वर्तन्ते**) प्रवृत्त होते हैं।

(जड़) मूर्ख / बहिरात्मा **(साक्षाणि)** इन्द्रियों सहित **(तानि)** उन औदारिकादि शरीरयन्त्रों को **(आत्मनि समारोप्य)** आत्मा में आरोपण करके 'मैं गोरा हूँ, मैं सुलोचन हूँ' इत्यादिरूप से उनकी आत्मत्व की कल्पना करके **(असुखं आस्ते)** दुःख भोगता रहता है, **(पुनः)** किन्तु **(विद्वान)** ज्ञानी/अन्तरात्मा **(आरोपं त्यक्त्वा)** शरीरादिक में आत्मा की कल्पना को छोड़कर **(परमं पदं)** परमपदरूप मोक्ष को **(प्राप्नोति)** प्राप्त कर लेता है।

आत्मा में राग-द्वेषरूप इच्छा का प्रयत्न होने पर, उसके निमित्त से एक तरह की वायु शरीर में उत्पन्न होती है और उस वायु के सञ्चार से शरीररूपी यन्त्र अपने कार्य में प्रवर्तता है। वहाँ उस देह के कार्यों में आत्मा का आरोप करके अज्ञानी उसे आत्मा ही की क्रिया मानता है... परन्तु यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि देह की क्रिया में आत्मा का आरोप करना, वह तो मूर्ख-बहिरात्मा का कार्य है। ज्ञानी तो शरीर की क्रिया में आत्मा की कल्पना छोड़कर, देह से भिन्न चिदानन्दस्वरूप आत्मा की भावना भाकर परमपद को प्राप्त होता है। शरीर और इन्द्रियों की क्रिया मानों मैं ही करता हूँ—इस प्रकार अज्ञानी जीव, भ्रम से जड़ की क्रियाओं को आत्मा की ही क्रियाएँ मानता है; अतः वह जड़बुद्धि बहिरात्मा इन्द्रिय-विषयों के जाल में ही फँसा रहता है, और दुःखी होता है। देह की क्रिया में राग-द्वेष करता हुआ दुःखी होता है और चैतन्य में स्थिरता नहीं करता। ज्ञानी-विवेकी-अन्तरात्मा तो शरीर और इन्द्रियों की क्रिया से अपने को स्पष्ट भिन्न जानकर, चैतन्यस्वरूप आत्मा की भावना में एकाग्र होकर परमपद को प्राप्त होता है - महान सुख को प्राप्त करता है।

अज्ञानी, पर विषयों से अपने को सुख-दुःख मानकर उन्हीं में लीन रहता है। ज्ञानी तो जानता है कि सर्व द्रव्य दूसरे से असहाय हैं, कोई किसी को राग-द्वेष में प्रेरित नहीं करता। छहों द्रव्य सदा अपने-अपने स्वरूप में प्रवर्तन कर रहे हैं।

जीव की इच्छा हो और गमन करे, तब वहाँ शरीर भी साथ चलता है, जीव की इच्छा हो, भाषा भी कई बार वैसी ही निकले—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है परन्तु दोनों की क्रिया भिन्न है, दोनों के लक्षण भिन्न हैं। ऐसा नहीं जाननेवाला अज्ञानी 'मैं ही शरीर

को चलाता हूँ—मैं ही भाषा बोलता हूँ' इस प्रकार देह में अपना आरोप करता है, और इसलिए देह सम्बन्धी विषयों में वह सुख मानता है, परन्तु भिन्न आत्मा को जाननेवाला ज्ञानी तो उस आरोप को झूठा समझकर, देह से भिन्न अन्तरात्मा को अनुभवता है और आत्मा में देह का आरोप छोड़कर, परम पद को प्राप्त करता है।

इस प्रकार भेदज्ञान द्वारा भिन्न लक्षण की पहिचानपूर्वक शरीर और आत्मा का एक-दूसरे में आरोप छोड़कर, और निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का भी लक्ष्य छोड़कर; देह से भिन्न आत्मा के अनुभव में एकाग्रता करना, वही आनन्दमय परमात्मपद की प्राप्ति का उपाय है, वही समाधि है।●

अहो! जगत का महाभाग्य

अहो! कुन्दकुन्दाचार्यदेव की क्या बात करें! कुन्दकुन्दाचार्यदेव तो भगवान कहलाते हैं! उनका वचन अर्थात् केवली का वचन। अन्तर में अध्यात्म का स्रोत उमड़ रहा था, एकदम केवलज्ञान की तैयारी थी; वीतरागभाव से अन्तर में स्थिर होते-होते फिर छद्मस्थदशा में रह गये और विकल्प उठने से महान शास्त्रों की रचना हो गयी। इतना जगत का महाभाग्य था कि उनके द्वारा इन समयसार, प्रवचनसार जैसे महान परमागमों की रचना हो गई। इस समय तो वैसी शक्ति यहाँ नहीं है। सौराष्ट्र का भी महाभाग्य है कि गुजराती भाषा में वे शास्त्र प्रकाशित हो गये हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भेदविज्ञानसार, पृष्ठ १७२-१७३

शास्त्र के फल में परमसुख की प्राप्ति

परमात्म पद की प्राप्ति का मार्ग बतानेवाले इस समाधितन्त्र को जानकर परमात्मनिष्ठ जीव, परम सुख को पाता है–ऐसा अन्तिम श्लोक में शास्त्र का फल बताकर अन्त मङ्गल करते हैं:—

मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहंधियं च,
संसार-दुःखजननीं जननाद्विमुक्तः।
ज्योतिर्मयं सुखमुपैति परात्मनिष्ठ-
स्तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधितंत्रम्॥१०५॥

करे समाधितन्त्र का, आत्मनिष्ठ हो ध्यान।
अहंकार-ममकार तज, जगे शान्ति सुख ज्ञान॥१०५॥

अन्वयार्थ :-(**तन्मार्ग**) उस परमपद की प्राप्ति का उपाय बतलानेवाले (**एतत् समाधितंत्रम्**) इस समाधितन्त्र नामक शास्त्र का (**अधिगम्य**) अध्ययन करके — अनुभव करके (**परात्मनिष्ठः**) परमात्मा की भावना में स्थिर चित्त हुआ अन्तरात्मा (**संसारदुःखजननीं**) चतुर्गतिरूप संसार के दुःखों को उत्पन्न करनेवाली, (**परत्र**) शरीरादिक परपदार्थों में (**अहं धियं परबुद्धिं च**) जो अहंबुद्धि तथा परबुद्धि को (पर, वह मैं हूँ - ऐसी बुद्धि को) (**मुक्त्वा**) छोड़कर, (**जननाद्विमुक्तः**) संसार से मुक्त होता हुआ, (**ज्योतिर्मयं**) ज्ञानात्मक सुख को (**उपैति**) प्राप्त कर लेता है।

भेदज्ञान द्वारा जिसकी प्राप्ति होती है—ऐसे परमपद की प्राप्ति का मार्ग यह समाधितन्त्र बतलाता है। जिससे समाधि, अर्थात् परमसुख प्राप्त हो—ऐसा उपदेश इस समाधितन्त्र में है। उसको जानकर क्या करना? तो कहते हैं कि संसार-दुःख की जननी ऐसी जो स्व-

पर में एकत्वबुद्धि है, उसको छोड़ना और उत्कृष्ट आत्मस्वरूप में स्थिर होना। देह में आत्मबुद्धि और आत्मा में देहबुद्धि—ऐसी जो स्व-पर की एकत्वबुद्धि है, वह संसार के दुःख की जननी है। मिथ्याबुद्धि ही संसार का मूल है। इस शास्त्र के उपदेशानुसार, उस मिथ्याबुद्धि को छोड़कर, देह से भिन्न आत्मा को जानकर, उसमें जो स्थिर होता है, वह अन्तरात्मा इस संसार के जन्म-मरण से मुक्त होकर, परम केवलज्ञानज्योतिमय सुख को पाता है। ऐसा इस शास्त्र का उत्तम फल है—वही मङ्गल है।

'केवलज्ञान तथा मोक्षसुख के अभिलाषी जीवों के लिये मैं इस शास्त्र में भिन्न आत्मा का स्वरूप कहूँगा'—ऐसा कहकर शुरुआत की थी, तदनुसार पूज्यपादस्वामी ने बहुत प्रकार से भेदज्ञान कराकर आत्मा का स्वरूप बतलाया और बारम्बार उसकी भावना करायी। ऐसी भावना के फल में मुमुक्षु जीव, परमज्ञान और सुखमय परमात्मदशा को प्राप्त करता है।

'समाधितन्त्र' अर्थात् चैतन्यस्वरूप में एकाग्रता द्वारा परम उदासीनता का उपदेश। अनेक प्रकार के दृष्टान्तादि द्वारा स्पष्ट करके देह और आत्मा की अत्यन्त भिन्नता बतायी है—ऐसी भिन्नता जानकर, देहबुद्धि छोड़कर, परम आत्मस्वरूप में जो स्थिर होता है, वह परमसुख को अनुभवता है। देखो! ऐसा भेदज्ञान करके स्वरूप में स्थिर रहना, वह शास्त्र पढ़ने का फल है। ऐसा जिसने किया है, उसी ने वास्तव में शास्त्र पढ़ा है। अपने में भाव प्रगट किये बिना मात्र पढ़ जाने से ही शास्त्र का फल नहीं आता। शास्त्र का फल तो परम वीतरागता और सुख है। उसे हे जीवो! तुम प्राप्त करो।

समयसार के अन्त में उत्तम फल बताते हुए श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि—

जो समयपाहुडमिणं पठिहूणं अत्थतच्चओ णाउं।
अत्थे ठाही चेया सो होही उत्तमं सोक्खं॥

इस समयप्राभृत को पढ़कर तथा इसके अर्थरूप परम आनन्दमय शुद्धात्मतत्त्व को जानकर, जो उसमें स्थिर होगा, वह जीव स्वयं उत्तम सुखरूप से परिणमित होगा।

आत्मस्वरूप में स्थिर होने पर, परमसुख की अनुभूति होती है-यही सर्व शास्त्रों का सार है। यहाँ भी आत्मस्वरूप में स्थिरता से सुख होता है—ऐसा इस शास्त्र का फल बताकर मङ्गलपूर्वक शास्त्र पूर्ण होता है।

इस शास्त्र के कर्ता श्री पूज्यपादस्वामी महासमर्थ दिगम्बर सन्त थे। वे विक्रम संवत् की छठवीं शताब्दी में (आज से लगभग १५०० वर्ष पूर्व) इस भारतभूमि को शोभायमान करते थे। अपनी अगाध बुद्धि के कारण वे 'जिनेन्द्रबुद्धि' ऐसे नाम से भी लोक में प्रसिद्ध थे। उनका मूल नाम 'देवनन्दि' था और देवों द्वारा भी उनके चारण (पाद) पूजित (पूज्य-पाद) थे। 'श्रवणबेलगोल' के पहाड़ पर उनकी महिमा सम्बन्धी अनेक शिलालेख हैं। 'तत्वार्थसूत्र' की सबसे प्रसिद्ध 'सर्वार्थसिद्धि' नामक महान टीका भी उन्हीं ने रची है। तदुपरान्त 'जैनेन्द्र व्याकरण' नामक महान शब्दशास्त्र भी उन्हीं ने रचा है। इसलिए 'शब्दाब्धीन्दु...' अर्थात् शब्दरूप समुद्र को उछालने में चन्द्रसमान-ऐसा विशेषण देकर श्री पद्मप्रभ मुनिराज ने 'नियमसार' की टीका के मङ्गलाचरण में उनको वन्दन किया है। 'आदिपुराण' में जिनसेनस्वामी ने तथा ज्ञानार्णव में शुभचन्द्राचार्य ने भी उनका स्मरण करके नमस्कार किया है। उन्होंने 'इष्टोपदेश' नामक शास्त्र भी रचा है। उनके द्वारा रचित 'सिद्धभक्ति' - जो कि मात्र नौ श्लोक की है, वह भी बहुत गम्भीर अर्थों से भरपूर है; और सिद्ध का सुख आदि का स्वरूप तथा सिद्धि की प्राप्ति का मार्ग सुन्दर शैली से बताया है, यह उनके संक्षेप में गागर में सागर भर देने की अगाध शक्ति को सूचित करता है। तदुपरान्त उनको अनेक ऋद्धि-लब्धियाँ होने का भी माना जाता है। ऐसे समर्थ अध्यात्म-मस्त सन्त द्वारा यह समाधि-शतक रचा गया है। श्री प्रभाचन्द्र स्वामी ने इसकी संस्कृत में सुगम टीका की है। शास्त्र में बराबर भेदज्ञान की भावना घूंटी है, और आत्मा को समाधि-सुख हो, ऐसा उपदेश दिया है।

इस शास्त्र पर ज्येष्ठ कृष्णा प्रतिपदा से प्रारम्भ हुए प्रवचन आज श्रावण शुक्ला पूर्णिमा (वीर संवत् २४८२) वात्सल्य दिन को पूर्ण होते हैं। ये भव्य जीवों को आत्मिक-सुखरूप परम समाधि प्रदान करें।

जिनके भक्ति प्रसाद से, पूर्ण हुआ व्याख्यान,
सबके उर मन्दिर वसो, पूज्यपाद भगवान।
पढ़ो सुनो सब ग्रंथ यह, सेवो अति हित-मान,
आत्म-समुन्नति बीज जो, करो जगत कल्याण॥

लेखक की प्रशस्ति :

पूज्य श्री कानजीस्वामी ने वीर संवत् २४९२ में समाधिशतक पर प्रवचन किये थे। उन्हें सुनते समय मानो कोई उपशान्त अध्यात्मरस का झरना बहता हो... ऐसी शान्ति होती थी...। अत्यन्त सुगम शैली, बारम्बार अन्तर्मुखी आत्मभावना का घोलन, वैराग्यपूर्ण अति शान्त मधुर भाव, इन सबसे भरपूर प्रवचन, उसी क्षण संसार के सर्व संक्लेशों को शमन करके अन्तर में चैतन्यशान्ति के मधुर वातावरण में ले जाते थे। ऐसे अत्यन्त वैराग्यरस संयुक्त आत्माभिमुखी प्रवचन सर्व जिज्ञासुओं को महान उपकारी होने से उनका सारभूत संकलन 'आत्मधर्म' में वीर संवत् २४८३ से २४९४ के ११ वर्ष दौरान प्रकाशित किया गया था। समस्त जिज्ञासुओं को वह अत्यन्त रुचिकर हुआ और पुस्तकरूप से प्रकाशित करने की माँग आयी। इस कारण विशेष संशोधनपूर्वक उन समस्त प्रवचनों को इस **आत्मभावना** पुस्तकरूप से प्रकाशित किया गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने वीतरागी सन्तों का हृदय खोल-खोलकर आत्मिक रस का सिंचन कर-करके, इन प्रवचनों द्वारा समाधि के हेतुभूत-ऐसा परम आत्मज्ञान समझाया है; बहिरात्मभाव छुड़ाकर अपूर्व अन्तरात्मभाव जागृत कराया है.... ऐसे बोधिसमाधिदातार पूज्य गुरुदेव के मंगल चरणों में नमस्कार हो।

—ब्रह्मचारी हरिलाल जैन